अथ त्रयोदशोऽध्यायः

(१) ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तच्चीलं महो धावति॥

(२) प्रथममध्यमषट्कयोस्तत्त्वंपदार्थावुक्तावुत्तरस्तु षट्को वाक्यार्थनिष्ठः सम्यग्धीप्रधानोऽधुनाऽऽरभ्यते। तत्र—

'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि॥'

इति प्रागुक्तम्। न चाऽऽत्मज्ञानलक्षणान्मृत्योरात्मज्ञानं विनोद्धरणं संभवति। अतो यादृशेनाऽऽत्मज्ञानेन मृत्युसंसारनिवृत्तिर्येन च तत्त्वज्ञानेन युक्ता अद्वेष्टृत्वादिगुणशालिनः संन्यासिनः प्राग्व्याख्यातास्तदात्मतत्त्वज्ञानं वक्तव्यम्। तच्चाद्वितीयेन परमात्मना सह जीवस्याभेदमेव विषयीकरोति। तद्भेदभ्रमहेतुकत्वात्सर्वानर्थस्य।

(३) तत्र जीवानां संसारिणां प्रतिक्षेत्रं भिन्नानामसंसारिणैकेन परमात्मना कथमभेदः स्यादित्याशङ्कायां संसारस्य भिन्नत्वस्य चाविद्याकल्पितानात्मधर्मत्वान्न जीवस्य संसारित्वं भिन्नत्वं चेति वचनीयम्। तदर्थं देहेन्द्रियान्तःकरणेभ्यः क्षेत्रेभ्यो विवेकेन क्षेत्रज्ञः पुरुषो जीवः प्रतिक्षेत्रमेक एव निर्विकार इति प्रतिपादनाय क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकः क्रियतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र ये द्वे प्रकृती

[क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग]

(१) योगी लोग ध्यानाभ्यासके द्वारा वशमें किये हुए मनसे यदि किसी श्रेष्ठ और निष्क्रिय ज्योतिका साक्षात्कार करते हैं तो वे भले ही करें। हमारे तो नेत्रोंको चमत्कृत करनेके लिये चिरकालतक वही रहे जो कोई एक श्याम तेज यमुनाजीकी रेतीमें इधर-उधर दौड़ लगा रहा है।

(२) पहले और बीचके छः-छः अध्यायोंसे 'तत्' और 'त्वं' पदके अर्थोंका निरूपण किया गया है। अब आगेका षट्क, जो वाक्यार्थनिष्ठ और सम्यग्ज्ञानप्रधान है, आरम्भ किया जाता है। इस विषयमें यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि मैं उनका संसार-सागरसे उद्धार करनेवाला हो जाता हूँ। आत्माके अज्ञानरूप मृत्युसे आत्मज्ञानके बिना उद्धार होना सम्भव भी नहीं है। अतः जिस प्रकारके आत्मज्ञानसे मृत्युरूप संसारकी निवृत्ति होती है और जिस तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न हुए अद्वेष्टृत्वादि गुणोंवाले संन्यासियोंका पहले निरूपण किया जा चुका है उस आत्मज्ञानका वर्णन करता है। और वह तो अद्वितीय परमात्माके साथ जीवके अभेदको ही विषय करता है, क्योंकि सारा अनर्थ उनके भेदभ्रमके कारण ही है।

(३) सो ऐसी आशंका होनेपर कि प्रत्येक क्षेत्रमें भिन्न संसारी जीवोंका असंसारी और एक परमात्माके साथ किस प्रकार अभेद हो सकता है यही कहना चाहिये कि संसार और भिन्नत्व तो अविद्याकल्पित अनात्मधर्म है, इसलिये वस्तुतः जीवका संसारित्व और भिन्नत्व नहीं है। इसके लिये देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप क्षेत्रोंसे विवेक करके प्रत्येक क्षेत्रमें क्षेत्रज्ञ पुरुष—जीव एक और निर्विकार ही है—यह प्रतिपादन करनेके

भूम्यादिक्षेत्ररूपतया जीवरूपक्षेत्रज्ञतया चापरपरशब्दवाच्ये सप्तमाध्याये सूचिते तद्विवेकेन तत्त्वं निरूपयिष्यन्—

श्रीभगवानुवाच—
इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

(१) इदमिन्द्रियान्तःकरणसहितं भोगायतनं शरीरं हे कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते सस्यस्येवास्मिन्नसकृत्कर्मणः फलस्य निर्वृत्तेः। एतद्यो वेत्ति अहं ममेत्यभिमन्यते तं क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः कृषीवलवत्तत्फलभोक्तृत्वात्। तद्विदः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेकविदः। अत्र चाभिधीयत इति कर्मणि प्रयोगेण क्षेत्रस्य जडत्वात्कर्मत्वं क्षेत्रज्ञशब्दे च द्वितीयां विनैवेतिशब्दमाहरन्स्वप्रकाशत्वात्कर्मत्वाभावमभिप्रैति। तत्रापि क्षेत्रं यैः कैश्चिदप्यभिधीयते न तत्र कर्तृगतविशेषापेक्षा। क्षेत्रज्ञं तु कर्मत्वमन्तरेणैव विवेकिन एवाऽऽहुः स्थूलदृशामगोचरत्वादिति कथयितुं विलक्षणवचनव्यक्त्यैकत्र कर्तृपदोपादानेन च निर्दिशति भगवान्॥ १॥

(२) एवं देहेन्द्रियादिविलक्षणं स्वप्रकाशं क्षेत्रज्ञमभिधाय तस्य पारमार्थिकं तत्त्वमसंसारिपरमात्मनैक्यमाह—

उद्देश्यसे इस अध्यायमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेक किया जाता है। सो सातवें अध्यायमें अपर और पर शब्दसे कही जानेवाली जो भूमि आदि क्षेत्ररूपसे और जीवरूप क्षेत्रज्ञरूपसे दो प्रकृतियाँ कही गयी हैं उनके विवेकद्वारा तत्त्वका निरूपण करनेके लिये—

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान्‌ने कहा—कुन्तिनन्दन! यह शरीर 'क्षेत्र' इस नामसे कहा जाता है और जो इसे जानता है उसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद जाननेवाले पुरुष 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं॥ १॥]

(१) [श्रीभगवान्‌ने कहा—] हे कुन्तिनन्दन! यह इन्द्रिय और अन्तःकरणके सहित भोगका स्थानरूप शरीर 'क्षेत्र' कहा जाता है, क्योंकि अनाजकी खेतीके समान इसमें निरन्तर कर्मके फलकी प्राप्ति होती रहती है। इसे जो जानता है—जो इसमें 'मैं' या 'मेरा' ऐसा अभिमान करता है उसे तद्विद्—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद जाननेवाले, किसानके समान इसके फलोंका भोक्ता होनेके कारण, 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। यहाँ 'अभिधीयते' ऐसा कर्मवाच्य प्रयोग होनेसे क्षेत्रमें जडत्व होनेके कारण कर्मत्व है तथा 'क्षेत्रज्ञ' शब्दके साथ बिना द्वितीयाके ही 'इति' शब्दका प्रयोग करनेसे स्वप्रकाश होनेके कारण उसमें कर्मत्वका अभाव अभिप्रेत है। इसपर भी क्षेत्रका तो किन्हीं भी पुरुषों द्वारा निरूपण किया जा सकता है उसके लिये किसी कर्तृगत विशेषताकी अपेक्षा नहीं है। किन्तु क्षेत्रज्ञका वर्णन कर्मत्वके बिना केवल विवेकी लोग ही करते हैं, क्योंकि स्थूल-दृष्टि पुरुषोंका वह विषय नहीं है। यह कहनेके लिये ही भिन्न प्रकारकी वचनभङ्गीसे एक स्थानमें कर्तृपदको ग्रहण करते हुए भगवान् इनका निर्देश करते हैं॥ १॥

(२) इस प्रकार देह और इन्द्रिय आदिसे विलक्षण स्वप्रकाश क्षेत्रज्ञका उल्लेख कर उसके पारमार्थिक स्वरूपको लेकर परमात्माके साथ उसकी एकताका निरूपण करते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

(१) सर्वक्षेत्रेषु य एकः क्षेत्रज्ञः स्वप्रकाशचैतन्यरूपो नित्यो विभुश्च तमविद्याध्यारोपित-कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसारधर्मं क्षेत्रज्ञमाविद्यकरूपपरित्यागेन मामीश्वरमसंसारिणमद्वितीयब्रह्मानन्दरूपं विद्धि जानीहि हे भारत । एवं च क्षेत्रं मायाकल्पितं मिथ्या । क्षेत्रज्ञश्च परमार्थसत्यस्तद्भ्रमाधिष्ठान-मिति क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यज्ज्ञानं तदेव मोक्षसाधनत्वाज्ज्ञानमविद्याविरोधिप्रकाशरूपं मम मतमन्यत्त्वज्ञानमेव तद्विरोधित्वादित्यभिप्रायः ।

(२) अत्र जीवेश्वरयोराविद्यको भेदः पारमार्थिकस्त्वभेद इत्यत्र युक्तयो भाष्यकृद्भिर्वर्णिताः । अस्माभिस्तु ग्रन्थविस्तरभयात्प्रागेव बहुधोक्तत्वाच्च नोपन्यस्ताः ॥ २ ॥

(३) संक्षेपेणोक्तमर्थं विवरीतुमारभते—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

(४) तदिदं शरीरमिति प्रागुक्तं जडवर्गरूपं क्षेत्रं यच्च स्वरूपेण जडदृश्यपरिच्छिन्नादिस्वभावं यादृक्चेच्छादिधर्मकं यद्विकारि यैरिन्द्रियादिविकारैर्युक्तम् । यतश्च कारणाद्यत्कार्यमुत्पद्यत इति शेषः । अथ वा यतः प्रकृतिपुरुषसंयोगाद्भवति । यदिति यैः स्थावरजङ्गमादिभेदैर्भिन्नमित्यर्थः । अत्रानियमेन

[श्लोकार्थः—भरतनन्दन ! समस्त क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ तुम मुझे जानो । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है वही ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है ॥ २ ॥]

(१) हे भारत ! समस्त क्षेत्रोंमें जो एक स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप नित्य और विभु क्षेत्रज्ञ है उस अविद्याद्वारा आरोपित कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सांसारिक धर्मोंवाले क्षेत्रज्ञको आविद्यकरूपके परित्यागद्वारा तुम मैं जो असंसारी अद्वितीय एवं ब्रह्मानन्दरूप हूँ वह समझो । इस प्रकार क्षेत्र तो मायाकल्पित और मिथ्या है तथा क्षेत्रज्ञ परमार्थ सत्य और उस भ्रमका अधिष्ठान है—इस प्रकारका जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान है वही मोक्षका साधन होनेके कारण अविद्याका विरोधी प्रकाशरूप ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है, और तो उसका विरोधी होनेके कारण अज्ञान ही है—यह इसका अभिप्राय है ।

(२) यहाँ जीव और ईश्वरका अविद्याके कारण भेद और परमार्थतः अभेद है—इस विषयमें भगवान् भाष्यकारने बहुत सी युक्तियाँ दी हैं । हमने तो ग्रन्थके विस्तारभयसे तथा पहले ही अनेक प्रकारसे कह चुकनेके कारण यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया ॥ २ ॥

(३) संक्षेपसे उक्त अर्थका विस्तार करनेके लिये आरम्भ करते हैं—

[श्लोकार्थः—वह क्षेत्र जो कुछ है, जैसा है, जैसे विकारवाला है, और जिससे जो होता है तथा वह जैसे स्वरूप और जैसे प्रभाववाला है वह संक्षेपमें मुझसे सुनो ॥ ३ ॥]

(४) वह यह 'शरीर' इस प्रकार पहले कहा हुआ जडवर्गरूप क्षेत्रस्वरूपसे जो कुछ जड़ दृश्य और परिच्छिन्नादि स्वभाववाला है, जैसा भी इच्छादि धर्मोंवाला है, यद्विकारी—जिन इन्द्रियादि विकारोंसे युक्त है और जिस कारणसे जिस कार्यरूपसे 'उत्पन्न होता है'—इतना यहाँ अध्याहार करना चाहिये । अथवा जिस प्रकृति और पुरुषके संयोगसे होता है और जो अर्थात् जिन स्थावर-जंगमादि भेदोंसे भिन्न होता है ।

चकारप्रयोगात्सर्वसमुच्चयो द्रष्टव्यः । स च क्षेत्रज्ञो यः स्वरूपतः स्वप्रकाशचैतन्यानन्दस्वभावः । यत्प्रभावश्च ये प्रभावा उपाधिकृताः शक्तयो यस्य तत्क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं सर्वविशेषणविशिष्टं समासेन संक्षेपेण मे मम वचनाच्छृणु श्रुत्वाऽवधारयेत्यर्थः ॥ ३ ॥

(१) कैर्विस्तरेणोक्तस्यायं संक्षेप इत्यपेक्षायां श्रोतृबुद्धिप्ररोचनार्थं स्तुवन्नाह—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

(२) ऋषिभिर्वसिष्ठादिभिर्योगशास्त्रेषु धारणाध्यानविषयत्वेन बहुधा गीतं निरूपितम् । एतेन योगशास्त्रप्रतिपाद्यत्वमुक्तम् । विविधैर्नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मादिविषयैश्छन्दोभिर्ऋगादिमन्त्रै-र्ब्राह्मणैश्च पृथग्विवेकतो गीतम् । एतेन कर्मकाण्डप्रतिपाद्यत्वमुक्तम् । ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव ब्रह्म सूच्यते सूच्यते किंचिद्व्यवधानेन प्रतिपाद्यत एभिरिति ब्रह्मसूत्राणि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।' इत्यादीनि तटस्थलक्षणपराण्युपनिषद्वाक्यानि तथा पद्यते ब्रह्म साक्षात्प्रतिपाद्यत एभिरिति पदानि स्वरूपलक्षणपराणि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादीनि तैर्ब्रह्मसूत्रैः पदैश्च हेतुमद्भिः । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्ष आहुरस-

यहाँ बिना नियमके 'च' शब्दोंका प्रयोग होनेसे इन सबका समुच्चय समझना चाहिये । वह क्षेत्रज्ञ स्वरूपतः जो कुछ है अर्थात् जो स्वप्रकाश चैतन्यानन्दस्वभाववाला है और यत्प्रभाव अर्थात् उसके उपाधिके कारण जो कुछ प्रभाव—शक्तियाँ हैं वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका समस्त विशेषणोंसे युक्त वास्तविक स्वरूप समाससे—संक्षेपसे मुझसे—मेरे वचनद्वारा सुनो अर्थात् सुनकर निश्चय करो ॥ ३ ॥

(१) यह संक्षेप किनके द्वारा विस्तारसे वर्णन किये हुए प्रसंगका है—ऐसा प्रश्न होनेपर श्रोताओंकी बुद्धिमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये उसकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

[श्लोकार्थः—ऋषियोंने इसका अनेक प्रकारसे निरूपण किया है, ऋगादि अनेकों मन्त्र और ब्राह्मणोंने भी इसका विवेक करके वर्णन किया है, तथा ब्रह्मको तटस्थरूपसे सूचित करनेवाले और उसका साक्षात् प्रतिपादन करनेवाले युक्तियुक्त एवं निश्चयात्मक उपनिषद्वाक्योंने भी इसका निरूपण किया है ॥ ४ ॥]

(२) वसिष्ठादि ऋषियोंने योगशास्त्रोंमें धारणा और ध्यानके विषयरूपसे इसका अनेक प्रकारसे गान—निरूपण किया है । इससे इसकी योगशास्त्रप्रतिपाद्यता कही गयी है । विविध अर्थात् नित्य-नैमित्तिक और काम्य-कर्मादिविषयक छन्दों—ऋगादि मन्त्रों तथा ब्राह्मणोंद्वारा इसका पृथक्—विवेकरूपसे गान किया गया है । इससे इसकी कर्म-काण्ड प्रतिपाद्यता कही गयी है । ब्रह्मसूत्रपदों द्वारा—जिनके द्वारा ब्रह्म सूत्रित—सूचित—कुछ व्यवधानपूर्वक प्रतिपादित हो वे 'ब्रह्मसूत्र' हैं; अर्थात् ब्रह्मके तटस्थ लक्षणका प्रतिपादन करनेवाले 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'[1] इत्यादि उपनिषद्वाक्य, तथा जिनके द्वारा ब्रह्म 'पद्यते'—साक्षात् प्रतिपादित हो वे 'पद' हैं, अर्थात् स्वरूपलक्षणपरक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[2] इत्यादि उपनिषद्वाक्य उन हेतुयुक्त

१. जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और जिसमें जाते हुए लीन हो जाते हैं ।'

२. ब्रह्म सत्य ज्ञानरूप और अनन्त है ।

देवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेत' इति नास्तिकमतमुपन्यस्य 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेत' इत्यादियुक्तीः प्रतिपादयद्भिर्विनिश्चितैरुपक्रमोपसंहारैकवाक्यतया संदेहशून्यार्थप्रतिपादकैर्बहुधा गीतं च। एतेन ज्ञानकाण्डप्रतिपाद्यत्वमुक्तम्। एवमेतैरतिविस्तरेणोक्तं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं संक्षेपेण तुभ्यं कथयिष्यामि तच्छृणित्यर्थः। अथ वा ब्रह्मसूत्राणि तानि पदानि चेति कर्मधारयः। तत्र विद्यासूत्राणि 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादीनि अविद्यासूत्राणि 'न स वेद यथा पशुः' इत्यादीनि तैर्गीतमिति ॥ ४ ॥

(१) एवं प्ररोचितायार्जुनाय क्षेत्रस्वरूपं तावदाह द्वाभ्याम्—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

(२) महान्ति भूतानि भूम्यादीनि पञ्च। अहंकारस्तत्कारणभूतोऽभिमानलक्षणः। बुद्धिरहंकारकारणं महत्तत्त्वमध्यवसायलक्षणम्। अव्यक्तं तत्कारणं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकं प्रधानं सर्वकारणं

ब्रह्मसूत्र और पदोंद्वारा अर्थात् 'हे सोम्य! पहले यह एक और अद्वितीय सत् ही था' इस प्रकार आरम्भ करके फिर 'उसीके विषयमें कोई कहते हैं कि पहले एक और अद्वितीय असत् ही था, उस असत्से सत् उत्पन्न होता है' इस प्रकार नास्तिक मतका उल्लेखकर उसके पश्चात् 'हे सोम्य! ऐसा तो हो ही कैसे सकता है? भला, असत्से सत् कैसे उत्पन्न होगा—ऐसा कहा' इस प्रकार युक्तिका प्रतिपादन करनेवाले तथा विनिश्चित—उपक्रम और उपसंहारकी एकवाक्यताके कारण सन्देहशून्य अर्थका प्रतिपादन करनेवाले उपनिषद्वाक्योंद्वारा अनेक प्रकारसे कहा गया है। इससे इसकी ज्ञानकाण्ड-प्रतिपाद्यता कही गयी है। इस प्रकार इन तीनों काण्डोंद्वारा बड़े विस्तारसे कहे हुए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपका मैं तुम्हारे प्रति संक्षेपसे वर्णन करता हूँ, उसे सुनो—ऐसा इसका तात्पर्य है। अथवा जो ब्रह्मसूत्र हैं वे ही हैं पद—इस प्रकार यह कर्मधारय समास है। उनमें 'आत्मेत्येवोपासीत'[1] इत्यादि विद्यासूत्र हैं और 'न स वेद यथा पशुः'[2] इत्यादि अविद्यासूत्र हैं। उनसे प्रतिपादित ॥ ४ ॥

(१) इस प्रकार जिसे रुचि उत्पन्न कर दी गयी है उस अर्जुनसे 'महाभूतानि' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा क्षेत्रके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियोंके विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति—यह संक्षेपमें जन्मादि विकारोंवाले क्षेत्रका वर्णन किया गया ॥ ५-६ ॥]

(२) पृथिवी आदि पाँच महाभूत, उनका कारणरूप अभिमानात्मक अहंकार, बुद्धि—अहंकारका कारणभूत निश्चयात्मक महत्तत्त्व, अव्यक्त—महत्तत्त्वका कारण सत्त्व-रज-तमोगुणमय प्रधान, जो सबका कारण है कार्य किसीका भी नहीं है। 'एव' शब्द प्रकृतिका निश्चय

१. 'मैं आत्मा हूँ' इस प्रकार उपासना करे।
२. जो नहीं जानता वह पशुके समान है।

न कस्यापि कार्यम्। एवकारः प्रकृत्यवधारणार्थः। एतावत्येवाष्टधा प्रकृतिः। चशब्दो भेदसमुच्चयार्थः। तदेवं सांख्यमतेन व्याख्यातम्। औपनिषदानां तु अव्यक्तमव्याकृतमनिर्वचनीयं मायाख्या पारमेश्वरी शक्तिः। मम माया दुरत्ययेत्युक्तम्। बुद्धिः सर्गादौ तद्विषयमीक्षणम्। अहंकार ईक्षणानन्तरमहं बहु स्यामिति संकल्पः। तत आकाशादिक्रमेण पञ्चभूतोत्पत्तिरिति। न ह्यव्यक्तमहदहंकाराः सांख्यसिद्धा औपनिषदैरुपगम्यन्तेऽशब्दत्वादिहेतुभिरिति स्थितम्। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इतिश्रुतिप्रतिपादितमव्यक्तम्। 'तदैक्षत' इतीक्षणरूपा बुद्धिः। 'बहु स्यां प्रजायेय' इतिबहुभवनसंकल्परूपोऽहंकारः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी।' इति पञ्च भूतानि श्रौतानि। अयमेव पक्षः साधीयान्।

(१) इन्द्रियाणि दशैकं च श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणाख्यानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणीति तानि एकं च मनः संकल्पविकल्पात्मकं, पञ्च चेन्द्रियगोचराः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्ते बुद्धीन्द्रियाणां ज्ञाप्यत्वेन विषयाः कर्मेन्द्रियाणां तु कार्यत्वेन। तान्येतानि सांख्याश्चतुर्विंशतितत्त्वान्याचक्षते ॥ ५ ॥

(२) इच्छा सुखे तत्साधने चेदं मे भूयादिति स्पृहात्मा चित्तवृत्तिः काम इति राग इति चोच्यते। द्वेषो दुःखे तत्साधने चेदं मे मा भूदिति स्पृहाविरोधिनी चित्तवृत्तिः क्रोध इतीर्ष्येति चोच्यते। सुखं निरुपाधीच्छाविषयीभूता धर्मासाधारणकारणिका चित्तवृत्तिः परमात्मसुखव्यञ्जिका।

करानेके लिये है; अर्थात् इतनी ही आठ प्रकारकी प्रकृति है। 'च' शब्द भेदका समुच्चय करनेके लिये है। इस प्रकार यह सांख्यसिद्धान्तके अनुसार व्याख्या की गयी। औपनिषदों (वेदान्तियों) के मतमें तो अव्यक्त अव्याकृत अर्थात् परमेश्वरकी मायानाम्नी अनिर्वचनीया शक्ति है, जिसका 'मम माया दुरत्यया' इस प्रकार वर्णन किया गया है; बुद्धि-सर्गके आरम्भमें सृष्टिविषयक ईक्षण है; अहंकार ईक्षणके पश्चात् 'मैं अनेक हो जाऊँ' ऐसा संकल्प है; उससे आकाशादि क्रमसे पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति होती है। वेदोक्त न होनेके कारण सांख्यसम्मत अव्यक्त महत्तत्त्व और अहंकार वेदान्तियोंको स्वीकृत नहीं है, इसलिये ऐसा निश्चय किया गया है। 'मायाको तो प्रकृति जानो और मायावीको महेश्वर' 'उन्होंने ध्यानयोगयुक्त होकर अपने गुणोंसे छिपी हुई भगवान्की अपनी शक्ति देखी' इस प्रकार श्रुतिने जिसका प्रतिपादन किया है वह प्रकृति है, और 'उसने ईक्षण किया' यह ईक्षणरूपा बुद्धि है। 'मैं बहुत हो जाऊँ, उत्पन्न होऊँ' यह अनेक होनेका संकल्परूप अहंकार है, तथा 'उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी हुई' ये श्रुतिप्रतिपादित पाँच भूत हैं। यही पक्ष अधिक ठीक है।

(१) ग्यारह इन्द्रियाँ अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और प्राणसंज्ञक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ संज्ञक पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं एक संकल्पविकल्पात्मक मन। तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच इन्द्रियोंके विषय—ये ज्ञाप्य होनेके कारण ज्ञानेन्द्रियोंके और कार्य होनेके कारण कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं। इन्हींको सांख्यवादी चौबीस तत्त्व कहते हैं ॥ ५ ॥

(२) इच्छा—सुख और उसके साधनमें 'यह मुझे प्राप्त हो' ऐसी स्पृहारूपा चित्तकी वृत्ति जिसे काम और राग भी कहते हैं। द्वेष—दुःख और उसके साधनमें 'यह मुझे प्राप्त न हो' ऐसी स्पृहाकी विरोधिनी चित्तवृत्ति, जो ईर्ष्या और क्रोध भी कही जाती

दुःखं निरुपाधिद्वेषविषयीभूता चित्तवृत्तिरधर्मासाधारणकारणिका। संघातः पञ्चमहाभूतपरिणामः सेन्द्रियं शरीरम्। चेतना स्वरूपज्ञानव्यञ्जिका प्रमाणासाधारणकारणिका चित्तवृत्तिर्ज्ञानाख्या। धृतिरवसन्नानां देहेन्द्रियाणामवष्टम्भहेतुः प्रयत्नः। उपलक्षणमेतद्दिच्छादिग्रहणं सर्वान्तःकरणधर्माणाम्। तथाच श्रुतिः—'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इति मृद्घट इतिवदुपादानभेदेन कार्याणां कामादीनां मनोधर्मत्वमाह। एतत्परिदृश्यमानं सर्वं महाभूतादिधृत्यन्तं जडं क्षेत्रज्ञेन साक्षिणाऽवभास्यमानत्वात्तदनात्मकं क्षेत्रं भास्यमचेतनं समासेनोदाहृतमुक्तम्।

(१) ननु शरीरेन्द्रियसंघात एव चेतनः क्षेत्रज्ञ इति लोकायतिकाः। चेतना क्षणिकं ज्ञानमेवाऽऽत्मेति सुगताः। इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति नैयायिकाः। तत्कथं क्षेत्रमेवैतत्सर्वमिति ?

(२) तत्राऽऽह—सविकारमिति। विकारो जन्मादिर्नाशान्तः परिणामो नैरुक्तैः पठितः। तत्सहितं सविकारमिदं महाभूतादिधृत्यन्तमतो न विकारसाक्षि स्वोत्पत्तिविनाशयोः स्वेन द्रष्टुमशक्यत्वात्। अन्येषामपि स्वधर्माणां स्वदर्शनमन्तरेण दर्शनानुपपत्तेः स्वेनैव स्वदर्शने च कर्तृकर्मविरोधान्निर्विकार एव सर्वविकारसाक्षी। तदुक्तम्—

है। सुख—उपाधिहीना इच्छाकी विषयभूता और धर्म ही जिसका असाधारण कारण है वह परमात्मसुखको अभिव्यक्त करनेवाली चित्तकी वृत्ति। दुःख—निरुपाधिक द्वेषकी विषयभूता और अधर्म ही जिसका असाधारण कारण है वह चित्तवृत्ति। संघात—पञ्चमहाभूतोंका परिणाम इन्द्रियोंके सहित यह शरीर। चेतना—स्वरूपज्ञानको अभिव्यक्त करनेवाली तथा प्रमाण ही जिसका असाधारण कारण है वह ज्ञानसंज्ञी चित्तवृत्ति। धृति—क्षीण हुए देह और इन्द्रियोंको धारण करनेका हेतुभूत प्रयत्न। यह इच्छादिका ग्रहण अन्तःकरणके सभी धर्मोंका उपलक्षण है; जैसा कि श्रुति भी कहती है—'काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, और भय—ये सब मन ही हैं।' मृत्तिका और घटके समान उपादानरूपसे अभेद होनेके कारण यहाँ कामादि कार्योंको मनका धर्म कहा गया है। यह महाभूतसे लेकर धृतिपर्यन्त दिखायी देनेवाला सम्पूर्ण जडवर्ग क्षेत्रज्ञ साक्षीके द्वारा प्रकाशित होनेके कारण संक्षेपतः अनात्मभूत क्षेत्र अर्थात् अचेतन भास्य कहा जाता है।

(१) किन्तु लोकायतिकोंका मत है कि शरीर और इन्द्रियोंका संघात ही चेतन क्षेत्रज्ञ है, बौद्ध कहते हैं कि चेतनारूप क्षणिक ज्ञान ही आत्मा है, तथा नैयायिकोंका मत है कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये आत्माके लिंग हैं—तो फिर यह सब क्षेत्र ही कैसे हैं ?

(२) इसपर कहते हैं—'सविकार' इत्यादि। नैरुक्तोंने जो जन्मसे लेकर नाशपर्यन्त परिणाम बताया है वह विकार है। ये महाभूतसे लेकर धृतिपर्यन्त पदार्थ उससे युक्त हैं इसलिये सविकार हैं। अतः विकार अपने उत्पत्ति और नाशका साक्षी नहीं है, क्योंकि वह स्वयं ही अपने द्वारा नहीं देखा जा सकता। अपना दर्शन हुए बिना अपने अन्य धर्मोंका दर्शन भी नहीं हो सकता, क्योंकि अपने ही द्वारा अपना दर्शन होनेमें एक हीमें कर्ता और कर्म होनेका विरोध उपस्थित होता है। अतः जो समस्त विकारोंका साक्षी है वह निर्विकार ही है। कहा भी है—'बिना विकारके कोई दुःखी नहीं हो सकता और जो विकारी है उसकी साक्षिता ही क्या ? मैं तो बुद्धिके सहस्रों विकारोंका साक्षी

'नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः॥' इति।
तेन विकारित्वमेव क्षेत्रचिह्नं नतु परिगणनमित्यर्थः॥ ६॥

(१) एवं क्षेत्रं प्रतिपाद्य तत्साक्षिणं क्षेत्रज्ञं क्षेत्राद्विवेकेन विस्तरात्प्रतिपादयितुं तज्ज्ञानयोग्यत्वायामानित्वादिसाधनान्याह ज्ञेयं यत्तदित्यतः प्राक्तनैः पञ्चभिः—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥

(२) विद्यमानैरविद्यमानैर्वा गुणैरात्मनः श्लाघनं मानित्वं, लाभपूजाख्यात्यर्थं स्वधर्मप्रकटीकरणं दम्भित्वं, कायवाङ्मनोभिः प्राणिनां पीडनं हिंसा, तेषां वर्जनममानित्वमदम्भित्वमहिंसेत्युक्तम्। परापराधे चित्तविकारहेतौ प्राप्तेऽपि निर्विकारचित्ततया तदपराधसहनं क्षान्तिः, आर्जवमकौटिल्यं यथाहृदयं व्यवहरणं परप्रतारणाराहित्यमिति यावत्। आचार्यं मोक्षसाधनस्योपदेष्टारं विवक्षितो न तु मनूक्त उपनीयाध्यापकः। तस्य शुश्रूषानमस्कारादिप्रयोगेण सेवनमाचार्योपासनम्। शौचं बाह्यं कायमलानां मृज्जलाभ्यां क्षालनमाभ्यन्तरं च मनोमलानां रागादीनां विषयदोषदर्शनरूपप्रतिपक्षभावनयाऽपनयनम्। स्थैर्यं मोक्षसाधने प्रवृत्तस्यानेकविधविघ्नप्राप्तावपि तदपरित्यागेन पुनः पुनर्यत्नाधिक्यम्। आत्मविनिग्रह आत्मनो देहेन्द्रियसंघातस्य स्वभावप्राप्तां मोक्षप्रतिकूले प्रवृत्तिं निरुध्य मोक्षसाधन एव व्यवस्थापनम्॥ ७॥

हूँ, इसलिये निर्विकार हूँ।' इसलिये विकारी होना ही क्षेत्रका चिह्न है, न कि पाँच भूत इत्यादि उनकी गणना—ऐसा इसका तात्पर्य है॥ ६॥

(१) इस प्रकार क्षेत्रका प्रतिपादन कर उसके साक्षी क्षेत्रज्ञका क्षेत्रसे पृथक्त्वया विस्तारसे प्रतिपादन करनेके लिये 'ज्ञेयं यत्तत्' इससे पहले पाँच श्लोकोंद्वारा उस (क्षेत्रज्ञ) के ज्ञानकी योग्यताके लिये अमानित्वादि साधनोंका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—निरभिमानता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, आचार्यकी उपासना, शौच, स्थिरता और आत्मनिग्रह॥ ६॥]

(२) अपनेमें जो गुण हों अथवा न हों उनके कारण अपनी प्रशंसा करना मानीपन है; लाभ, पूजा अथवा ख्यातिके लिये अपने धर्मको प्रकट करना दम्भीपन है तथा शरीर, वाणी और मनसे प्राणियोंको पीडित करना हिंसा है। इनको त्याग देना अमानित्व, अदम्भित्व और अहिंसा कहे गये हैं। दूसरेके अपराधरूप चित्तके विकारका कारण उपस्थित होनेपर भी निर्विकारचित्तसे उस अपराधको सह लेना क्षान्ति (क्षमा) है। आर्जव—अकुटिलता—अपने हृदयके अनुसार व्यवहार करना अर्थात् दूसरेको धोखा न देना है। यहाँ आचार्य मोक्षके साधनोंका उपदेश करनेवाला कहा गया है, मनुजीका बताया हुआ उपनयन संस्कार करके पढ़ानेवाला नहीं। शुश्रूषा और नमस्कारादिके द्वारा उसकी सेवा करना आचार्योपासन है। शौच बाह्य-शरीरके मलोंको मृत्तिका और जल आदिसे धोनेको तथा मनके मल-रागादिको विषयोंके दोषदर्शनरूप प्रतिपक्षभावना (विषयविरोधिनी भावना)से दूर करनेको कहते हैं। मोक्षसाधनमें प्रवृत्त हुए पुरुषका अनेक प्रकारके विघ्न प्राप्त होनेपर भी उन्हें न त्यागते हुए पुनः-पुनः विशेष प्रयत्न करना स्थैर्य है। आत्माकी अर्थात् देह और इन्द्रिय-संघातकी स्वभावतः प्राप्त मोक्षसे प्रतिकूल विषयमें प्रवृत्तिको रोककर उसे मोक्षके साधनोंमें ही लगाना आत्मविनिग्रह है॥ ७॥

(१) किं च—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

(२) इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु दृष्टेष्वानुश्रविकेषु वा भोगेषु रागविरोधिन्यस्पृहात्मिका चित्तवृत्तिर्वैराग्यम् । आत्मश्लाघनाभावेऽपि मनसि प्रादुर्भूतोऽहं सर्वोत्कृष्ट इति गर्वोऽहंकारस्तदभावोऽनहंकारः । अयोगव्यवच्छेदार्थं एवकारः । समुच्चयार्थश्चकारः । तेनामानित्वादीनां विंशतिसंख्याकानां समुच्चितो योग एव ज्ञानमिति प्रोक्तं न त्वेकस्याप्यभाव इत्यर्थः । जन्मनो गर्भवासयोनिद्वारनिस्सरणरूपस्य मृत्योः सर्वमर्मच्छेदनरूपस्य जरायाः प्रज्ञाशक्तितेजोनिरोधपरपरिभवादिरूपाया व्याधीनां ज्वरातिसारादिरूपाणां दुःखानामिष्टवियोगानिष्टसंयोगजानामध्यात्माधिभूताधिदैवनिमित्तानां दोषस्य वातपित्तश्लेष्ममलमूत्रादिपरिपूर्णत्वेन कायजुगुप्सितत्वस्य चानुदर्शनं पुनः पुनरालोचनं जन्मादिदुःखान्तेषु दोषस्यानुदर्शनं जन्मादिव्याध्यन्तेषु दुःखरूपदोषस्यानुदर्शनमिति वा । इदं च विषयवैराग्यहेतुत्वेनाऽऽत्मदर्शनस्योपकरोति ॥ ८ ॥

(३) किं च—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

(४) सक्तिर्ममेदमित्येतावन्मात्रेण प्रीतिः । अभिष्वङ्गस्त्वहमेवायमित्यनन्यत्वभावनया

(१) तथा—

[श्लोकार्थः—इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य, अहंकारका सर्वथा अभाव तथा जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःखरूप दोषोंको देखना ॥ ८ ॥]

(२) इन्द्रियोंके विषय-शब्दादि अथवा दृष्ट और अदृष्ट भोगोंमें वैराग्य—रागकी विरोधिनी अस्पृहात्मिका चित्तवृत्ति, अपनी प्रशंसा न करानेपर भी 'मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ' ऐसा मनमें उत्पन्न हुआ गर्व अहङ्कार है, उसका अभाव अनहंकार है । 'एव' शब्द असम्बन्धका निषेध करनेके लिये है तथा 'च' शब्द समुच्चयके लिये है । इससे तात्पर्य यह है कि अमानित्वादि बीस गुणोंसे मिला हुआ योग ही 'ज्ञान' इस शब्दसे कहा गया है, इनमेंसे एकका भी अभाव होनेपर नहीं । गर्भवास और योनिसे निकलनेरूप जन्मके, सम्पूर्ण मर्मस्थानोंके छेदनरूप मृत्युके, बुद्धि, शक्ति और तेजके निरोध तथा दूसरोंसे पराभवादि होनारूप जराके एवं ज्वर और अतिसारादिरूप व्याधियोंके जो इष्टवियोग और अनिष्टसंयोगसे होनेवाले अध्यात्म, अधिभूत एवं अधिदैव दुःख हैं उनसे होनेवाले दोषको अर्थात् वात, पित्त, कफ एवं मल-मूत्रादिसे परिपूर्ण होनेके कारण शरीरकी घृणास्पदताका अनुदर्शन—पुनः पुनः विचार करना । अथवा जन्मसे लेकर दुःखपर्यन्त सबके दोषोंका विचार करना या जन्मसे लेकर व्याधिपर्यन्त सबमें दुःखरूप दोषका विचार करना । यह विषयोंमें वैराग्यका कारण होनेसे आत्मदर्शनका उपकार करता है ॥ ८ ॥

(३) तथा—

[श्लोकार्थः—पुत्र, स्त्री और गृह आदिमें प्रीति न होना, उनमें अभिनिवेशका अभाव होना, तथा इष्ट और अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर सर्वदा समचित्त रहना ॥ ९ ॥]

(४) 'यह मेरा है' इतने मात्रसे प्रीति होना 'सक्ति' है तथा 'यह मैं ही हूँ' इस

प्रीत्यतिशयोऽन्यस्मिन्सुखिनि दुःखिनि वाऽहमेव सुखी दुःखी चेति । तद्राहित्यमसक्तिरनभिष्वङ्ग इति चोक्तम् । कुत्र सक्त्यभिष्वङ्गौ वर्जनीयावत आह—पुत्रदारगृहादिषु पुत्रेषु दारेषु गृहेषु, आदिग्रहणादन्येष्वपि भृत्यादिषु सर्वेषु स्नेहविषयेष्वित्यर्थः ।

(१) नित्यं च सर्वदा च समचित्तत्वं हर्षविषादशून्यमनस्त्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु । उपपत्तिः प्राप्तिः । इष्टोपपत्तिषु हर्षाभावोऽनिष्टोपपत्तिषु विषादाभाव इत्यर्थः । चः समुच्चये ॥ ९ ॥

(२) किं च—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

(३) मयि च भगवति वासुदेवे परमेश्वरे भक्तिः सर्वोत्कृष्टत्वज्ञानपूर्विका प्रीतिः । अनन्ययोगेन नान्यो भगवतो वासुदेवात्परोऽस्यतः सः एव नो गतिरित्येवंनिश्चयेनाव्यभिचारिणी केनापि प्रतिकूलेन हेतुना निवारयितुमशक्या । साऽपि ज्ञानहेतुः 'प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्' इत्युक्तेः ।

(४) विविक्तः स्वभावतः संस्कारतो वा शुद्धोऽशुचिभिः सर्पव्याघ्रादिभिश्च रहितः सुरधुनीपुलिनादिश्चित्तप्रसादकरो देशस्तत्सेवनशीलत्वं विवक्तदेशसेवित्वम् । तथा च श्रुतिः—

'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥' इति ।

प्रकारकी अनन्यत्वभावनासे प्रीतिकी अतिशयता अर्थात् ऐसी भावना होनी कि किसी अन्यके सुखी या दुःखी होनेपर मैं ही सुखी-दुःखी होता हूँ 'अभिष्वङ्ग' है । इनसे रहित होना 'असक्ति' और 'अनभिष्वङ्ग' कहे गये हैं । इन सक्ति और अभिष्वङ्गका कहाँ त्याग करना चाहिये ? इसपर कहते हैं—'पुत्रदारगृहादिषु'—पुत्रोंमें, स्त्रियोंमें और गृहादिमें । यहाँ 'आदि' शब्दके ग्रहणसे यह तात्पर्य है कि भृत्य इत्यादि स्नेहके अन्य सब विषयोंमें भी इनका त्याग करना चाहिये ।

(१) इष्ट और अनिष्ट उपपत्तियोंमें नित्य—सर्वदा समचित्तत्व—हर्ष या विषादसे शून्य चित्तवाला होना । उपपत्ति प्राप्तिको कहते हैं । तात्पर्य यह है कि इष्टप्राप्ति होनेपर हर्ष न होना और अनिष्टप्राप्ति होनेपर विषाद न होना । 'च' शब्द समुच्चयके अर्थमें है ॥९॥

(२) तथा—

[श्लोकार्थः—मेरेमें अनन्यभावसे अविचल भक्ति होना, शुद्ध देशका सेवन करना और जनसमूहमें राग न होना ॥ १० ॥]

(३) मुझ परमेश्वर भगवान् वासुदेवमें अनन्ययोगसे—'भगवान् वासुदेवसे बढ़कर कोई और नहीं है, अतः वही हमारी गति है' इस प्रकारके निश्चयसे अव्यभिचारिणी—किसी भी प्रतिकूल कारणसे निवारण न की जा सकनेवाली भक्ति—सर्वश्रेष्ठताका ज्ञानपूर्वक प्रीति होना । वह प्रीति भी ज्ञानका हेतु है, क्योंकि 'जबतक मुझ वासुदेवमें प्रीति नहीं होती तबतक जीव देहके सम्बन्धसे नहीं छूटता' ऐसा कहा है ।

(४) विविक्त—स्वभावतः अथवा संस्कारादिसे शुद्ध, सर्प-व्याघ्रादि अपवित्र जीवोंसे रहित गंगातट आदि चित्तको प्रसन्न करनेवाला प्रदेश, उसे सेवन करनेका स्वभाव होना 'विविक्तदेशसेवित्व' है । ऐसा ही श्रुति भी कहती है—'जो समतल, पवित्र, कङ्कड़, अग्नि और बालुकासे तथा शब्द और जलाशयादिसे रहित, मनके अनुकूल और नेत्रोंको पीडित न करनेवाला हो उस गुहा या वायुशून्य स्थानमें चित्तको समाहित करे ।'

(१) जनानामात्मज्ञानविमुखानां विषयभोगलम्पटतोपदेशकानां संसदि समवाये तत्त्वज्ञानप्रतिकूलायामरतिररमणं साधूनां तु संसदि तत्त्वज्ञानानुकूलायां रतिरुचितैव । तथा चोक्तम्—'सङ्गः सर्वात्मना हेयः स चेत्यक्तुं न शक्यते । स सद्भिः सह कर्तव्यः सतः सङ्गो हि भेषजम्' इति ॥ १० ॥

(२) किं च—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

(३) अध्यात्मज्ञानमात्मानमधिकृत्य प्रवृत्तमात्मानात्मविवेकज्ञानमध्यात्मज्ञानं तस्मिन्नित्यत्वं तत्रैव निष्ठावत्त्वम् । विवेकनिष्ठो हि वाक्यार्थज्ञानसमर्थो भवति । तत्त्वज्ञानस्याहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारस्य वेदान्तवाक्यकरणकस्यामानित्वादिसर्वसाधनपरिपाकफलस्यार्थः प्रयोजनमविद्यातत्कार्यासम्पूर्णदुःखनिवृत्तिरूपः परमानन्दाप्तिरूपश्च मोक्षस्तस्य दर्शनमालोचनम् । तत्त्वज्ञानफलालोचने हि तत्साधने प्रवृत्तिः स्यात् । एतदमानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं विंशतिसंख्याकं ज्ञानमिति प्रोक्तं ज्ञानार्थत्वात् । अतोऽन्यथाऽस्माद्विपरीतं मानित्वादि यत्तदज्ञानमिति प्रोक्तं ज्ञानविरोधित्वात् । तस्मादज्ञानपरित्यागेन ज्ञानमेवोपादेयमिति भावः ॥ ११ ॥

(४) एभिः साधनैर्ज्ञानशब्दितैः किं ज्ञेयमित्यपेक्षायामाह ज्ञेयं यत्तदित्यादिषड्भिः—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।

(१) जनोंकी—आत्मज्ञानविमुख एवं विषयभोगलम्पट उपदेशकोंकी संसद्में अर्थात् तत्त्वज्ञानके प्रतिकूल सभाओंमें अरति—रमण न करना तथा साधुओंकी तत्त्वज्ञानानुकूला सभामें रति—रुचि होना; जैसा कि कहा है—'संगको सर्वथा त्यागना चाहिये, उसे यदि पूरा-पूरा न त्याग सके तो सत्पुरुषोंके साथ ही करना चाहिये, क्योंकि सत्पुरुषका संग ही औषध है' इत्यादि ॥ १० ॥

(२) तथा—

[श्लोकार्थः—अध्यात्मज्ञानमें निष्ठा होना और तत्त्वज्ञानके प्रयोजनका विचार करना—यह सभी 'ज्ञान' कहा जाता है, इससे जो भिन्न है वह अज्ञान है ॥ ११ ॥]

(३) अध्यात्म—आत्माको अधिकृत करके प्रवृत्त होनेवाला आत्मा और अनात्माका विवेकरूप ज्ञान अध्यात्मज्ञान है, उसीमें नित्यत्व अर्थात् निष्ठा होना, क्योंकि विवेकनिष्ठ ही वेदान्तवाक्योंके अर्थको जाननेमें समर्थ होता है । तत्त्वज्ञानके अर्थका—वेदान्तवाक्य जिसके कारण हैं तथा जो अमानित्वादि समस्त साधनोंके परिपाकका फल है उस 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारके साक्षात्कारका जो अर्थ—प्रयोजन अर्थात् अविद्या और उसके कार्यभूत सम्पूर्ण दुःखकी निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिरूप मोक्ष है उसका दर्शन—आलोचन, क्योंकि तत्त्वज्ञानके फलका आलोचन (विचार) करनेसे ही उसमें प्रवृत्ति हो सकती है । यह अमानित्वसे लेकर तत्त्वज्ञानदर्शनपर्यन्त बीस संख्यावाला पदार्थ 'ज्ञान' कहा गया है, क्योंकि इसका प्रयोजन ज्ञान ही है । इससे अन्यथा—विपरीत जो मानित्वादि हैं वे ज्ञानके विरोधी होनेके कारण 'अज्ञान' कहे जाते हैं । अतः भाव यह है कि अज्ञानको छोड़कर ज्ञानहीको ग्रहण करना चाहिये ॥ ११ ॥

(४) ज्ञान कहे जानेवाले इन साधनोंसे जानने योग्य क्या है ? ऐसा प्रश्न होनेपर 'ज्ञेयं यत्तद्' इत्यादि छः श्लोकोंसे कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जो ज्ञेय है वह मैं बताता हूँ, जिसे जानकर जीव अमृतत्व प्राप्त कर

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

(१) यज्ज्ञेयं मुमुक्षुणा तत्प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण स्पष्टतया वक्ष्यामि । श्रोतुरभिमुखीकरणाय फलेन स्तुवन्नाह—यद्वक्ष्यमाणं ज्ञेयं ज्ञात्वाऽमृतममृतत्वमश्नुते संसारान्मुच्यत इत्यर्थः । किं तत्, अनादिमत्, आदिमन्न भवतीत्यनादिमत् । परं निरतिशयं ब्रह्म सर्वतोऽनवच्छिन्नं परमात्मवस्तु । अत्रानादीत्येतावतैव बहुव्रीहिणाऽर्थलाभेऽप्यतिशायने नित्ययोगे वा मतुपः प्रयोगः । अनादीति च मत्परमिति च पदं केचिदिच्छन्ति । मत्सगुणाद्ब्रह्मणः परं निर्विशेषरूपं ब्रह्मेत्यर्थः । अहं वासुदेवाख्या परा शक्तिर्यस्येति स्वपक्ष्याख्यानं, निर्विशेषस्य ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वेन तत्र शक्तिमत्त्वस्यावक्तव्यत्वात् ।

(२) निर्विशेषत्वमेवाऽऽह—न सत्तन्नासदुच्यते । विधिमुखेन प्रमाणस्य विषयः सच्छब्देनोच्यते । निषेधमुखेन प्रमाणस्य विषयस्त्वसच्छब्देन । इदं तु तदुभयविलक्षणं निर्विशेषत्वात्स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वाच्च 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।' इत्यादिश्रुतेः । यस्मात्तद्ब्रह्म न सद्भावत्वाश्रयः, नासद्भावत्वाश्रयः, अतो नोच्यते केनापि शब्देन मुख्यया वृत्त्या शब्दप्रवृत्तिहेतूनां तत्रासंभवात् । तद्यथा—गौरश्व इति वा जातितः, पचति पठतीति वा क्रियातः, शुक्लः कृष्ण इति वा गुणतः, धनी गोमानिति वा संबन्धतोऽर्थं प्रत्याययति शब्दः । अत्र क्रियागुणसंबन्धेभ्यो विलक्षणः सर्वोऽपि धर्मो जातिरूप उपाधिरूपो वा जातिपदेन संगृहीतः । यदृच्छाशब्दोऽपि डित्थडपित्थादिर्यं

लेता है । ब्रह्म अनादि और निरतिशय है । वह न सत् है, न असत् है और न किसी शब्दसे कहा जाता है ॥ १२ ॥]

(१) मुमुक्षुओंको जो ज्ञेय (जाननेयोग्य) है उसका मैं प्रकर्षसे—स्पष्टतया वर्णन करता हूँ । श्रोताको अभिमुख करनेके लिये फलद्वारा उसकी स्तुति करते हुए कहते हैं—जिस कहे जानेवाले ज्ञेयको जानकर जीव अमृत—अमृतत्वको प्राप्त कर लेता है अर्थात् संसारसे मुक्त हो जाता है । वह अमृत क्या है ? वह अनादिमत्—जो आदिमान् नहीं है ऐसा अनादिमान् और पर—निरतिशय ब्रह्म यानी सब प्रकार अनवच्छिन्न परमात्मवस्तु है । यहाँ 'अनादि' इस बहुव्रीहि समाससे ही अर्थ निकल सकता था, तो भी अतिशय या नित्य अर्थमें मतुप् प्रत्ययका प्रयोग हुआ है । कोई टीकाकार इस पदको 'अनादि' और 'मत्परम्' इस प्रकार विभक्त करना चाहते हैं । अर्थात् मत्—मुझ सगुण ब्रह्मसे निर्विशेषरूप ब्रह्मपर है । 'मैं वासुदेव नामकी जिसकी पराशक्ति हूँ' ऐसी इसकी व्याख्या ठीक नहीं है, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म प्रतिपाद्य होनेके कारण उसकी शक्तिमत्ता कहनी उचित नहीं है ।

(२) 'न सत्तन्नासदुच्यते' इस वाक्यसे ब्रह्मकी निर्विशेषताका वर्णन करते हैं । जो विधिमुखसे प्रमाणका विषय होता है वह 'सत्' शब्दसे और जो निषेधमुखसे प्रमाणका विषय होता है वह 'असत्' शब्दसे कहा जाता है । यह निर्विशेष और स्वप्रकाश चैतन्यरूप होनेके कारण उन दोनोंसे ही विलक्षण है; जैसा कि 'जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है' इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है । क्योंकि वह ब्रह्म न तो सत्—भावत्वका आश्रय है और न असत्—अभावत्वका आश्रय है, इसलिये मुख्य वृत्तिद्वारा किसी भी शब्दसे नहीं कहा जाता; कारण कि, शब्दकी प्रवृत्तिके हेतुओंका होना उसमें सम्भव नहीं है । जिस प्रकार कि 'गौ अश्व' ये शब्द जातिसे, 'पकाता है—पढ़ता है' ये शब्द क्रियासे, 'श्वेत-काला' ये शब्द गुणसे तथा 'धनी-गौवाला' ये शब्द सम्बन्धसे अर्थका ज्ञान कराते हैं । यहाँ क्रिया, गुण और सम्बन्ध इनसे विलक्षण सम्पूर्ण जाति और उपाधि-

कंचिद्धर्मं स्वात्मानं वा प्रवृत्तिं निमित्तीकृत्य प्रवर्तत इति सोऽपि जातिशब्दः। एवमाकाशशब्दोऽपि तार्किकाणां शब्दाश्रयत्वादिरूपं यं कंचिद्धर्मं पुरस्कृत्य प्रवर्तते। स्वमते तु पृथिव्यादिवदाकाशव्यक्तीनां जन्यानामनेकत्वादाकाशत्वमपि जातिरेवेति सोऽपि जातिशब्दः। आकाशातिरिक्ता च दिङ्नास्त्येव। कालश्च नेश्वरादतिरिच्यते। अतिरेके वा दिक्कालशब्दावप्युपाधिविशेषप्रवृत्तिनिमित्तकाविति जातिशब्दावेव। तस्मात्प्रवृत्तिनिमित्तचातुर्विध्याच्चतुर्विध एव शब्दः। तत्र 'न सत्तन्नासत्' इति जातिनिषेधः क्रियागुणसंबन्धानामपि निषेधोपलक्षणार्थः। 'एकमेवाद्वितीयम्' इति जातिनिषेधस्तस्या अनेकव्यक्तिवृत्तेरेकस्मिन्नसंभवात्। 'निर्गुणं निष्क्रियं शान्तम्' इति गुणक्रियासंबन्धानां क्रमेण निषेधः। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति च। 'अथात आदेशो नेति नेति' इति च सर्वनिषेधः। तस्माद्ब्रह्म न केनचिच्छब्देनोच्यत इति युक्तम्। तर्हि कथं प्रवक्ष्यामीत्युक्तं कथं वा 'शास्त्रयोनित्वात्' इति सूत्रम्। यथाकथंचिल्लक्षणया शब्देन प्रतिपादनादिति गृहाण। प्रतिपादनप्रकारश्च 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' इत्यत्र व्याख्यातः। विस्तरस्तु भाष्ये द्रष्टव्यः॥ १२॥

(१) एवं निरुपाधिकस्य ब्रह्मणः सच्छब्दप्रत्ययाविषयत्वादसत्त्वाशङ्कायां नासदित्यनेनापास्तायामपि विस्तरेण तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वप्राणिकरणोपाधिद्वारेण चेतनक्षेत्रज्ञरूपतया तदस्तित्वं प्रतिपादयन्नाह—

रूप धर्म 'जाति' शब्दसे संग्रह किया गया है। डित्थ-डपित्थ आदि मनमाने शब्द भी अपने विषयमें किसी धर्मको निमित्त बनाकर ही प्रवृत्त होते हैं, अतः वे भी जातिपरक शब्द ही हैं। इसी प्रकार तार्किकोंके मतमें 'आकाश' शब्द भी शब्दाश्रयत्वादि किसी धर्मको लेकर ही प्रवृत्त होता है। हमारे मतमें तो पृथिवी आदिके समान आकाशरूप व्यक्ति भी जन्य और अनेक हैं, अतः आकाशत्व भी जाति है, इसलिये यह भी जातिपरक शब्द ही है। आकाशसे भिन्न दिशा तो है ही नहीं तथा काल भी ईश्वरसे अतिरिक्त नहीं है। यदि ये उनसे अतिरिक्त हैं तो 'दिशा' और 'काल' शब्द किसी उपाधिविशेषकी प्रवृत्तिके कारण हैं इसलिये जातिपरक शब्द ही हैं। इसलिये शब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त चार प्रकारका होनेसे शब्द भी चार प्रकारका ही है। यहाँ 'न सत् है न असत्' इस प्रकार जातिका निषेध किया, गुण और सम्बन्धोंके भी निषेधको उपलक्षित करानेके लिये है। 'ब्रह्म एक और अद्वितीय है' इस वाक्यसे ब्रह्ममें जातिका निषेध किया गया है, क्योंकि अनेक व्यक्तियोंमें रहनेवाली जाति एक हीमें नहीं रह सकती 'ब्रह्म निर्गुण, निष्क्रिय और शान्त है' इससे क्रमशः उसमें गुण, क्रिया और सम्बन्धका निषेध किया गया है। 'यह पुरुष असंग है' तथा 'यह नहीं है, यह नहीं है—इस प्रकार ब्रह्मका निरूपण होता है' इन श्रुतियोंसे सबका निषेध किया गया है। इसलिये किसी भी शब्दसे ब्रह्मका वर्णन नहीं किया जाता—यह ठीक ही कहा है। फिर 'कहता हूँ' ऐसा क्यों कहा? और 'शास्त्रयोनित्वात्' यह सूत्र क्यों है? इसका तात्पर्य यही समझो कि किसी प्रकार लक्षणाद्वारा शब्द उसका प्रतिपादन करता है। उसके प्रतिपादनकी शैली 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' इस श्लोकमें दिखायी गयी है। इसका विस्तार भाष्यमें देखना चाहिये॥ १२॥

(१) इस प्रकार 'सत्' शब्दसे ज्ञानका विषय न होनेके कारण निरुपाधिक ब्रह्मके असत्त्वकी आशंका होनेपर 'वह असत् नहीं है' इस वाक्यसे उसका निराकरण कर देनेपर भी विस्तारसे उस आशंकाकी निवृत्तिके लिये समस्त प्राणियोंकी इन्द्रियरूप उपाधिके द्वारा चेतन क्षेत्रज्ञरूपसे उसके अस्तित्वका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

(१) सर्वतः सर्वेषु देहेषु पाणयः पादाश्चाचेतनाः स्वस्वव्यापारेषु प्रवर्तनीया यस्य चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य तत्सर्वतःपाणिपादं ज्ञेयं ब्रह्म। सर्वाचेतनप्रवृत्तीनां चेतनाधिष्ठानपूर्वकत्वात्तस्मिन्क्षेत्रज्ञे चेतने ब्रह्मणि ज्ञेये सर्वाचेतनवर्गप्रवृत्तिहेतौ नास्ति नास्तिताशङ्केत्यर्थः। एवं सर्वतोऽक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य प्रवर्तनीयानि सन्ति तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। एवं सर्वतः श्रुतयः श्रवणेन्द्रियाणि यस्य प्रवर्तनीयत्वेन सन्ति तत्सर्वतःश्रुतिमत्। लोके सर्वप्राणिनिकाये। एकमेव नित्यं विभु च सर्वमचेतनवर्गमावृत्य स्वसत्तया स्फूर्त्या चाऽऽध्यासिकेन संबन्धेन व्याप्य तिष्ठति निर्विकारमेव स्थितिं लभते, न तु स्वाध्यस्तस्य जडप्रपञ्चस्य दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि संबध्यत इत्यर्थः। यथा च सर्वेषु देहेष्वेकमेव चेतनं नित्यं विभु च न प्रतिदेहं भिन्नं तथा प्रपञ्चितं प्राक्॥ १३॥

(२) 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' इति न्यायमनुसृत्य सर्वप्रपञ्चाध्यारोपेणानादिमत्परं ब्रह्मेति व्याख्यातमधुना तदपवादेन न सत्तन्नासदुच्यत इति व्याख्यातुमारभते निरुपाधिस्वरूपज्ञानाय—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

[श्लोकार्थः—वह सर्वत्र हाथ-पैरोंको प्रेरित करनेवाला, सर्वत्र नेत्र, मस्तक और मुखोंको प्रवृत्त करनेवाला, तथा सर्वत्र श्रोत्रोंको प्रवृत्त करनेवाला ब्रह्म सम्पूर्ण जडवर्गको व्याप्त करके स्थित है॥ १३॥]

(१) सर्वत्र—समस्त शरीरोंमें अचेतन हाथ और पाँवोंको जिस चेतन क्षेत्रज्ञको अपने-अपने व्यापारोंमें लगाना है वह ज्ञेय ब्रह्म सर्वतः पाणिपाद है, क्योंकि अचेतनकी सारी प्रवृत्तियाँ चेतन-अधिष्ठानपूर्वक ही होती हैं। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण अचेतनवर्गकी प्रवृत्तिके हेतुभूत उस चेतन ब्रह्ममें असत्ताकी आशंका नहीं हो सकती। इसी प्रकार जिसको सर्वत्र नेत्र, शिर और मुखको प्रवृत्त करना है तथा जिसके लिये सर्वत्र श्रुति—श्रोत्रेन्द्रिय प्रवर्तनीयरूपसे विद्यमान हैं वह ब्रह्म सर्वतोऽक्षिशिरोमुख और सर्वतः श्रुतिमान् है। लोकमें—सम्पूर्ण प्राणिसमूहमें वह एक नित्य और विभु ब्रह्म ही समस्त अचेतन वर्गको आवृत करके—अपनी सत्तास्फूर्तिसे आध्यासिक सम्बन्धद्वारा व्याप्त करके स्थित है—निर्विकाररूपसे स्थिति प्राप्त किये हुए हैं। तात्पर्य यह है कि उसका अपनेमें अध्यस्त जडप्रपञ्चके अणुमात्र दोष या गुणसे भी सम्बन्ध नहीं है। समस्त देहोंमें जिस प्रकार कि एक ही नित्य और विभु चेतन विद्यमान है—प्रत्येक देहमें भिन्न-भिन्न चेतन नहीं है उसका पहले ही स्पष्टीकरण कर दिया गया है॥ १३॥

(२) 'अध्यारोप और अपवादके द्वारा प्रपञ्चहीन परब्रह्मका विस्तार किया जाता है' इस न्यायका अनुसरण कर सम्पूर्ण प्रपञ्चके आरोपद्वारा 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इसकी व्याख्याकी गयी है। अब उसके अपवादद्वारा निरुपाधिक स्वरूपके ज्ञानके लिये 'न सत्तन्नासदुच्यते' इसकी व्याख्या करना आरम्भ करते हैं—

[श्लोकार्थः—वह समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियव्यापारोंके

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

(१) परमार्थतः सर्वेन्द्रियविवर्जितं तन्मायया सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेषां बहिष्करणानां श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य च बुद्धिमनसोर्गुणैरध्यवसायसंकल्पश्रवणवचनादिभिस्तद्विषयरूपतयाऽवभासत इव सर्वेन्द्रियव्यापारैर्व्यापृतमिव तज्ज्ञेयं ब्रह्म 'ध्यायतीव लेलायतीव' इतिश्रुतेः । अत्र ध्यानं बुद्धीन्द्रियव्यापारोपलक्षणम् । लेलायनं चलनं कर्मेन्द्रियव्यापारोपलक्षणार्थम् ।

(२) तथा परमार्थतोऽसक्तं सर्वसंबन्धशून्यमेव, मायया सर्वभृच्च सदात्मना सर्वं कल्पितं धारयति पोषयतीति च सर्वभृत्, निरधिष्ठानभ्रमायोगात् । तथा परमार्थतो निर्गुणं सत्त्वरजस्तमोगुणरहितमेव, गुणभोक्तृ च गुणानां सत्त्वरजस्तमसां शब्दादिद्वारा सुखदुःखमोहाकारेण परिणतानां भोक्तृ उपलब्धृ च तज्ज्ञेयं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

(३) भूतानां भवनधर्मणां सर्वेषां कार्याणां कल्पितानामकल्पितमधिष्ठानमेकमेव बहिरन्तश्च रज्जुरिव स्वकल्पितानां सर्पधारादीनां सर्वात्मना व्यापकमित्यर्थः । अत एवाचरं स्थावरं चरं च जङ्गमं भूतजातं तदेवाधिष्ठानात्मकत्वात् । कल्पितानां न ततः किंचिद्व्यतिरिच्यत इत्यर्थः । एवं

विषयरूपसे भासता है तथा सर्वसम्बन्धशून्य, सबका भरण करनेवाला, निर्गुण और गुणोंका भोक्ता है ॥ १४ ॥]

(१) वह ब्रह्म परमार्थतः समस्त इन्द्रियोंसे रहित होकर भी मायावश सर्वेन्द्रिय-गुणाभास है—श्रोत्रादि बाह्येन्द्रिय और बुद्धि एवं मन आदि अन्तरिन्द्रियोंके निश्चय, संकल्प, श्रवण और भाषण आदि गुणोंसे मानो उन-उनके विषयरूपसे भासित होता है अर्थात् वह ब्रह्म समस्त इन्द्रिय-व्यापारोंसे व्यापारयुक्त-सा है; जैसा कि 'ध्यान करता हुआ-सा, चेष्टा करता हुआ-सा' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । यहाँ ध्यान तो ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापारका उपलक्षण है तथा लेलायन—चलन कर्मेन्द्रियोंके व्यापारका उपलक्षण करानेके लिये है ।

(२) इसी प्रकार वह परमार्थतः असक्त—सर्वसम्बन्धशून्य ही है, किन्तु मायासे सर्वभृत् भी है जो सद्रूपसे सम्पूर्ण कल्पित पदार्थोंको धारण और पोषण करे वह सर्वभृत् कहलाता है, क्योंकि बिना अधिष्ठानके कोई भ्रम नहीं होता । इसी तरह वह परमार्थतः निर्गुण—सत्त्व, रज और तमोगुणसे रहित ही है तथा गुणोंका भोक्ता भी है, अर्थात् सुख, दुःख और मोहमें परिणत हुए सत्त्व, रज और तम इन गुणोंका भोग—ग्रहण करनेवाला है । तात्पर्य यह है कि वही ब्रह्म ज्ञेय है ॥ १४ ॥

[श्लोकार्थः—वह भूतोंके बाहर और भीतर है, अतः वही स्थावर और जंगम भूत भी है । वह सूक्ष्म होनेके कारण जाना नहीं जाता तथा दूरवर्ती भी है और समीप भी है ॥ १५ ॥]

(३) जिस प्रकार रस्सी अपनेमें कल्पित सर्प और धारादिके बाहर-भीतर व्याप्त रहती है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों—उत्पत्तिधर्मवाले कल्पित कार्योंका एक अकल्पित ब्रह्म ही अधिष्ठान है और वह सर्वात्मभावसे उनमें बाहर-भीतर व्याप्त है—ऐसा इसका तात्पर्य है । इसीसे अधिष्ठानरूप होनेके कारण वही अचर—स्थावर और चर—जंगम भूत-

सर्वात्मकत्वेऽपि सूक्ष्मत्वाद्रूपादिहीनत्वात्तदविज्ञेयमिदमेवमिति स्पष्टज्ञानार्हं न भवति । अत एवाऽऽत्मज्ञानसाधनशून्यानां वर्षसहस्रकोट्याऽप्यप्राप्यत्वाद् दूरस्थं च योजनलक्षकोट्यन्तरितमिव तत् । ज्ञानसाधनसंपन्नानां तु अन्तिके च तदत्यब्यवहितमेवाऽऽत्मत्वात् । 'दूरात्सुदूरे तद्विहान्तिके च पश्यस्विहैव निहितं गुहायाम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ १५ ॥

(१) यदुक्तमेकमेव सर्वमावृत्य तिष्ठतीति तद्विवृणोति प्रतिदेहमात्मभेदवादिनां निरासाय—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

(२) भूतेषु सर्वप्राणिषु अविभक्तमभिन्नमेकमेव तत्, न तु प्रतिदेहं भिन्नं व्योमवत्सर्वव्यापकत्वात् । तथाऽपि देहतादात्म्येन प्रतीयमानत्वात्प्रतिदेहं विभक्तमिव च स्थितम् । औपाधिकत्वेनापारमार्थिको व्योम्नीव तत्र भेदावभास इत्यर्थः । ननु भवतु क्षेत्रज्ञः सर्वव्यापक एकः, ब्रह्म तु जगत्कारणं ततो भिन्नमेवेति नेत्याह भूतभर्तृ च भूतानि सर्वाणि स्थितिकाले बिभर्तीति तथा प्रलयकाले ग्रसिष्णु ग्रसनशीलमुत्पत्तिकाले प्रभविष्णु च प्रभवनशीलं सर्वस्य । यथा रज्ज्वादिः

समुदाय है । अर्थात् कल्पित पदार्थोंमें उससे पृथक् कुछ भी नहीं है । इस प्रकार सर्वात्मक होनेपर भी सूक्ष्म और रूपादि हीन होनेके कारण वह अविज्ञेय है, अर्थात् 'यही है' इस प्रकारके स्पष्ट ज्ञानके योग्य नहीं है । इसीलिये आत्मज्ञानके साधनसे रहित पुरुषोंको सहस्र करोड़ वर्षोंमें भी प्राप्त होनेवाला न होनेके कारण वह दूरस्थ—लाखों-करोड़ों योजनके व्यवधानवाला-सा है, किन्तु जो ज्ञानके साधनोंसे सम्पन्न हैं उनके तो समीप ही है—आत्मा होनेके कारण अत्यन्त व्यवधानशून्य ही है । यह बात 'वह दूरसे भी दूर है और समीप भी है; ज्ञानियोंके लिये तो वह यहाँ हृदयगुहामें ही छिपा हुआ है' इत्यादि श्रुतियोंसेभी सिद्ध होती है ॥ १५ ॥

(१) ऐसा जो कहा कि वह अकेला ही सबको व्याप्त करके स्थित है उसका प्रत्येक शरीरमें आत्माओंकी भिन्नता बतलानेवालोंका निराकरण करनेके लिये स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—वह समस्त प्राणियोंमें विभक्त न होनेपर भी विभक्त हुआ-सा स्थित है । उसे भूतोंका भरण करनेवाला, ग्रस करनेवाला और उत्पत्ति करनेवाला जानना चाहिये ॥ १६ ॥]

(२) भूतोंमें—समस्त प्राणियोंमें वह अविभक्त—अभिन्न अर्थात् एक ही है, प्रत्येक देहमें भिन्न-भिन्न नहीं है, क्योंकि वह आकाशके समान सर्वव्यापक है । तो भी देहके तादात्म्यसे प्रतीत होनेवाला होनेके कारण वह प्रत्येक देहमें पृथक्-सा स्थित है । तात्पर्य यह है कि आकाशमें प्रतीत होनेवाले घटाकाशादि भेदके समान औपाधिक होनेके कारण उसमें अवास्तविक भेदकी प्रतीति होती है । यदि अर्जुन कहे कि 'क्षेत्रज्ञ सर्वव्यापक और एक भले ही हो, किन्तु जगत्का कारणभूत ब्रह्म तो उससे पृथक् ही है' तो इसपर भगवान् कहते हैं—नहीं, वह भूतभर्तृ है अर्थात् जो स्थितिकालमें समस्त भूतोंका भरण करता है ऐसा है तथा सभीका प्रलयकालमें ग्रसिष्णु—ग्रसनशील और उत्पत्तिकालमें प्रभविष्णु—उत्पत्तिशील है जिस प्रकार कि मायाकल्पित सर्पादिकी उत्पत्ति आदिके कारण रज्जु आदि हैं । अतः तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्म संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका

सर्पादेर्मायाकल्पितस्य । तस्माद्यज्जगतः स्थितिलयोत्पत्तिकारणं ब्रह्म तदेव क्षेत्रज्ञं प्रतिदेहमेकं ज्ञेयं न न ततोऽन्यदित्यर्थः ॥ १६ ॥

(१) ननु सर्वत्र विद्यमानमपि तल्लोपलभ्यते चेत्तर्हि जडमेव स्यात्, न स्यात्स्वयंज्योतिषोऽपि तस्य रूपादिहीनत्वेनेन्द्रियाद्यग्राह्यत्वोपपत्तेरित्याह—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

(२) तज्ज्ञेयं ब्रह्म ज्योतिषामवभासकानामादित्यादीनां बुद्ध्यादीनां च बाह्यानामान्तराणामपि ज्योतिरवभासकं चैतन्यज्योतिषो जडज्योतिरवभासकत्वोपपत्तेः । 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । वक्ष्यति च—'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादि ।

(३) स्वयंजडत्वाभावेऽपि जडसंसृष्टं स्यादिति नेत्याह—तमसो जडवर्गात्परमविद्यातत्कार्याभ्यामपारमार्थिकाभ्यामसंस्पृष्टं पारमार्थिकं तद्ब्रह्म सदसतोः संबन्धायोगात् । उच्यते 'अक्षरात्परतः परः' इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मवादिभिश्च । तदुक्तम्—

'निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विकारिणा । आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते ॥'

(४) 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इति श्रुतेश्च । आदित्यवर्णमिति स्वभाने प्रकाशान्तरानपेक्षं सर्वस्य प्रकाशकमित्यर्थः । यस्मात्तत्स्वयंज्योतिर्जडासंस्पृष्टमत एव तज्ज्ञानं प्रमाणजन्यचेतोवृत्त्यभिव्यङ्ग्यं

कारण है वही क्षेत्रज्ञ है और वह एक ही ज्ञेय प्रत्येक शरीरमें व्याप्त है, वह ब्रह्मसे भिन्न नहीं है ॥ १६ ॥

(१) यदि ऐसी शंका हो कि सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी जब उसकी उपलब्धि नहीं होती तो वह जड ही होना चाहिये तो इसपर कहते हैं कि स्वयंप्रकाश होनेपर भी रूपादिहीन होनेके कारण उसका इन्द्रियादिसे अग्राह्य होना ठीक ही है—

[श्लोकार्थः—वह प्रकाशक पदार्थोंका भी प्रकाशक और जडवर्गसे परे कहा जाता है । वह ज्ञानस्वरूप, ज्ञेय और ज्ञानके साधनोंद्वारा जानने योग्य तथा विशेष रूपसे सबके हृदयमें स्थित है ॥ १७ ॥]

(२) वह ज्ञेय ब्रह्म ज्योतियोंका—सूर्यादि बाह्य और बुद्धि आदि आन्तर प्रकाशकोंका प्रकाशक है, क्योंकि चैतन्यज्योतिका जडज्योतियोंका प्रकाशक होना उचित ही है । 'जिसके तेजसे दीप्त होकर सूर्य तपता है' 'उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित है' इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही सिद्ध होता है । 'यही बात 'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादि वाक्यसे कहेंगे ।

(३) 'स्वयं जड न होनेपर भी वह जडसे मिला हुआ होगा' इसपर कहते हैं, 'नहीं, वह तम अर्थात् जडवर्गसे परे है । वह पारमार्थिक ब्रह्म अविद्या और उसके कार्योंसे, जो अपारमार्थिक हैं, असंस्पृष्ट है, क्योंकि सत् और असत्का सम्बन्ध नहीं हो सकता । यह बात 'वह अक्षर (प्रकृति) से परे (जीव)से भी परे हैं' इत्यादि श्रुतियों और ब्रह्मवादियोंने भी कही है । कहा भी है—'निःसङ्ग और कूटस्थ आत्माका संगयुक्त और विकारी अनात्मासे वास्तविक सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है । यही बात 'आदित्यवर्ण (सूर्यके समान प्रकाशवाला) और अज्ञानसे परे' इस श्रुतिसे भी सिद्ध होती है । आदित्यवर्ण—जिसे अपने प्रकाशनमें दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं है, अर्थात् सबका प्रकाशक ।

(४) क्योंकि वह स्वयंप्रकाश और जडवर्गसे असंग है, इसलिये वह ज्ञान—प्रमाणजन्य चित्तकी वृत्तिमें अभिव्यक्त शुद्ध संवित्स्वरूप है, इसीसे वही ज्ञेय है—जाननेके

योग्य है, क्योंकि जडवर्ग अज्ञात है अतः अज्ञातत्वके अभावपूर्वक जाननेके योग्य नहीं है । 'तो फिर सबको उसका ज्ञान क्यों नहीं होता ?' इसपर कहते हैं—वह ज्ञानगम्य है अर्थात् ज्ञानके हेतु होनेके कारण जिन्हें 'ज्ञान' शब्दसे कहा है उन पहले बताये हुए अमानित्वसे लेकर तत्त्वज्ञानार्थदर्शनपर्यन्त साधनकलापसे गम्य—प्राप्त होने योग्य है, उसके बिना नहीं । 'यदि वह साधनसे प्राप्त होनेवाला है तो क्या देशान्तरसे व्यवहित है ?' इसपर कहते हैं—नहीं, वह सबके हृदयमें स्थित है । अर्थात् समस्त प्राणिसमुदायके हृदय—बुद्धिमें स्थित है । सामान्यरूपसे सर्वत्र विद्यमान होनेपर भी वह विशेषरूपसे अर्थात् जीव या अन्तर्यामीरूपसे अभिव्यक्त होनेके कारण वहाँ स्थित है, जैसे सूर्यका तेज सर्वव्यापक होनेपर भी दर्पण या सूर्यकान्तमणि आदिमें विशेषरूपसे अभिव्यक्त होता है । तात्पर्य यह है कि वस्तुतः व्यवधानशून्य होनेपर भी जो भ्रान्तिवश व्यवहित-सा हो रहा है वह ब्रह्म सब प्रकारके भ्रमके कारण अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर मानो प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥

(१) क्षेत्रादिका वर्णन किया गया, अब अधिकारी और फलका वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थः—इस प्रकार यह क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका संक्षेपमें वर्णन किया गया । मेरा भक्त इसे जानकर मोक्ष पानेके योग्य हो जाता है ॥ १८ ॥]

(२) इस तरह—पूर्वोक्त प्रकारसे महाभूतोंसे लेकर धृतिपर्यन्त क्षेत्र, अमानित्वसे लेकर तत्त्वज्ञानार्थदर्शनपर्यन्त ज्ञान और 'अनादिमत्परं ब्रह्म' से लेकर 'विष्ठितम्' तकके ग्रन्थ से ज्ञेय—इन तीनोंका मैंने मन्दबुद्धि पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये श्रुति और स्मृतियोंसे आकर्षण करके संक्षेपमें वर्णन किया । इतनाही सारे वेदोंका तात्पर्य है और यही गीताका भी अभिप्राय है । इसमें पिछले अध्यायमें बताये हुए लक्षणोंवाला मेरा भक्त ही अधिकारी है—ऐसा अब बताते हैं—मेरा भक्त मुझ परम गुरु भगवान् वासुदेवमें जिसने अपने सम्पूर्ण भावको समर्पित कर दिया है अर्थात् जो एकमात्र मेरी शरणमें

लक्षणो मद्भक्त एवाधिकारीत्याह—मद्भक्तो मयि भगवति वासुदेवे परमगुरौ समर्पितसर्वात्मभावो मदेकशरणः स एतद्यथोक्तं क्षेत्रं ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञाय विवेकेन विदित्वा मद्भावाय सर्वानर्थशून्यपरमानन्दभावाय मोक्षायोपपद्यते मोक्षं प्राप्तुं योग्यो भवति ।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥' इति श्रुतेः ।

तस्मात्सर्वदा मदेकशरणः सन्नात्मज्ञानसाधनान्येव परमपुरुषार्थलिप्सुरनुवर्तेत तुच्छविषयभोगस्पृहां हित्वेत्यभिप्रायः ॥ १८ ॥

(१) तदनेन ग्रन्थेन तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्चेत्येतद्व्याख्यातमिदानीं 'यद्विकारि यतश्च यत् । स च यो यत्प्रभावश्च' इत्येतावद्व्याख्यातव्यम् । तत्र प्रकृतिपुरुषयोः संसारहेतुत्वकथनेन यद्विकारि यतश्च यदिति प्रकृतिमित्याद्विद्धाभ्यां प्रपद्यते । स च यो यत्प्रभावश्चेति तु पुरुष इत्यादिद्वाभ्यामिति विवेकः । तत्र सूत्रम ईश्वरस्य द्वे प्रकृती परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे उपन्यस्यैतद्योनीनि भूतानीत्युक्तम्, तत्रापरा प्रकृतिः क्षेत्रलक्षणा परा तु जीवलक्षणेति तयोरनादित्वमुक्त्वा तदुभययोनित्वं भूतानामुच्यते—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

(२) प्रकृतिर्मायाख्या त्रिगुणात्मिका पारमेश्वरी शक्तिः क्षेत्रलक्षणा या प्रागपरा प्रकृतिः

आगया है वह इस उपर्युक्त क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयको 'विज्ञाय'—विवेकपूर्वक जानकर 'मद्भावाय'—सम्पूर्ण अनर्थोंसे शून्य परमानन्दभाव अर्थात् मोक्षके लिये उपपन्न होता है यानी मोक्षपानेयोग्य हो जाता है, जैसा कि 'जिसकी भगवान्‌में अत्यन्त भक्ति है और जैसी भगवान्‌में है वैसी ही गुरुमें है उस महात्माके प्रति ये कही हुई बातें प्रकाशित हो जाती हैं' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । अतः जिसे परमपुरुषार्थके पानेकी इच्छा हो उसे तुच्छ विषयभोगोंकी इच्छा छोड़कर आत्मज्ञानके साधनोंका ही अनुवर्तन करना चाहिये—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ १८ ॥

(१) इस प्रकार इस ग्रन्थसे 'वह क्षेत्र जो कुछ है और जैसा है' इसकी व्याख्या की गयी । अब 'वह जैसे विकारवाला है, और जहाँसे जो हुआ है, तथा वह जो और जैसे प्रभाववाला है' इसकी व्याख्या करनी है । सो प्रकृति और पुरुषको संसारका हेतु बताकर 'प्रकृतिम्' इत्यादि दो श्लोकोंसे तो 'जैसे विकारवाला और जहाँसे जो हुआ है' इसका विवरण किया गया है तथा 'पुरुषः' इत्यादि दो श्लोकोंसे 'वह जो और जैसे प्रभाववाला है' इसकी व्याख्या की गयी है । इस प्रकार इनको अलग-अलग समझ लेना चाहिये । सातवें अध्यायमें ईश्वरकी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूपा परा और अपरासे प्रकृतियाँ बताकर यह कहा गया है कि ये ही समस्त भूतोंकी योनि हैं । सो अब 'अपरा प्रकृति क्षेत्ररूपा और परा प्रकृति क्षेत्रज्ञरूपा है' ऐसा कहकर भूतोंको उन्हीं दोनों योनियोंवाला बताया जाता है—

[श्लोकार्थः—प्रकृति और पुरुष इन दोनोंहीको तुम अनादि जानो तथा विकारों और गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न हुए जानो ॥ १९ ॥]

(२) प्रकृति माया नामकी परमेश्वरकी त्रिगुणात्मिका शक्ति है । यह क्षेत्ररूपा है, जिसे पहले अपरा प्रकृति कहा है । जो जीवनाम्नी परा प्रकृति पहले कही है वह

रित्युक्ता । या तु परा प्रकृतिर्जीवाख्या प्रागुक्ता स इह पुरुष इत्युक्त इति न पूर्वापरविरोधः । प्रकृतिं पुरुषं चोभावपि अनादी एव विद्धि, न विद्यत आदिः कारणं ययोस्तौ । तथा प्रकृतेरनादित्वं सर्वजगत्कारणत्वात् । तस्या अपि कारणापेक्षत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । पुरुषस्यानादित्वं तद्धर्माधर्मप्रयुक्तत्वात्कृत्स्नस्य जगतः, जातस्य हर्षशोकभयसंप्रतिपत्तेः । अन्यथा कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । यतः प्रकृतिरनादिरतस्तस्या भूतयोनित्वमुक्तं प्रागुपपद्यत इत्याह—विकारांश्च षोडश पञ्च महाभूतान्येकादशेन्द्रियाणि च गुणांश्च सत्त्वरजस्तमोरूपान्सुखदुःखमोहान्प्रकृतिसंभवानेव प्रकृतिकारणकानेव विद्धि जानीहि ॥ १९ ॥

(१) विकाराणां प्रकृतिसंभवत्वं विवेचयन्पुरुषस्य संसारहेतुत्वं दर्शयति—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

(२) कार्यं शरीरं करणानीन्द्रियाणि तत्स्थानि त्रयोदश देहारम्भकाणि भूतानि विषयाश्चेह कार्यग्रहणेन गृह्यन्ते । गुणाश्च सुखदुःखमोहात्मकाः करणाश्रयत्वात्करणग्रहणेन गृह्यन्ते । तेषां कार्यकरणानां कर्तृत्वे तदाकारपरिणामे हेतुः कारणं प्रकृतिरुच्यते महर्षिभिः । कार्यकारणेति दीर्घपाठेऽपि स एवार्थः । एवं प्रकृतेः संसारकारणत्वं व्याख्याय पुरुषस्यापि यादृशं तत्तदाह—पुरुषः क्षेत्रज्ञः परा

यहाँ 'पुरुष' कही गयी है, इसलिये पूर्वापरमें विरोध नहीं है । प्रकृति और पुरुष इन दोनों हीको तुम अनादि ही जानो । जिनका आदि—कारण न हो उन्हें अनादि कहते हैं । सारे जगत्‌का कारण होनेसे प्रकृतिकी अनादिता है, क्योंकि उसे भी कारणकी अपेक्षायुक्त माना जाय तो अनवस्थाका प्रसंग होगा । तथा पुरुषकी अनादिता पुरुषके धर्माधर्मके कारण ही सम्पूर्ण जगत्‌की प्रवृत्ति होनेके कारण है । इसीसे उत्पन्न होनेवाले जीवको हर्ष, शोक और भयकी प्राप्ति होती है, नहीं तो किये हुए कर्मके नाश और बिना किये हुए कर्मके फल प्राप्त होनेका प्रसंग उपस्थित होगा । क्योंकि प्रकृति अनादि है, इसलिये उसे जो पहले भूतोंकी योनि कहा है वह ठीक ही है—यही बात 'विकारान्' इत्यादिसे कहते हैं । अर्थात् पाँच भूत और ग्यारह इन्द्रियाँ इन सोलह विकारोंको तथा गुणोंको—सत्त्व, रज और तमरूप सुख-दुःख और मोहको प्रकृतिसम्भव अर्थात् प्रकृतिरूप कारणवाले ही जानो ॥ १९ ॥

(१) विकारोंके प्रकृतिसे उत्पन्न होनेका विवेचन करते हुए पुरुषकी संसारहेतुता प्रदर्शित करते हैं—

[श्लोकार्थः—कार्य और करणोंके कर्तृत्वमें प्रकृति हेतु कही जाती है तथा सुख-दुःखोंके भोक्तृत्वमें पुरुष हेतु कहा जाता है ॥ २० ॥]

(२) कार्य शरीरको और करण उसमें स्थित तेरह इन्द्रियोंको कहा है । देहके आरम्भकभूत और विषयोंका ग्रहण यहाँ कार्यके ग्रहणसे होता है तथा सुख-दुःख और मोहरूप गुण करणोंके आश्रित होनेके कारण करणके ग्रहणसे ग्रहण किये जाते हैं । उन कार्य और करणोंके कर्तृत्व—तदाकार परिणाममें महर्षियोंने प्रकृतिको हेतु—कारण बताया है । यहाँ 'कार्यकारण' इस प्रकार दीर्घपाठ होनेपर भी यही अर्थ होगा । इस प्रकार प्रकृतिकी संसारकारणताकी व्याख्या कर जिस प्रकार पुरुषकी भी संसारकारणता है वह बताते हैं । पुरुष—क्षेत्रज्ञ, जिसकी परा प्रकृतिरूपसे व्याख्या की गयी है, वह सुख-दुःख

प्रकृतिरिति प्राग्व्याख्यातः । स सुखदुःखानां सुखदुःखमोहानां भोग्यानां सर्वेषामपि भोक्तृत्वे वृत्त्युपरक्तोपलम्भे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

(१) यत्पुरुषस्य सुखदुःखभोक्तृत्वं संसारित्वमित्युक्तं तस्य किं निमित्तमित्युच्यते—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

(२) प्रकृतिर्माया तां मिथ्यैव तादात्म्येनोपगतः प्रकृतिस्थो हि एव पुरुषो भुङ्क्ते उपलभते प्रकृतिजान्गुणान् । अतः प्रकृतिजगुणोपलम्भहेतुषु सदसद्योनिजन्मसु सद्योनयो देवाद्यास्तेषु हि सात्त्विकमिष्टं फलं भुज्यते । असद्योनयः पश्वाद्यास्तेषु हि तामसमनिष्टं फलं भुज्यते । सदसद्योनयो धर्माधर्ममिश्रत्वाद् ब्राह्मणाद्या मनुष्यास्तेषु हि राजसं मिश्रं फलं भुज्यते । अतस्तत्रास्य पुरुषस्य गुणसङ्गः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकप्रकृतितादात्म्याभिमान एव कारणम् । न त्वसङ्गस्य तस्य स्वतः संसार इत्यर्थः । अथवा गुणसङ्गो गुणेषु शब्दादिषु सुखदुःखमोहात्मकेषु सङ्गोऽभिलाषः काम इति यावत् । स एवास्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं 'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' इति श्रुतेः । अस्मिन्नपि पक्षे मूलकारणत्वेन प्रकृतितादात्म्याभिमानो द्रष्टव्यः ॥ २१ ॥

अर्थात् सुख-दुःख और मोह इन सभी भोग्योंके भोक्तृत्वमें अर्थात् वृत्तिने जिनका आकार धारण किया है उन विषयोंके ग्रहणमें हेतु कहा जाता है ॥ २० ॥

(१) पुरुषका जो सुख-दुःखभोक्तृत्व और संसारित्व कहा गया है उसका क्या कारण है, सो कहा जाता है—

[श्लोकार्थः—पुरुष प्रकृतिमें स्थित होकर ही प्रकृतिजनित गुणोंका भोग करता है। यह गुणोंका संग ही इसके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है ॥ २१ ॥]

(२) प्रकृति मायाको कहते हैं उसके तादात्म्यको मिथ्या ही प्राप्त हुआ अर्थात् प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिजनित गुणोंको भोगना—उपलब्ध करता है। अतः प्रकृतिजनित गुणोंकी उपलब्धिको हेतुभूता सत् और असत् योनियोंमें—देवादि योनियाँ सत् है, क्योंकि इनमें सात्त्विक और इष्ट फलका ही भोग किया जाता है; पशु आदि योनियाँ असत् हैं, क्योंकि उनमें तमोगुणी और अनिष्ट फल ही भोगा जाता है तथा धर्माधर्ममिश्रित होनेके कारण ब्राह्मणादि मनुष्य सदसत् योनिवाले हैं, क्योंकि उनमें रजोगुणी मिश्र फल भोगा जाता है। अतः उस (संसारकी प्राप्ति) में इस पुरुषका गुणसंग—सत्त्व, रज और तमोगुणात्मिका प्रकृतिसे तादात्म्यका अभिमान ही कारण है; तात्पर्य यह है कि असङ्ग पुरुषको स्वतः संसारकी प्राप्ति नहीं होती। अथवा गुणसंग—गुणोंमें यानी सुख-दुःख और मोहात्मक शब्दादि विषयोंमें जो संग—अभिलाषा अर्थात् काम है वही इसके सत्-असत् योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है। यह बात 'वह जैसे संकल्पवाला होता है वैसी देवाराधना करता है, जैसी देवाराधना करनी होती है वैसा कर्म करता है, और जैसा कर्म करता है वैसा फल पाता है' इस श्रुतिसे सिद्ध होती है। इस पक्षमें भी मूलकारणरूपसे पुरुषका प्रकृतिके साथ तादात्म्याभिमान ही समझना चाहिये ॥ २१ ॥

(१) तदेवं प्रकृतिमिथ्यातादात्म्यात्पुरुषस्य संसारो न स्वरूपेणेत्युक्तं, कीदृशं पुनस्तस्य स्वरूपं यत्र न संभवति संसार इत्याकाङ्क्षायां तस्य स्वरूपं साक्षान्निर्दिशन्नाह—

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

(२) अस्मिन्प्रकृतिपरिणामे देहे जीवरूपेण वर्तमानोऽपि पुरुषः परः प्रकृतिगुणासंसृष्टः परमार्थतोऽसंसारी स्वेन रूपेणेत्यर्थः । यत उपद्रष्टा यथर्त्विग्यजमानेषु यज्ञकर्मव्यापृतेषु तत्समीपस्थोऽन्यः स्वयमव्यापृतो यज्ञविद्याकुशलत्वाद्ऋत्विग्यजमानव्यापारगुणदोषाणामीक्षिता तद्वत्कार्यकरणव्यापारेषु स्वयमव्यापृतो विलक्षणस्तेषां कार्यकरणानां सव्यापाराणां समीपस्थो द्रष्टा न तु कर्ता पुरुषः 'स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः ।

(३) अथवा देहचक्षुर्मनोबुद्ध्यात्मसु द्रष्टृषु मध्ये बाह्यान्देहादीनपेक्ष्यात्यन्तव्यवहितो द्रष्टाऽऽत्मा पुरुष उपद्रष्टा । उपशब्दस्य सामीप्यार्थत्वात्तस्य चाव्यवधानरूपस्य प्रत्यगात्मन्येव पर्यवसानात् । अनुमन्ता च कार्यकरणप्रवृत्तिषु स्वयमप्रवृत्तोऽपि प्रवृत्त इव संनिधिमात्रेण तदनुकूलत्वादनुमन्ता । अथवा स्वव्यापारेषु प्रवृत्तान्देहेन्द्रियादीन्न निवारयति कदाचिदपि तत्साक्षिभूतः पुरुष इत्यनुमन्ता, 'साक्षी चेता' इति श्रुतेः । भर्ता देहेन्द्रियमनोबुद्धीनां संहतानां चैतन्याभासविशिष्टानां स्वसत्तया

(१) इस प्रकार यह बताया गया कि प्रकृतिके मिथ्या तादात्म्यसे ही पुरुषको संसारकी प्राप्ति हुई है, स्वरूपसे नहीं। तो फिर उसका स्वरूप कैसा है जिसमें कि संसार होना सम्भव ही नहीं है ? ऐसा प्रश्न होनेपर उसके स्वरूपका साक्षात् निर्देश करते हुए कहते हैं—

[श्लोकार्थः—इस शरीरमें रहनेवाला प्रकृतिके गुणोंसे असंग पुरुष उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा इन शब्दोंसे कहा जाता है ॥ २२ ॥]

(२) प्रकृतिके परिणामभूत इस शरीरमें जीवरूपसे वर्तमान रहनेपर भी पुरुष पर—प्रकृतिके गुणोंसे असंश्लिष्ट है अर्थात् परमार्थतः अपने स्वरूपसे असंसारी है, क्योंकि वह उपद्रष्टा है। जिस प्रकार ऋत्विज और यजमानके यज्ञकर्मोंमें संलग्न रहते समय उनके समीपमें स्थित एक अन्य याजक (ब्रह्मा) यज्ञविद्यामें कुशल होनेके कारण स्वयं व्यापार न करते हुए भी ऋत्विज और यजमानके कार्योंके गुण-दोषोंका साक्षी रहता है, उसी प्रकार शरीर और इन्द्रियोंके व्यापारोंमें स्वयं निर्व्यापार रहते हुए भी उनसे विलक्षण पुरुष उनके समीप रहकर उन देह और इन्द्रियोंके व्यापारोंका साक्षी रहता है उनका कर्ता नहीं होता। यह बात 'वह वहाँ जो कुछ देखता है उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि यह पुरुष असंग है' इस श्रुतिसे प्रमाणित होती है।

(३) अथवा शरीर, नेत्र, मन, बुद्धि और आत्मा (जीव) रूप द्रष्टाओंमें बाह्य देहादिकी अपेक्षा आत्मा अर्थात् पुरुष अत्यन्त समीपवर्ती द्रष्टा—उपद्रष्टा है। उप शब्द सामीप्य अर्थमें है अतः अव्यवधानरूप उस सामीप्यका प्रत्यगात्मामें ही पर्यवसान होता है अनुमन्ता है अर्थात् देह और इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियोंमें स्वयं प्रवृत्त न होनेपर भी उनके अनुकूल होनेके कारण सन्निधिमात्रसे प्रवृत्त-सा रहता है, इसलिये अनुमन्ता है। अथवा अपने व्यापारोंमें प्रवृत्त हुए देहादिको उनका साक्षिभूत पुरुष कभी नहीं रोकता—इसलिये, 'साक्षी और चेता है' इस श्रुतिके अनुसार वह अनुमन्ता है। तथा भर्ता है—चैतन्यके अध्याससे युक्त एवं परस्पर मिले हुए देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको अपनी सत्ता और

स्फूर्तिसे धारण—पोषण करनेवाला है। भोक्ता है—बुद्धिके सुख-दुःख और मोहमय ज्ञानोंको अपने स्वरूप चैतन्यसे प्रकाशित करता है अतः निर्विकार रहते हुए ही उन्हें उपलब्ध करनेवाला है। महेश्वर है—सर्वात्मा और स्वतन्त्र होनेके कारण महान् है और ईश्वर है, इसलिये महेश्वर है। तथा परमात्मा है—अविद्यावश आत्मरूपसे कल्पित देहसे लेकर बुद्धि पर्यन्त सभीका परम—प्रकृष्ट अर्थात् उपद्रष्टृत्वादि पूर्वोक्त विशेषणोंसे विशिष्ट आत्मा है इसलिये श्रुतिमें 'परमात्मा' इस शब्दसे भी कहा गया है। 'च' शब्दसे यह सूचित किया है कि उपद्रष्टा आदि शब्दोंसे भी वह पर पुरुष ही कहा गया है। इसीको आगे भी 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (१५।१७) इस प्रकार कहेंगे ॥२२॥

(१) इस प्रकार 'वह जो और जिस प्रभाववाला है' इसकी व्याख्या की गयी। अब 'जिसे जानकर पुरुष अमरत्व प्राप्त कर लेता है' ऐसा जो [बारहवें श्लोकमें] कहा गया है उसका उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष इस प्रकार गुणोंके सहित पुरुष और प्रकृतिको जानता है वह सब प्रकार वर्तते हुए भी फिर जन्म नहीं लेता ॥ २३ ॥]

(२) जो इस तरह उपर्युक्त प्रकारसे पुरुषको जानता अर्थात् 'यह मैं हूँ' इस प्रकार उसका साक्षात्कार करता है तथा प्रकृति यानी अविद्याको, जो अपने विकारोंके सहित मिथ्याभूत है, आत्मज्ञानसे 'मेरा अज्ञान और उसका कार्य—ये दोनों निवृत्त हो गये' इस प्रकार बाधित जानता है, वह सब प्रकार अर्थात् प्रारब्ध कर्मके कारण इन्द्रके समान विधिका उल्लङ्घन करके वर्ताव करने पर भी फिर जन्म नहीं लेता—इस विद्वद्देहका पतन होनेपर पुनः देह ग्रहण नहीं करता, क्योंकि विद्याके द्वारा अविद्याके नष्ट कर दिये जानेपर उसके कार्यका असम्भव हो जाना तो कई प्रकारसे बताया गया है। यह बात 'उस आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेपर आगामी पाप-पुण्यका संसर्ग नहीं होता तथा पूर्वकृत पाप-पुण्य नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि श्रुतिने ऐसा ही कहा है' इस सूत्रोक्त न्यायसे सिद्ध

(१) अत्राऽऽत्मदर्शने साधनविकल्पा इमे कथ्यन्ते—

ध्यानेनाऽऽत्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन(ण) चापरे ॥ २४ ॥

(२) इह हि चतुर्विधा जनाः केचिदुत्तमाः केचिन्मध्यमाः केचिन्मन्दाः केचिन्मन्दतरा इति। तत्रोत्तमानामात्मज्ञानसाधनमाह—ध्यानेन विजातीयप्रत्ययानन्तरितेन सजातीयप्रत्ययप्रवाहेण श्रवण-मननफलभूतेनाऽऽत्मचिन्तनेन निदिध्यासनशब्दोदितेनाऽऽत्मनि बुद्धौ पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति आत्मानं प्रत्यक्चेतनमात्मना ध्यानसंस्कृतेनान्तःकरणेन केचिदुत्तमा योगिनः। मध्यमानामात्मज्ञान-साधनमाह—अन्ये मध्यमाः सांख्येन योगेन निदिध्यासनपूर्वभाविना श्रवणमननरूपेण नित्यानित्यवि-वेकादिपूर्वकेणेमे गुणत्रयपरिणामा अनात्मानः सर्वे मिथ्याभूतास्तत्साक्षिभूतो नित्यो विभुर्निर्विकारः सत्यः समस्तजडसंबन्धशून्य आत्माऽहमित्येवं वेदान्तवाक्यविचारजन्येन चिन्तनेन, पश्यन्त्यात्मान-मात्मनीति वर्तते। ध्यानोत्पत्तिद्वारेणेत्यर्थः।

(३) मन्दानां ज्ञानसाधनमाह—कर्मयोगेनेश्वरार्पणबुद्धया क्रियमाणेन फलाभिसंधिरहितेन तत्तद्वर्णाश्रमोचितेन वेदविहितेन कर्मकलापेन चापरे मन्दाः, पश्यन्त्यात्मानमात्मनीति वर्तते। सत्त्व-शुद्धया श्रवणमननध्यानोत्पत्तिद्वारेणेत्यर्थः ॥ २४ ॥

होती है। 'अपि' शब्दसे यह अभिप्राय है कि जो विधिका उल्लङ्घन न करके अपने आचारमें स्थित है उसका पुनर्जन्म नहीं होना—इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ २३ ॥

(१) यहाँ आत्मदर्शनके विषयमें ये साधनोंके विकल्प कहे जाते हैं—

[श्लोकार्थः—कोई (उत्तम अधिकारी) तो अन्तःकरण द्वारा अपनी बुद्धि में आत्माका साक्षात्कार करते हैं, दूसरे कोई (मध्यम अधिकारी) सांख्यरूप योगसे और कोई दूसरे (मन्द अधिकारी) कर्मयोग द्वारा उसका साक्षात्कार करते हैं ॥ २४ ॥]

(२) इस लोकमें चार प्रकारके पुरुष हैं—कोई उत्तम हैं, कोई मध्यम हैं, कोई मन्द हैं और कोई मन्दतर हैं। इनमें उत्तमोंको आत्मज्ञानका साधन बताते हैं—कोई उत्तम योगाभ्यासी ध्यानसे—विजातीय प्रत्ययसे रहित सजातीय प्रत्ययके प्रवाहसे अर्थात् श्रवण और मननके फलस्वरूप निदिध्यासनशब्दवाच्य आत्मचिन्तनके द्वारा आत्मासे—ध्यानसंस्कृत अन्तःकरणसे आत्मामें—बुद्धिमें आत्मा अर्थात् प्रत्यक्चेतनको देखते—उसका साक्षात्कार करते हैं। अब मध्यमोंके आत्मज्ञानका साधन बताते हैं—दूसरे मध्यम अधिकारी सांख्यरूप योगसे—जिसके पहले नित्यानित्यवस्तुविवेक रहता है ऐसे निदि-ध्यासनके पूर्ववर्ती श्रवण-मननरूप विचारसे, अर्थात् 'ये तीनों गुणोंके परिणामभूत अनात्मा सब मिथ्या हैं तथा इनका साक्षिभूत नित्य विभु निर्विकार सत्य और सब प्रकारके जडवर्गके सम्बन्धसे रहित आत्मा मैं हूँ' इस प्रकारके वेदान्तवाक्यजनित चिन्तनसे 'आत्मामें आत्माका साक्षात्कार करते हैं' इस प्रकार इन पदोंकी अनुवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि वे इस प्रकार ध्यानकी उत्पत्ति द्वारा आत्माका दर्शन करते हैं।

(३) अब मन्द अधिकारियोंके ज्ञानका साधन बताते हैं—दूसरे जो मन्द अधिकारी हैं वे कर्मयोगसे—ईश्वरबुद्धिसे किये जानेवाले फलाशाशून्य तत्तद्वर्णाश्रमोचित वेदविहित कर्मकलापसे 'आत्मामें आत्माका साक्षात्कार करते हैं' इस प्रकार इन पदोंकी अनुवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि उन्हें चित्तशुद्धिके द्वारा श्रवण, मनन और निदिध्या-सनकी उत्पत्ति द्वारा आत्माका साक्षात्कार होता है ॥ २४ ॥

(१) मन्दतराणां ज्ञानसाधनमाह—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

(२) अन्ये तु मन्दतराः, तुशब्दः पूर्वश्लोकोक्तत्रिविधाधिकारिवैलक्षण्यद्योतनार्थः । एषूपायेष्वन्यतरेणाप्येवं यथोक्तमात्मानमजानन्तोऽन्येभ्यः कारुणिकेभ्य आचार्येभ्यः श्रुत्वेदमेवं चिन्तयतेत्युक्ता उपासते श्रद्दधानाः सन्तश्चिन्तयन्ति तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं संसारं श्रुतिपरायणाः स्वयं विचारासमर्था अपि श्रद्दधानतया गुरूपदेशश्रवणमात्रपरायणाः । तेऽपीत्यपिशब्दाद्ये स्वयं विचारसमर्थास्ते मृत्युमतितरन्तीति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ २५ ॥

(३) संसारस्थाऽऽविद्यकत्वाद्विद्यया मोक्ष उपपद्यत इत्येतस्यार्थस्यावधारणाय संसारतन्निवर्तकज्ञानयोः प्रपञ्चः क्रियते यावदध्यायसमाप्ति । तत्र कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मस्वित्येतत्प्रागुक्तं विवृणोति—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

(४) यावत्किमपि सत्त्वं वस्तु संजायते स्थावरं जङ्गमं वा तत्सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्, अविद्यातत्कार्यात्मकं जडमनिर्वचनीयं सदसत्त्वं दृश्यजातं क्षेत्रं तद्विलक्षणं तद्भासकं स्वप्रकाशपरमार्थ-

(१) अब मन्दतर अधिकारियोंके ज्ञानका साधन बताते हैं—

[श्लोकार्थः—दूसरे (मन्दतर अधिकारी), जो ऐसा नहीं जानते, दूसरोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं। वे श्रवण-परायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारको पार कर ही लेते हैं। २५ ॥]

(२) दूसरे भी अर्थात् मन्दतर अधिकारी भी। यहाँ 'तु' शब्द इनकी पहले बताये हुए तीन प्रकारके अधिकारियोंसे विलक्षणता सूचित करनेके लिये है। इन उपायोंमें से किसीके भी द्वारा इस प्रकारके आत्माको न जाननेवाले पुरुष दूसरोंसे—करुणामय आचार्योंसे सुनकर उनके 'इस प्रकार चिन्तन करो' ऐसा कहनेपर श्रद्धा रखकर उपासना—चिन्तन करते हैं। श्रुतिपरायण अर्थात् स्वयं विचार करनेमें असमर्थ होनेपर भी श्रद्धालु होनेके कारण केवल गुरुके उपदेशश्रवणमें तत्पर रहनेवाले वे लोग भी मृत्यु अर्थात् संसारको पार कर लेते हैं। 'तेऽपि' यहाँ 'अपि' शब्दसे यह अभिप्राय है कि जो स्वयं विचार करनेमें समर्थ हैं वे मृत्युको पार कर लेते हैं—इसमें तो कहना ही क्या है ॥ २५ ॥

(३) संसार अविद्याजनित है अतः विद्यासे इससे मुक्ति होनी सम्भव है—इस प्रकार इस बातका ही निश्चय करनेके लिये इस अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त संसार और उसकी निवृत्ति करनेवाले ज्ञानका ही विवेचन किया जाता है। सो अब 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इस पहले आये हुए वाक्यका स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे भरतश्रेष्ठ ! जितनी भी स्थावर-जंगम वस्तु उत्पन्न होती है उसे तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न हुई समझो ॥ २६ ॥]

(४) हे भरतश्रेष्ठ ! जो कुछ भी सत्त्व—स्थावर-जंगम वस्तु उत्पन्न होती है उस सबको तुम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हुई जानो । अर्थात् अविद्या और उसका

सर्वैतन्यमसङ्गोदासीनं निर्धर्मकमद्वितीयं क्षेत्रज्ञं तयोः संयोगो मायावशादितरेतराविवेकनिमित्तो मिथ्यातादात्म्याध्यासः सत्यानृतमिथुनीकरणात्मकः, तस्मादेव संजायते तत्सर्वं कार्यजातमिति विद्धि हे भरतर्षभ । अतः स्वरूपाज्ञाननिबन्धनः संसारः स्वरूपज्ञानाद्विनंष्टुमर्हति स्वप्नादिवदित्यभिप्रायः ॥ २६ ॥

(१) एवं संसारमविद्यात्मकमुक्त्वा तन्निवर्तकविद्याकथनाय य एवं वेत्ति पुरुषमिति प्रागुक्तं विवृणोति—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

(२) सर्वेषु भूतेषु भवनधर्मकेषु स्थावरजङ्गमात्मकेषु प्राणिषु अनेकविधजन्मादिपरिणामशीलतया गुणप्रधानभावापत्त्या च विषमेषु अत एव चञ्चलेषु प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा नापरिणम्य क्षणमपि स्थातुमीशते । अत एव परस्परबाध्यबाधकभावापन्नेषु एवमपि विनश्यत्सु दृष्टनष्टस्वभावेषु मायागन्धर्वनगरादिप्रायेषु समं सर्वत्रैकरूपं प्रतिदेहमेकं जन्मादिपरिणामशून्यतया च तिष्ठन्तमपरिणममानं परमेश्वरं सर्वजडवर्गसत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन बाध्यबाधकभावशून्यं सर्वदोषानास्कन्दितमविनश्यन्त दृष्टनष्टप्रायसर्वद्वैतबाधेऽप्यबाधितम् । एवं सर्वप्रकारेण जडप्रपञ्चविलक्षणमात्मानं विवेकेन यः शास्त्रचक्षुषा पश्यति स एव पश्यत्यात्मानं जाग्रद्बोधेन स्वप्नभ्रमं बाध्यमान इव । अज्ञस्तु

कार्यरूप जो जड अनिर्वचनीय और सत्-असत्-रूप दृश्यसमूह है वह क्षेत्र है, उससे भिन्न उसका प्रकाशक स्वयंप्रकाश परमार्थस्वरूप जो असंग उदासीन निर्धर्मक और अद्वितीय है वह क्षेत्रज्ञ है । उनका संयोग-मायाके कारण एक-दूसरेके अविवेकसे होनेवाला मिथ्यातादात्म्याध्यास, जो सत्य और मिथ्याकी मिलावट ही है, उसीसे यह सारा कार्यजात उत्पन्न हुआ है—ऐसा तुम जानो । यह संसार स्वरूपके अज्ञानवश ही है, अतः स्वरूपका ज्ञान होनेसे यह स्वप्नके समान नष्ट हो सकता है—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ २६ ॥

(१) इस प्रकार संसारको अविद्यामय बताकर उसकी निवृत्ति करनेवाली विद्याका निरूपण करनेके लिये 'य एवं वेत्ति पुरुषं' इस पहले कहे हुए वाक्यका विवेचन करते हैं—

[श्लोकार्थः—जन्मादि विकारोंसे युक्त तथा नष्ट होनेवाले समस्त प्राणियोंमें जो नष्ट न होनेवाले और समानरूपसे स्थित सबके नियामक आत्मा [अथवा परमेश्वर] को देखता है वही वास्तवमें देखता है ॥ २७ ॥]

(२) समस्त भूतोंमें—उत्पत्तिधर्मवान् स्थावर-जंगमरूप समस्त प्राणियोंमें, जो अनेक प्रकारके जन्मादि परिणामवाले होनेसे गौण और प्रधान भावकी प्राप्तिके कारण विषम अतः चंचल हैं, क्योंकि पदार्थ प्रत्येक क्षणमें परिणत होनेवाले होते हैं, वे बिना परिणत हुए एक क्षण भी नहीं ठहर सकते, इसलिये जो परस्पर बाध्य-बाधकभावको प्राप्त हैं। ऐसे होते हुए भी जो विनाशशील—दृष्टनष्टस्वभाव अर्थात् माया और गन्धर्वनगरादिके समान हैं, उनमें सम—सर्वत्र एकरूप अर्थात् प्रत्येक शरीरमें जन्मादि परिणामसे रहित होकर स्थित एक ही परमात्माको सम्पूर्ण जडवर्गको सत्तास्फूर्ति देनेवाला होनेसे बाध्य-बाधकशून्य, सम्पूर्ण दोषोंसे अस्पृष्ट और विनष्ट न होनेवाला अर्थात् सम्पूर्ण दृष्ट-नष्टप्राय द्वैतका बाध होनेपर भी बाधित न होनेवाला—इस प्रकार जो जडप्रपञ्चसे सब प्रकार विलक्षण आत्माको शास्त्रदृष्टिसे विवेकपूर्वक देखता है, वही जाग्रत्-ज्ञानसे स्वप्नज्ञानका बाध करनेवाले पुरुषके समान वास्तवमें आत्माको देखता है। अज्ञानी

स्वप्नदर्शीव भ्रान्त्या विपरीतं पश्यन्न पश्यत्येव, अदर्शनात्मकत्वाद्भ्रमस्य । न हि रज्जुं सर्पतया पश्यन्पश्यतीति व्यपदिश्यते, रज्ज्वदर्शनात्मकत्वात्सर्पदर्शनस्य । एवंभूतान्यानुपरक्तशुद्धात्मदर्शनात्तद्दर्शनात्मिकाया अविद्याया निवृत्तिस्तत्तत्कार्यसंसारनिवृत्तिरित्यभिप्रायः । अन्नाऽऽत्मानमितिविशेष्यपदम् । विषमत्वचञ्चलत्वबाध्यबाधकरूपत्वलक्षणं जडगतं वैधर्म्यं समत्वतिष्ठत्वपरमेश्वरस्वरूपात्मविशेषणवशादर्थात्प्राप्तमन्यत्कण्ठोक्तमिति विवेकः ॥ २७ ॥

(१) तदेतदात्मदर्शनं फलेन स्तौति रूढ्युत्पत्तये—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

(२) समवस्थितं जन्मादिविनाशान्तभावविकारशून्यतया सम्यक्त्वयाऽवस्थितमित्यविनाशित्वलाभः । अन्यत्प्राग्व्याख्यातम् । एवं पूर्वोक्तविशेषणमात्मानं पश्यन्नयमहमस्मीति शास्त्रदृष्ट्या साक्षात्कुर्वन्न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानम् । सर्वो ह्यज्ञः परमार्थसन्तमेकमकर्त्रभोक्तृपरमानन्दरूपमात्मानमविद्यया सति भात्यपि वस्तुनि नास्ति न भातीतिप्रतीतिजननसमर्थया स्वयमेव तिरस्कुर्वन्नसन्तमिव करोतीति हिनस्त्येव तम् । तथाऽविद्ययाऽऽत्मत्वेन परिगृहीतं देहेन्द्रियसंघातमात्मानं पुरातनं हत्वा

पुरुष तो स्वप्न देखनेवालेके समान भ्रान्तिवश विपरीत देखते हुए भी नहीं देखता, क्योंकि भ्रम तो अदर्शनरूप ही होता है । रज्जुको सर्परूपसे देखते हुए यह नहीं कहा जाता कि 'रस्सी देखता है' क्योंकि सर्पको देखना तो रस्सीको न देखना ही है । अभिप्राय यह है कि इस प्रकारके अन्यसंसर्गशून्य शुद्ध आत्माके दर्शनसे उसकी अदर्शनरूपा अविद्याकी निवृत्ति होती है और इससे उसके कार्य संसारकी निवृत्ति हो जाती है । यहाँ 'आत्मानम्' (आत्माको) इस विशेष्य पदकी प्राप्ति विशेषणोंकी मर्यादासे हो जाती है अथवा 'परमेश्वरम्' यह पद ही विशेष्य है । समत्व स्थिरत्व और परमेश्वरत्वरूप आत्माके विशेषणोंसे जडवर्गमें रहनेवाले विषमत्व चञ्चलत्व और बाध्य-बाधकत्वरूप वैधर्म्यकी अर्थतः प्राप्ति हो जाती है । और सब तो साक्षात् कण्ठसे ही कह दिया है—इस प्रकार विषयका विवेचन कर लेना चाहिये ॥ २७ ॥

(१) अब रुचिकी उत्पत्तिके लिये इस आत्मदर्शनकी फलद्वारा स्तुति करते हैं—

[श्लोकार्थः—एकरूप विकारहीन और सबके नियामक आत्माको सब जगह देखनेवाला पुरुष स्वयं ही अपना नाश नहीं करता । इसलिये वह परम गतिको प्राप्त हो जाता है ॥ २८ ॥]

(२) समवस्थित—जन्मसे लेकर विनाशपर्यन्त सम्पूर्ण भावविकारोंसे रहित होनेके कारण सम्यग्रूपसे स्थित—इस प्रकार इसका अविनाशित्व निश्चय होता है । अन्य विशेषणोंकी व्याख्या पहले हो चुकी है । इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषणोंवाले आत्माको देखकर—'यह मैं हूँ' इस प्रकार शास्त्रदृष्टिसे साक्षात्कार करके स्वयं अपना संहार नहीं करता । सारे अज्ञानी परमार्थसत् एक अकर्ता अभोक्ता और परमानन्दस्वरूप आत्माका, सत्ता और भावयुक्त वस्तुमें 'नहीं है, नहीं भासता' इस प्रकारकी प्रतीति उत्पन्न करनेमें समर्थ अविद्या द्वारा स्वयं ही तिरस्कार करके उसे असत्-सा कर देते हैं, इस प्रकार वे उसका हनन ही करते हैं । तथा अविद्यावश आत्मभावसे ग्रहण किये हुए इस देहादि

नवमादत्ते कर्मवशादिति हिनस्त्येव तम् । अत उभयथाऽप्यात्महैव सर्वोऽप्यज्ञः, यमधिकृत्येयं शकुन्तलावचनरूपा स्मृतिः—

'किं तेन न कृतं पापं चोरेणाऽऽत्मापहारिणा ।
योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ॥' इति ।

श्रुतिश्च—

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः ॥' इति ।

असुर्या असुरस्य स्वभूता आसुर्या संपदा भोग्या इत्यर्थः । आत्महन इत्यनात्मन्यात्माभिमानिन इत्यर्थः । अतो य आत्मज्ञः सोऽनात्मन्यात्माभिमानं शुद्धात्मदर्शनेन बाधते । अतः स्वरूपलाभान्न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् । तत आत्महननाभावाद्विद्यातत्कार्यनिवृत्तिलक्षणां मुक्तिमधिगच्छतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

(१) ननु शुभाशुभकर्मकर्तारः प्रतिदेहं भिन्ना आत्मानो विषमाश्च तत्तद्विचित्रफलभोक्तृत्वेनेति कथं सर्वभूतस्थमेकमात्मानं समं पश्यन्न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानमित्युक्तमत आह—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

(२) कर्माणि वाङ्मनःकायारम्भाणि सर्वशः सर्वैः प्रकारैः प्रकृत्यैव देहेन्द्रियसंघाताकारपरि-

---

संघातरूप पुरातन आत्माको त्यागकर कर्मवश नवीन आत्माको ग्रहण करते हैं—इस प्रकार भी उसका हनन ही करते हैं । अतः सारे अज्ञानी दोनों प्रकारसे आत्मघाती ही हैं, जिनको लक्ष्य करके शकुन्तलाका वचनरूप स्मृतिवाक्य कहता है—'जो अन्य प्रकारके आत्माको अन्य स्वरूपवाला समझता है उस आत्मघाती चोरने कौन पाप नहीं किया ?' श्रुति भी कहती है—'जो कोई भी आत्माका घात करनेवाले पुरुष हैं वे मरकर उन लोकोंमें जाते हैं जो असुर्य नामवाले और घोर अन्धकारसे व्याप्त हैं ।' असुर्य—असुरोंकी अपनी अर्थात् आसुरी सम्पद्के द्वारा भोगने योग्य । आत्महन अर्थात् अनात्मामें आत्माका अभिमान रखनेवाले । अतः जो आत्मज्ञानी है वह शुद्ध आत्माके साक्षात्कार द्वारा अनात्मामें आत्मत्वके अभिमानका बाध कर देता है । अतः अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेनेके कारण वह स्वयं ही आत्माका घात नहीं करता और इसीसे परमगति प्राप्त कर लेता है । तात्पर्य यह है कि आत्मघात न करनेके कारण वह अविद्या और उसके कार्यकी निवृत्तिरूपा मुक्ति प्राप्ति कर लेता है ॥ २८ ॥

(१) 'शुभ और अशुभ कर्म करनेवाले आत्मा तो प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न फल भोगनेवाले होनेसे भिन्न और विषम (असमान) स्वभाववाले हैं । अतः यह कैसे कहा कि समस्त भूतोंमें स्थित एक ही आत्माको समानरूपसे देखनेवाला पुरुष स्वयं ही आत्माका घात नहीं करता ?' ऐसी शंका करके कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष कर्मोंको सब प्रकार प्रकृति द्वारा ही किये जाते देखता है तथा आत्माको अकर्ता मानता है वही वास्तवमें देखता है ॥ २९ ॥]

(२) वाणी, मन और शरीरसे होनेवाले कर्मोंको जो विवेकी पुरुष सर्वशः—सब प्रकार प्रकृतिद्वारा—देह और इन्द्रियोंके संघातके आकारमें परिणत सम्पूर्ण विकाररूप

णतया सर्वविकारकारणभूतया त्रिगुणात्मिकया भगवन्माययैव क्रियमाणानि न तु पुरुषेण सर्वविकार-शून्येन यो विवेकी पश्यति, एवं क्षेत्रेण क्रियमाणेष्वपि कर्मसु आत्मानं क्षेत्रज्ञमकर्तारं सर्वोपाधिविव-र्जितमसङ्गमेकं सर्वत्र समं यः पश्यति, तथाशब्दः पश्यतीतिक्रियाकर्षणार्थः, स पश्यति स परमार्थद-र्शीति पूर्ववत्। सविकारस्य क्षेत्रस्य तत्तद्विचित्रकर्मकर्तृत्वेन प्रतिदेहं भेदेऽपि वैषम्येऽपि न (च) निर्विशेषस्याकर्तुराकाशस्येव न भेदे प्रमाणं किंचिदात्मन इत्युपपादितं प्राक् ॥ २९ ॥

(१) तदेवमापाततः क्षेत्रभेददर्शनमभ्यनुज्ञाय क्षेत्रज्ञभेददर्शनमपाकृतमिदानीं तु क्षेत्रभेद-दर्शनमपि मायिकत्वेनापाकरोति—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

(२) यदा यस्मिन्काले भूतानां स्थावरजङ्गमानां सर्वेषामपि जडवर्गाणां पृथग्भावं पृथक्त्वं परस्परभिन्नत्वमेकस्थमेकस्मिन्नेवाऽऽत्मनि सद्रूपे स्थितं कल्पितं कल्पितस्याधिष्ठानादनतिरेकात्सद्रूपात्म-स्वरूपादनतिरिक्तमनुपश्यति शास्त्राचार्योपदेशमनु स्वयमालोचयति आत्मैवेदं सर्वमिति । एवमपि मायावशात्तत एकस्मादात्मन एव विस्तारं भूतानां पृथग्भावं च स्वप्नमायावदनुपश्यति, ब्रह्म संपद्यते तदा सजातीयविजातीयभेददर्शनाभावाद्ब्रह्मैव सर्वानर्थशून्यं भवति तस्मिन्काले ।

'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥' इति श्रुतेः ।

कार्यकी कारणभूता भगवान्‌की त्रिगुणमयी मायासे ही किये जानेवाले देखता है, सम्पूर्ण विकारोंसे शून्य पुरुषके द्वारा नहीं, इसी प्रकार क्षेत्रके द्वारा कर्मोंके किये जानेपर भी आत्मा—क्षेत्रज्ञको अकर्ता—सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित असङ्ग एक और सर्वत्र समान रूपसे देखता है। यहाँ 'तथा' शब्द 'पश्यति' इस क्रियाको आकर्षित करनेके लिये है। वही देखता है—वही परमार्थदर्शी है—ऐसा पूर्ववत् (सत्ताईसवें श्लोकके समान) समझना चाहिये। विकारी क्षेत्रका उन-उन भिन्न-भिन्न कर्मोंके कर्तृत्वके कारण प्रत्येक देहमें भेद और असमानता होनेपर भी आकाशके समान निर्विशेष और अकर्ता आत्माके भेदमें कोई प्रमाण नहीं है। यह बात पहले युक्तिपूर्वक कही जा चुकी है ॥ २९ ॥

(१) इस प्रकार आपाततः क्षेत्रके विषयमें भेददृष्टिका अनुमोदन कर क्षेत्रज्ञमें भेददृष्टिका निराकरण किया। अब मायिक होनेके कारण क्षेत्रमें भेददर्शनका भी निराकरण करते हैं—

[श्लोकार्थ :—जिस समय स्थावर-जंगम भूतोंकी पृथक्ताको एक आत्मामें ही स्थित देखता है और उसीसे उन सबके विस्तारको देखता है उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है ॥ ३० ॥]

(२) जब अर्थात् जिस समय स्थावर-जंगम सभी भूतोंके—जडवर्गके पृथग्भाव—पृथक्ता अर्थात् परस्पर भिन्नताको एक ही सद्रूप आत्मामें स्थित—कल्पित देखता है, कल्पित पदार्थ अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होता, अतः जो इसे सद्रूप आत्मस्वरूपसे अभिन्न देखता है, अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशके अनुसार 'यह सब आत्मा ही है' इस प्रकार स्वयं आलोचना करता है; इसी प्रकार स्वप्न और मायाके समान उस एक आत्मासे ही भूतोंका विस्तार—पृथग्भाव देखता है उस समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है,

प्रकृत्यैव चेत्यत्राऽऽत्मभेदो निराकृतः, यदा भूतपृथग्भावमित्यत्र त्वनात्मभेदोऽपीति विशेषः ॥ ३० ॥

(१) आत्मनः स्वतोऽकर्तृत्वेऽपि शरीरसंबन्धोपाधिकं कर्तृत्वं स्यादित्याशङ्कामपनुदन्यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यतीत्येतद्विवृणोति—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

(२) अयमपरोक्षः परमात्मा परमेश्वराभिन्नः प्रत्यगात्माऽव्ययो न व्येतीत्यव्ययः सर्वविकार-शून्य इत्यर्थः। तत्र व्ययो द्वेधा धर्मिस्वरूपस्यैवोत्पत्तिमत्तया वा धर्मिस्वरूपस्यानुत्पाद्यत्वेऽपि धर्मा-णामेवोत्पत्त्यादिमत्तया वा। तत्राऽऽद्यमपाकरोति—अनादित्वादिति। आदिः प्रागसत्त्वावस्था। सा च नास्ति सर्वदा सत आत्मनः। अतस्तस्य कारणाभावाज्जन्माभावः। न ह्यनादेर्जन्म संभवति। तदभावे च तदुत्तरभाविनो भावविकारा न संभवन्त्येव। अतो न स्वरूपेण व्येतीत्यर्थः।

(३) द्वितीयं निराकरोति—निर्गुणत्वादिति। निर्धर्मकत्वादित्यर्थः। न हि धर्मिणमविकृत्य कश्चिद्धर्मं उपैत्यपैति वा धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यादयं तु निर्धर्मकोऽतो न धर्मद्वाराऽपि व्येतीत्यर्थः।

अर्थात् सजातीय, विजातीय और स्वगत भेददृष्टि न रहनेसे सम्पूर्ण अनर्थोंसे शून्य ब्रह्म ही हो जाता है; जैसा कि 'जिस समय ज्ञानी के लिये समस्त भूत आत्मा ही हो जाते हैं उस समय उस एकत्व देखनेवालेको क्या मोह और क्या शोक रहता है ?' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। 'प्रकृत्यैव' इत्यादि श्लोकमें तो आत्माओंके भेदका निराकरण किया है तथा 'यदा भूतपृथग्भावम्' इस श्लोकमें अनात्माके भेदकी भी निवृत्ति की गयी है—यह इसमें विशेषता है ॥ ३० ॥

(१) आत्माका स्वयं कर्तृत्व न होनेपर भी शरीरके सम्बन्धसे औपाधिक कर्तृत्व तो हो ही सकता है—इस आशंकाकी निवृत्ति करते हुए 'यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति' इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—यह परमात्मा (परमेश्वरसे अभिन्न आत्मा) अनादि और निर्गुण होनेके कारण अव्यय है। हे कौन्तेय! शरीरमें रहनेपर भी यह न तो कर्म करता है और न उसके फलसे ही लिप्त होता है ॥ ३१ ॥]

(२) यह—अपरोक्ष परमात्मा—परमेश्वरसे अभिन्न प्रत्यगात्मा अव्यय है। जिसका व्यय नहीं होता उसे अव्यय कहते हैं। अर्थात् समस्त विकारोंसे शून्य है। सो व्यय दो प्रकारका है—(१) धर्मीका स्वरूप ही उत्पत्तिमान् होनेसे, अथवा (२) धर्मीका स्वरूप उत्पन्न होनेवाला न होनेपर भी धर्मोंकेही उत्पत्तिमान् या आदिमान् होनेसे। इनमें पहले पक्षका निराकरण करते हैं—'अनादित्वात्' इत्यादि। 'आदि' पहले न होनेकी अवस्थाको कहते हैं। सर्वदा विद्यमान आत्माकी वह अवस्था है नहीं। अतः उसका कोई कारण न होनेसे जन्म भी नहीं होता; क्योंकि जो अनादि होता है उसका जन्म होना सम्भव नहीं होता। तथा जन्म न होनेपर उसके पीछे होनेवाले भावविकार भी नहीं होते। अतः तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वरूपसे विकारको प्राप्त नहीं होता।

(३) दूसरे प्रकारके विकारका निराकरण करते हैं—'निर्गुणत्वात्' इत्यादि। निर्गुण अर्थात् निर्धर्मक होनेके कारण। धर्मीमें विकार किये बिना कोई भी धर्म आता या जाता नहीं है, क्योंकि धर्म और धर्मीका तादात्म्य-सम्बन्ध है। यह आत्मा तो

'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' इति श्रुतेः। यस्मादेष जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीत्येवं षड्भावविकारशून्य आध्यासिकेन संबन्धेन शरीरस्थोऽपि तस्मिन्कुर्वन्नयमात्मा न करोति, यथाऽऽध्यासिकेन संबन्धेन जलस्थः सविता तस्मिंश्चलत्यपि न चलत्येव तद्वत्। यतो न करोति किंचिदपि कर्म, अतः केनापि कर्मफलेन न लिप्यते। यो हि यत्कर्म करोति स तत्फलेन लिप्यते न स्वयमकर्तृत्वादित्यर्थः। इच्छा द्वेषः सुखं दुःखमित्यादीनां क्षेत्रधर्मत्वकथनात्, प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानीति मायाकार्यत्वेव्यपदेशाच्च। अत एवं परमार्थदर्शिनां सर्वकर्माधिकारनिवृत्तिरिति प्राग्व्याख्यातम्। एतेनाऽऽत्मनो निर्धर्मकत्वकथनात्स्वगतभेदोऽपि निरस्तः। प्रकृत्यैव च कर्माणीत्यत्र सजातीयभेदो निवारितः, यदा भूतपृथग्भावमित्यत्र विजातीयभेदः, अनादित्वान्निर्गुणत्वादित्यत्र स्वगतो भेद इत्यद्वितीयं ब्रह्मैवाऽऽत्मेति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

(१) शरीरस्थोऽपि तत्कर्मणा न लिप्यते स्वयमसङ्गत्वादित्यत्र दृष्टान्तमाह—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

निर्धर्मक है, इसलिये धर्मके द्वारा भी इसमें विकार नहीं होता—ऐसा इसका तात्पर्य है। 'अरे मैत्रेयि! यह आत्मा अविनाशी है, क्योंकि इसका कोई भी धर्म उच्छिन्न होनेवाला नहीं है' इस श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है। क्योंकि यह जायते (जन्म लेना), अस्ति (होना), वर्धते (बढ़ना), विपरिणमते (तरह-तरहके परिणामोंको प्राप्त होना), अपक्षीयते (क्षीण होना) और विनश्यति (नष्ट होना)—इन छः भावविकारोंसे शून्य है, इसलिये आध्यासिक सम्बन्धसे शरीरमें रहनेपर भी, जिस प्रकार आध्यासिक सम्बन्धसे जलमें रहनेवाला सूर्य उसके हिलने-डुलनेपर भी नहीं हिलता-डुलता, उसी प्रकार शरीरके कर्म करनेपर भी यह आत्मा कर्म नहीं करता। क्योंकि यह कोई भी कर्म नहीं करता; इसलिये किसी कर्मफलसे लिप्त भी नहीं होता, क्योंकि जो पुरुष जिस कर्मको करता है वही उसके फलसे लिप्त भी होता है, अकर्ता होनेके कारण यह लिप्त नहीं होता—ऐसा इसका तात्पर्य है। कारण कि इच्छा, द्वेष, सुख और दुःखादिको भी क्षेत्रका ही धर्म कहा है तथा 'सब कर्म प्रकृतिसे ही किये जाते हैं' इस प्रकार कर्मोंको मायाका कार्य बताया है। इसीसे परमार्थदर्शियोंके लिये सभी प्रकारके कर्माधिकारकी निवृत्ति हो जाती है—ऐसी पहले व्याख्या की जा चुकी है। इसके द्वारा आत्माकी निर्धर्मकता बताकर स्वगतभेदका भी निराकरण कर दिया है। 'प्रकृत्यैव च कर्माणि' इस स्थानमें तो सजातीय भेदकी निवृत्ति की है, 'यदा भूतपृथग्भावम्' इस स्थानपर विजातीय भेदकी तथा 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' इस स्थानपर स्वगत भेदकी। अतः अद्वितीय ब्रह्म ही आत्मा है—यह सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

(१) स्वयं असङ्ग होनेके कारण आत्मा शरीरमें रहते हुए भी उसके कर्मसे लिप्त नहीं होता—इस विषयमें दृष्टान्त देते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस प्रकार सर्वगत होनेपर भी सूक्ष्मताके कारण आकाश लिप्त नहीं होता उसी प्रकार शरीरमें सर्वत्र रहनेपर भी आत्मा उसके कर्मसे लिप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥]

(१) सौक्ष्म्यादसङ्गस्वभावत्वादाकाशं सर्वगतमपि नोपलिप्यते पङ्कादिभिर्यथेति दृष्टान्तार्थः। स्पष्टमितरत् ॥ ३२ ॥

(२) न केवलमसङ्गस्वभावत्वादात्मा नोपलिप्यते प्रकाशकत्वादपि प्रकाश्यधर्मैर्न लिप्यते इति सदृष्टान्तमाह—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

(३) यथा रविरेक एव कृत्स्नं सर्वमिमं लोकं देहेन्द्रियसंघातं रूपवद्वस्तुमात्रमिति यावत् प्रकाशयति न च प्रकाश्यधर्मैर्लिप्यते न वा प्रकाश्यभेदाद्भिद्यते, तथा क्षेत्री क्षेत्रज्ञ एक एव कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति हे भारत। अत एव न प्रकाश्यधर्मैर्लिप्यते न वा प्रकाश्यभेदाद्भिद्यत इत्यर्थः।

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥' इति श्रुतेः ॥ ३३ ॥

(४) इदानीमध्यायार्थं सफलमुपसंहरति—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

(१) सूक्ष्मताके कारण अर्थात् असंग-स्वभाववाला होनेसे जिस प्रकार सर्वगत होनेपर भी आकाश कीचड़ आदिसे लिप्त नहीं होता—यह दृष्टान्तका तात्पर्य है। शेष सब स्पष्ट है ॥ ३२ ॥

(२) केवल असंगस्वभाव होनेके कारण ही आत्मा लिप्त नहीं होता—ऐसी बात नहीं है बल्कि प्रकाशक होनेके कारण भी वह प्रकाश्यके धर्मोंसे लिप्त नहीं होता—यह बात दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सारे लोक को प्रकाशित करता है उसी प्रकार हे भारत! क्षेत्रज्ञ पुरुष सारे क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥]

(३) जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण लोकको—देह और इन्द्रियोंके संघातको अर्थात् रूपवान् वस्तुमात्रको प्रकाशित करता है, किन्तु प्रकाश्यके धर्मोंसे लिप्त अथवा प्रकाश्यके भेदोंसे भिन्न नहीं होता उसी प्रकार हे भारत! क्षेत्री अर्थात् क्षेत्रज्ञ अकेला ही सारे क्षेत्रको प्रकाशित करता है; इसीसे वह न तो प्रकाश्यके धर्मोंसे लिप्त होता है और न प्रकाश्यके भेदोंसे भेदवाला ही होता है—ऐसा इसका तात्पर्य है। यह बात 'जिस प्रकार सम्पूर्ण लोकका नेत्र सूर्य नेत्रसम्बन्धी बाह्य दोषोंसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा लोकके दुःखसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह उससे बाहर है' इस श्रुतिसे भी सिद्ध होती है ॥ ३३ ॥

(४) अब फलके सहित इस अध्यायके अर्थका उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थः—जो लोग इस प्रकार ज्ञाननेत्र द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तर और सम्पूर्ण कार्यवर्गकी कारणभूता मायाकी निवृत्तिके विषयमें जानते हैं वे परम पदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३४ ॥]

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

(१) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः प्राग्व्याख्यातयोरेवमुक्तेन प्रकारेणान्तरं परस्परवैलक्षण्यं जाड्यचैतन्यविकारित्वनिर्विकारित्वादिरूपं ज्ञानचक्षुषा शास्त्राचार्योपदेशजनितात्मज्ञानरूपेण चक्षुषा ये विदुर्भूतप्रकृतिमोक्षं च भूतानां सर्वेषां प्रकृतिरविद्या मायाख्या तस्याः परमार्थात्मविद्यया मोक्षमभावगमनं च ये विदुर्जानन्ति यान्ति ते परं परमार्थात्मवस्तुस्वरूपं कैवल्यं, न पुनर्देहमाददत इत्यर्थः। तदेवममानित्वादिसाधननिष्ठस्य क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकविज्ञानवतः सर्वानर्थनिवृत्त्या परमपुरुषार्थसिद्धिरिति सिद्धम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेको नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

---

(१) इस प्रकार उपर्युक्त रीतिसे जो पहले व्याख्या किये हुए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तर—जड़ता-चेतनता एवं विकारित्व-निर्विकारित्वरूप पारस्परिक भेदको ज्ञाननेत्रसे—शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे उत्पन्न हुए आत्मज्ञानरूप नेत्रसे जानते हैं तथा जो भूत-प्रकृतिमोक्षको—सम्पूर्ण भूतोंकी प्रकृति जो माया नामकी अविद्या है उसकी परमार्थभूत आत्माके ज्ञानसे मोक्षभावकी प्राप्तिको जो जानते हैं वे पर अर्थात् परमार्थ आत्मवस्तु-स्वरूप कैवल्यको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् फिर शरीर ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जो अमानित्वादि साधनोंसे सम्पन्न और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विवेक-ज्ञानसे युक्त है उसे सब अनर्थोंकी निवृत्तिपूर्वक परमपुरुषार्थकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीकृत श्रीमद्भगवद्गीता गूढार्थदीपिका टीकाके हिन्दी भाषान्तरका क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग नामका तेरहवाँ अध्याय ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

(१) पूर्वाध्याये—

'यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि ॥'

इत्युक्तं तत्र निरीश्वरसांख्यमतनिराकरणेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्येश्वराधीनत्वं वक्तव्यम्। एवं 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इत्युक्तं तत्र कस्मिन्गुणे कथं सङ्गः के वा गुणाः कथं वा ते बध्नन्तीति वक्तव्यम्। तथा 'भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्' इत्युक्तं तत्र भूतप्रकृतिशब्दितेभ्यो गुणेभ्यः कथं मोक्षणं स्यान्मुक्तस्य च किं लक्षणमिति वक्तव्यं, तदेतत्सर्वं विस्तरेण वक्तुं चतुर्दशोऽध्याय आरभ्यते। तत्र वक्ष्यमाणमर्थं द्वाभ्यां स्तुवन्श्रोतॄणां रुच्युत्पत्तये—

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

(२) ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं परमात्मज्ञानसाधनं परं श्रेष्ठं परवस्तुविषयत्वात्। कीदृशं तत्, ज्ञानानां ज्ञानसाधनानां बहिरङ्गाणां यज्ञादीनां मध्ये उत्तममुत्तमफलत्वात्, न त्वमानित्वादीनां तेषामन्तरङ्गत्वेनोत्तमफलत्वात्। परमित्यनेनोत्कृष्टविषयत्वमुक्तम्। उत्तममित्यनेन तूत्कृष्टफलत्वमिति

(गुणत्रयविभागयोग)

(१) पिछले अध्यायमें यह बताया गया है कि 'स्थावर-जंगम जितना भी प्राणिवर्ग है उसे तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हुआ समझो।' वहाँ निरीश्वर सांख्यके निराकरणपूर्वक उस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगको ईश्वरके अधीन बताना चाहिये था। वहाँ यह बताया है कि गुणोंका संग ही इस जीवके सत् और असत् योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है, तो किस गुणमें किस प्रकार संग होता है तथा गुण कौन-कौनसे हैं और वे किस प्रकार बाँधते हैं—यह सब बताना चाहिये। तथा ऐसा जो कहा है कि 'जो भूत और प्रकृतिसे मुक्त होनेके विषयमें जानते हैं वे परमपदको प्राप्त हो जाते हैं' सो भूत और प्रकृति शब्दोंसे कहे हुए गुणोंसे किस प्रकार मुक्ति हो सकती है और उनसे मुक्त हुए पुरुषका क्या लक्षण है—यह भी बताना आवश्यक है। इन सब बातोंका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये चौदहवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है। सो श्रोताओंकी रुचि उत्पन्न करनेके लिये आगे कहे जानेवाले विषयकी दो श्लोकोंसे स्तुति करते हुए—

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान् बोले—अब मैं पुनः ज्ञानके साधनोंमें जो उत्तम ज्ञान-साधन है उसका वर्णन करूँगा, जिसे जानकर समस्त मुनिजनोंने इस देहबन्धनसे मोक्ष नामकी उत्तम सिद्धि प्राप्त कर ली थी ॥ १ ॥]

(२) [श्रीभगवान् बोले—] जिससे जाना जाता है उसे ज्ञान कहते हैं अर्थात् परमात्माके ज्ञानका साधन, जो पर—श्रेष्ठवस्तुविषयक होनेके कारण श्रेष्ठ है, वह कैसा है? ज्ञानों अर्थात् ज्ञानके यज्ञादि बहिरंग साधनोंमें, उत्तम फलवाला होनेके कारण उत्तम है, किन्तु अमानित्वादिकी अपेक्षा उत्तम नहीं है, क्योंकि उत्तम फलवाले होनेके कारण

भेदः । ईदृशं ज्ञानमहं प्रवक्ष्यामि भूयः पुनः पूर्वेष्वध्यायेष्वसकृदुक्तमपि यज्ज्ञानं ज्ञात्वाऽनुष्ठाय मुनयो मननशीलाः संन्यासिनः सर्वे परां सिद्धिं मोक्षाख्यामितो देहबन्धनाद्गताः प्राप्ताः ॥ १ ॥

(१) तस्याः सिद्धेरैकान्तिकत्वं दर्शयति—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

(२) इदं यथोक्तं ज्ञानं ज्ञानसाधनमुपाश्रित्यानुष्ठाय मम परमेश्वरस्य साधर्म्यं मद्रूपतामत्यन्ताभेदेनाऽऽगताः प्राप्ताः सन्तः सर्गेऽपि हिरण्यगर्भादिषूत्पद्यमानेष्वपि नोपजायन्ते । प्रलये ब्रह्मणोऽपि विनाशकाले न व्यथन्ति च न व्यथन्ते न च लीयन्त इत्यर्थः ॥ २ ॥

(३) तदेवं प्रशंशया श्रोतारमभिमुखीकृत्य परमेश्वराधीनयोः प्रकृतिपुरुषयोः सर्वभूतोत्पत्तिं प्रति हेतुत्वं न तु सांख्यसिद्धान्तवत्स्वतन्त्रयोरितीमं विवक्षितमर्थमाह द्वाभ्याम्—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

(४) सर्वकार्यापेक्षयाऽधिकत्वात्कारणं महत्, सर्वकार्याणां वृद्धिहेतुत्वरूपाद् बृंहणत्वाद्ब्रह्म, अव्याकृतं प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका माया महद्ब्रह्म । तच्च ममेश्वरस्य योनिर्गर्भाधानस्थानं तस्मिन्महति

वे तो अन्तरंगरूपसे माने जाते हैं । 'परम्' इस शब्दसे उन साधनोंकी उत्कृष्टविषयता कही गयी है तथा 'उत्तमम्' इस पदसे उत्कृष्टफलता—यह इन दोनों विशेषणोंका अन्तर है । इस प्रकारका ज्ञान मैं पुनः कहूँगा, जिसका पिछले अध्यायोंमें बार-बार उल्लेख किया जा चुका है तथा जिस ज्ञानको जानकर अर्थात् जिसका अनुष्ठान करके समस्त मुनिजन—मननशील संन्यासीलोग यहाँसे—देहबन्धनसे मोक्ष नामकी परम सिद्धिको प्राप्त हो गये थे ॥ १ ॥

(१) उस मोक्ष नामकी सिद्धिका निश्चितपना दिखाते हैं—

[श्लोकार्थ :—इस ज्ञानका आश्रय लेकर मेरे साधर्म्यको प्राप्त हुए पुरुष सर्गके होनेपर भी उत्पन्न नहीं होते तथा प्रलयकालमें भी लीन नहीं होते ॥ २ ॥]

(२) इस उपर्युक्त ज्ञान—ज्ञानसाधनका आश्रय लेकर—इसका अनुष्ठान करके मुझ परमेश्वरके साधर्म्यको—अत्यन्त अभेदके कारण मेरे सारूप्यको प्राप्त होकर सर्ग होनेपर अर्थात् हिरण्यगर्भादिके उत्पन्न होनेपर भी उत्पन्न नहीं होते तथा प्रलय—ब्रह्माका विनाशकाल आनेपर भी व्यथित नहीं होते अर्थात् उस समय उनका लय भी नहीं होता ॥

(३) इस प्रकार स्तुतिद्वारा श्रोता अर्जुनको रुचि उत्पन्न कर दो श्लोकोंसे इस कथनीय विषयका वर्णन करते हैं कि परमेश्वरके अधीन ही प्रकृति और पुरुषकी समस्त भूतोंकी उत्पत्तिमें कारणता है, सांख्य सिद्धान्तके समान स्वतन्त्रोंकी नहीं—

[श्लोकार्थ :—भरतनन्दन ! महान् और समस्त भूतोंकी वृद्धिका हेतुभूत अव्याकृत ही मेरा गर्भस्थापनका स्थान है । उसमें मैं गर्भ स्थापित करता हूँ । फिर उसीसे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥]

(४) समस्त कार्यकी अपेक्षा अधिक होनेके कारण कारण महान् है तथा सम्पूर्ण कार्योंकी वृद्धिरूप बृंहणताके कारण वह ब्रह्म है । अतः अव्याकृत, त्रिगुणात्मिका प्रकृति या

ब्रह्मणि योनौ गर्भं सर्वभूतजन्मकारणमहं 'बहु स्यां प्रजायेय' इतीक्षणरूपं संकल्पं दधामि धारयामि तत्संकल्पविषयीकरोमीत्यर्थः । यथा हि कश्चित्पिता पुत्रमनुशयिनं व्रीह्याद्याहाररूपेण स्वस्मिँल्लीनं शरीरेण योजयितुं योनौ रेतःसेकपूर्वकं गर्भमाधत्ते । तस्माच्च गर्भाधानात्स पुत्रः शरीरेण युज्यते । तदर्थं च मध्ये कललाद्यवस्था भवन्ति । तथा प्रलये मयि लीनमविद्याकामकर्मानुशयवन्तं क्षेत्रज्ञं सृष्टिसमये भोग्येन क्षेत्रेण कार्यकारणसंघातेन योजयितुं चिदाभासाख्यरेतःसेकपूर्वकं मायावृत्तिरूपं गर्भमहमादधामि । तदर्थं च मध्य आकाशवायुतेजोजलपृथिव्याद्युत्पत्त्यवस्थाः । ततो गर्भाधानात्संभव उत्पत्तिः सर्वभूतानां हिरण्यगर्भादीनां भवति हे भारत न त्वीश्वरकृतगर्भाधानं विनेत्यर्थः ॥ ३ ॥

(१) ननु कथं सर्वभूतानां ततः संभवो देवादिदेहविशेषाणां कारणान्तरसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

(२) देवपितृमनुष्यपशुमृगादिसर्वयोनिषु या मूर्तयो जरायुजाण्डजोद्भिज्जादिभेदेन विलक्षणविविधसंस्थानास्तनवः संभवन्ति हे कौन्तेय तासां मूर्तीनां तत्तत्कारणभावापन्नं महद्ब्रह्मैव योनिर्मातृस्थानीया, अहं परमेश्वरो बीजप्रदो गर्भाधानस्य कर्ता पिता । तेन महतो ब्रह्मण एवावस्थाविशेषाः कारणान्तराणीति युक्तमुक्तं संभवः सर्वभूतानां ततो भवतीति ॥ ४ ॥

माया ही महद्ब्रह्म है और वही मुझ ईश्वरकी योनि—गर्भाधानका स्थान है । उस महद्ब्रह्मरूपा योनिमें मैं गर्भ अर्थात् समस्त जीवोंकी उत्पत्तिका हेतुभूत 'मैं बहुत हो जाऊँ, मैं उत्पन्न होऊँ' इस प्रकारका ईक्षणरूप संकल्प धारण करता हूँ । अर्थात् उसे इस संकल्पका विषय बनाता हूँ । जिस प्रकार कोई पिता इस लोकमें कर्मफल भोगनेके लिये आनेवाले धान आदि आहारके रूपमें अपनेमें लीन हुए पुत्रको शरीरसे युक्त करनेके लिये योनिमें वीर्यसेचनपूर्वक गर्भाधान करता है और उस गर्भाधानसे वह पुत्र शरीरयुक्त हो जाता है तथा उसके बीचमें उसकी कललादि अवस्थाएँ होती हैं, उसी प्रकार प्रलयकालमें मुझमें लीन हुए अविद्या, काम, कर्म और अनुशयवान् क्षेत्रज्ञको सृष्टिके समय भोग्यरूप क्षेत्र अर्थात् देहेन्द्रियसंघातसे युक्त करनेके लिये मैं चिदाभाससंज्ञक वीर्यसेचन करके मायावृत्तिरूप गर्भको स्थापित करता हूँ । इसके लिये बीचमें आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी आदिकी उत्पत्तिकी अवस्थाएँ होती हैं । फिर हे भारत ! उस गर्भाधानसे हिरण्यगर्भादि समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है । तात्पर्य यह है कि ईश्वरकृत गर्भाधानके बिना इनकी उत्पत्ति नहीं होती ॥ ३ ॥

(१) समस्त भूतोंकी उसीसे उत्पत्ति क्यों होती है, क्योंकि देवादि शरीरविशेषोंकी किसी अन्य कारणसे भी तो उत्पत्ति हो सकती है—ऐसी आशंका करके कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—हे कुन्तिनन्दन ! समस्त योनियों में जितने भी संस्थान (आकारविशेष) हो सकते हैं उनका महद्ब्रह्म ही योनि है और मैं वीर्यस्थापन करनेवाला पिता हूँ ॥ ४ ॥]

(२) देवता, पितर, मनुष्य, पशु और मृग आदि समस्त योनियोंमें जो भी मूर्तियाँ—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इत्यादि भेदोंसे तरह-तरहके अनेकों संस्थान अर्थात् शरीर हो सकते हैं, हे कुन्तिनन्दन ! उन मूर्तियोंकी—उस उस कारणरूपताको प्राप्त महद्ब्रह्म ही योनि अर्थात् मातृरूपा है तथा मैं परमेश्वर बीज प्रदान करनेवाला—गर्भाधान

(१) तदेवं निरीश्वरसांख्यनिराकरणेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्येश्वराधीनत्वमुक्तम् । इदानीं कस्मिन्गुणे कथं सङ्गः के वा गुणाः कथं वा ते बध्नन्तीत्युच्यते सत्त्वमित्यादिनान्यमित्यतः-प्राक्चतुर्दशभिः—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

(२) सत्त्वं रजस्तम इत्येवंनामानो गुणा नित्यपरतन्त्राः पुरुषं प्रति सर्वेषामचेतनानां चेतनार्थत्वात्, न तु वैशेषिकाणां रूपादिवद्द्रव्याश्रिताः । न च गुणगुणिनोरन्यत्वमत्र विवक्षितं गुणत्रयात्मकत्वात्प्रकृतेः । तर्हि कथं प्रकृतिसंभवा इति, उच्यते—त्रयाणां गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिर्माया भगवतस्तस्याः सकाशात्परस्पराङ्गाङ्गिभावेन वैषम्येण परिणताः प्रकृतिसंभवा इत्युच्यन्ते । ते च देहे प्रकृतिकार्ये शरीरेन्द्रियसंघाते देहिनं देहतादात्म्याध्यासापन्नं जीवं परमार्थतः सर्वविकारशून्यत्वेनाव्ययं निबध्नन्ति निर्विकारमेव सन्तं स्वविकारवत्तयोपदर्शयन्तीव भ्रान्त्या जलपात्राणीव दिवि स्थितमादित्यं प्रतिबिम्बाध्यासेन स्वकम्पादिमत्तया । यथा च पारमार्थिको बन्धो नास्ति तथा व्याख्यातं प्राक्—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' इति ॥ ५ ॥

करनेवाला पिता हूँ । इस प्रकार दूसरे कारण भी महद्ब्रह्मकी अवस्थाविशेष ही हैं, अतः यह ठीक ही कहा है कि उसीसे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ४ ॥

(१) इस प्रकार निरीश्वर सांख्यके निराकरण द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगकी ईश्वराधीनताका वर्णन किया गया, अब किस गुणमें किस प्रकार संग होता है, कौन-कौनसे गुण हैं और वे किस प्रकार बाँध लेते हैं—यह बात 'सत्त्वम्' इत्यादिसे लेकर 'नान्यम्' इत्यादि श्लोकसे पूर्ववर्ती चौदह श्लोकोंमें बतायी जाती है—

[श्लोकार्थः—हे महाबाहो ! सत्त्व, रज और तम—ये गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले हैं । ये ही निर्विकार देहीको देहमें बाँध देते हैं ॥ ५ ॥]

(२) सत्त्व, रज और तम इन नामोंवाले गुण पुरुषके प्रति सर्वदा परतन्त्र हैं, क्योंकि सारे अचेतन पदार्थ चेतनके लिये ही होते हैं, वे वैशेषिकमतानुसार रूपादिके समान द्रव्यके आश्रित नहीं होते । यहाँ गुण और गुणवान्का भेद बताना अभीष्ट नहीं है, क्योंकि प्रकृति तो त्रिगुणमयी है । तो फिर 'ये प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले हैं' ऐसा क्यों कहा जाता है ? तीनों गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति अर्थात् भगवान् की माया है, उसके सकाशसे आपसमें अंगाङ्गिभावसे विषमतामें परिणत हुए ये गुण प्रकृतिसम्भव (प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले) कहे जाते हैं, जिस प्रकार जलके पात्र प्रतिबिम्बके अध्यास-द्वारा आकाशस्थित सूर्यको अपनी कम्पादिमत्तासे युक्त दिखाते हैं उसी प्रकार ये गुण परमार्थतः सर्वविकारशून्य होनेके कारण अव्यय देहीको—देहके तादात्म्याध्यासको प्राप्त जीवको देहमें—प्रकृतिके कार्यभूत शरीर और इन्द्रियोंके संघातमें बाँध देते हैं, अर्थात् निर्विकार होनेपर भी उसे भ्रान्तिवश अपनी विकारवत्तासे युक्त दिखाते हैं और जिस प्रकार जीवका वास्तविक बन्धन नहीं होता उसकी व्याख्या पहले 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' इस श्लोकमें कर दी गयी है ॥ ५ ॥

(१) तत्र को गुणः केन सङ्गेन बध्नातीत्युच्यते—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

(२) तत्र तेषु गुणेषु मध्ये सत्त्वं प्रकाशकं चैतन्यस्य तमोगुणकृतावरणतिरोधायकं निर्मलस्वात्स्वच्छत्वाच्चिद्बिम्बग्रहणयोग्यत्वादिति यावत् । न केवलं चैतन्याभिव्यञ्जकं किंतु अनामयम् । आमयो दुःखं तद्विरोधि सुखस्यापि व्यञ्जकमित्यर्थः । तद्बध्नाति सुखसङ्गेन च देहिनं हेऽनघाव्यसन । सर्वत्र संबोधनानामभिप्रायः प्रागुक्तः स्मर्तव्यः । अत्र सुखज्ञानशब्दाभ्यामन्तःकरणपरिणामौ तद्व्यञ्जकावुच्येते । 'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः' इति सुखचेतनयोरपीच्छादिवत्क्षेत्रधर्मत्वेन पाठात् । तत्रान्तःकरणधर्मस्य सुखस्य ज्ञानस्य चाऽऽत्मन्यध्यासः सङ्गोऽहं सुख्यहं जान इति च । न हि विषयधर्मो विषयिणो भवति । तस्मादविद्यामात्रमेतदिति शतश उक्तं प्राक् ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

(३) रज्यते विषयेषु पुरुषोऽनेनेति रागः कामो गर्धः स एवाऽऽत्मा स्वरूपं यस्य धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यात्तद्रागात्मकं रजो विद्धि । अत एवाप्राप्ताभिलाषस्तृष्णा, प्राप्तस्योपस्थितेऽपि विनाशे

---

(१) उनमें कौन गुण किस संगसे जीवको बाँधता है—यह बात बतायी जाती है—

[श्लोकार्थः—उनमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और सुखकी अभिव्यक्ति करनेवाला होता है । हे निष्पाप ! वह इसे सुखके संग और ज्ञानके संगसे बाँधता है ॥ ६ ॥]

(२) उन गुणोंके बीचमें सत्त्वगुण निर्मल—स्वच्छ होनेके कारण चैतन्यका प्रकाशक अर्थात् तमोगुणके किये हुए चैतन्यके आवरणको तिरोहित करनेवाला है, क्योंकि वह चेतन ब्रह्मके प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेमें समर्थ है । वह केवल चेतनकी अभिव्यक्ति करनेवाला ही नहीं है किन्तु अनामय भी है । आमय दुःखको कहते हैं, अतः तात्पर्य यह है कि उसके विरोधी सुखकी भी अभिव्यक्ति करनेवाला है । हे अनघ !—हे निष्पाप ! वह देहीको सुखसंग और ज्ञानसंगसे बाँधता है । सम्बोधनोंका अभिप्राय जो पहले कहा जा चुका है वही सर्वत्र स्मरण रखना चाहिये । यहाँ सुख और ज्ञान शब्दोंसे उनकी अभिव्यक्ति करनेवाले अन्तःकरणके परिणाम कहे गये हैं, क्योंकि 'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः' इसमें इच्छादिके समान सुख और चेतनको भी क्षेत्रके धर्मरूपसे ही कहा गया है । सो अन्तःकरणके धर्म सुख और ज्ञानका 'मैं सुखी हूँ, मैं उत्पन्न हुआ हूँ' इस प्रकार आत्मामें अध्यासरूप संग हो रहा है । विषयका धर्म विषयीका धर्म नहीं हो सकता, इसलिये वह अविद्यामात्र है—यह बात सैकड़ों बार कही जा चुकी है ॥ ६ ॥

[श्लोकार्थः—तृष्णा और सङ्गके उत्पत्तिस्थानरूप रजोगुणको तुम रागस्वरूप समझो । हे कौन्तेय ! वह देहीको कर्मोंकी आसक्तिसे बाँध देता है ॥ ७ ॥]

(३) जिसके द्वारा पुरुष विषयोंमें रञ्जित हो उसे राग—काम (इच्छा) अर्थात् गर्ध (स्पृहा) कहते हैं, वही है आत्मा—स्वरूप जिसका उस रजोगुणको धर्म और

संरक्षणाभिलाष आसङ्गस्तयोस्तृष्णासङ्गयोः संभवो यस्मात्तद्रजो निबध्नाति हे कौन्तेय कर्मसङ्गेन कर्मसु दृष्टादृष्टार्थेषु अहमिदं करोम्येतत्फलं भोक्ष्य इत्यभिनिवेशविशेषेण देहिनं वस्तुतोऽकर्तारमेव कर्तृत्वाभिमानिनं रजसः प्रवृत्तिहेतुत्वात् ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

(१) तुशब्दः सत्त्वरजोपेक्षया विशेषद्योतनार्थः । अज्ञानादावरणशक्तिरूपादुद्भूतमज्ञानजं तमो विद्धि । अतः सर्वेषां देहिनां मोहनमविवेकरूपत्वेन भ्रान्तिजनकम् । प्रमादेनाऽऽलस्येन निद्रया च तत्तमो निबध्नाति, देहिनमित्यनुषज्यते, हे भारत । प्रमादो वस्तुविवेकासामर्थ्यं सत्त्वकार्यप्रकाशविरोधी । आलस्यं प्रवृत्यसामर्थ्यं रजःकार्यप्रवृत्तिविरोधि । उभयविरोधिनी तमोगुणालम्बना वृत्तिर्निद्रेति विवेकः ॥ ८ ॥

(२) उक्तानां मध्ये कस्मिन्कार्ये कस्य गुणस्योत्कर्ष इति तत्राऽऽह—

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥

(३) सत्त्वमुत्कृष्टं सत्सुखे सञ्जयति दुःखकारणमभिभूय सुखे संश्लेषयति । सर्वत्र

धर्मोंके तादात्म्यके कारण रागात्मक समझो। इसीसे अप्राप्तकी इच्छारूप जो तृष्णा और प्राप्त वस्तुका नाश उपस्थित होनेपर उसे बचानेकी इच्छारूप जो आसंग उन तृष्णा और आसंगका जिससे जन्म होता है, हे कुन्तिनन्दन ! वह रजोगुण देहीको, जो वस्तुतः अकर्ता होनेपर भी कर्तृत्वाभिमानयुक्त है, कर्मसंगसे—जिनका प्रयोजन प्रत्यक्ष है उन कर्मोंमें 'मैं यह कर्म करता हूँ और यह फल भोगूँगा' इस प्रकारके अभिनिवेश-विशेषसे बाँध देता है, क्योंकि रजोगुण ही प्रवृत्तिका हेतु है ॥ ७ ॥

[श्लोकार्थ—हे भारत ! तुम तमोगुणको अज्ञानजनित और समस्त देहधारियोंको मोहित करनेवाला जानो ! वह प्राणियोंको प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बाँधता है ॥ ८ ॥]

(१) यहाँ 'तु' शब्द सत्त्व और रजकी अपेक्षा तमोगुणकी भिन्नता दिखानेके लिये है। तमको तुम अज्ञानज—आवरणशक्तिरूप अज्ञानसे उत्पन्न हुआ समझो; अतः वह समस्त देहधारियोंको मोहित करनेवाला अर्थात् अविवेकरूप होनेके कारण भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाला है। हे भारत ! वह देहीको प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बाँधता है—ऐसा इसका सम्बन्ध है। प्रमाद वस्तुके विवेककी असमर्थताको कहते हैं, यह सत्त्वगुणके कार्य प्रकाशका विरोधी है। आलस्य प्रवृत्तिकी असमर्थता है, यह रजोगुणके कार्य प्रवृत्तिका विरोधी है तथा तमोगुणका आलम्बन करनेवाली वृत्तिरूपा निद्रा इन दोनों ही की विरोधिनी है—इस प्रकार इनका विवेक कर लेना चाहिये ॥ ८ ॥

(२) ऊपर कहे हुए कार्योंमें से किस कार्यमें किस गुणकी अधिकता रहती है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे भरतनन्दन ! सत्त्वगुण जीवको सुखमें, रजोगुण कर्ममें और तमोगुण ज्ञानका आवरण करके उसे प्रमादमें जोड़ देता है ॥ ९ ॥]

(३) सत्त्वगुण उत्कृष्ट होनेपर दुःखके कारणको दबाकर सब देहधारियोंको

देहिनमित्यनुषज्यते । एवं रज उत्कृष्टं सत्सुखकारणमभिभूय कर्मणि, सञ्जयतीत्यनुषज्यते । तमस्तु प्रमादबलेनोत्पद्यमानमपि सत्त्वकार्यं ज्ञानमावृत्याऽऽच्छाद्य प्रमादे प्राप्तज्ञायमानताकस्याप्यज्ञाने सञ्जयति उतापि प्राप्तकर्तव्यताकस्याप्यकरण आलस्ये तामस्यां च निद्रायां सञ्जयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

(१) उक्तं कार्यं कदा कुर्वन्ति गुणा इत्युच्यते—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैवं तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

(२) रजस्तमश्च युगपदुभावपि गुणावभिभूय सत्त्वं भवत्युद्भवति वर्धते यदा तदा स्वकार्यं प्रागुक्तमसाधारण्येन करोतीति शेषः । एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयमभिभूयोद्भवति यदा तदा स्वकार्यं प्रागुक्तं करोति । तथा तद्वदेव तमोऽपि सत्त्वं रजश्चेत्युभावपि गुणावभिभूयोद्भवति यदा तदा स्वकार्यं प्रागुक्तं करोतीत्यर्थः ॥ १० ॥

(३) इदानीमुद्भूतानां तेषां लिङ्गान्याह त्रिभिः—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

सुखमें संलग्न कर देता है। यहाँ सर्वत्र 'देहिनम्' इस पदका सम्बन्ध समझना चाहिये। इसी प्रकार रजोगुण उत्कृष्ट होकर सुखके कारणको दबाकर कर्ममें जोड़ देता है—ऐसा इसका सम्बन्ध है। तमोगुण प्रमादकी शक्तिसे उत्पन्न होनेपर भी सत्त्वगुणके कार्य ज्ञानको आवृत करके प्रमादमें—जिसको जानना आवश्यक है ऐसी वस्तुके अज्ञानमें जोड़ देता है। तथा जिसकी कर्त्तव्यता प्राप्त है उसके न करनेरूप आलस्यमें और तमोगुणी निद्रामें जोड़ देता है— ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ९ ॥

(१) गुण उपर्युक्त कार्य कब करते हैं—सो बताया जाता है—

[श्लोकार्थः—हे भारत ! जब रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है। इसी प्रकार जब सत्त्व और तमको दबाकर रजोगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करता है और जब सत्त्व और रजको दबाकर तमोगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है ॥ १० ॥]

(२) जब रज और तम दोनों गुणोंको एकसाथ दबाकर सत्त्वगुणका उद्भव—वृद्धि होती है 'तो वह असाधारणतापूर्वक अपना कार्य करता है'—इतना अध्याहार करना चाहिये। इसी प्रकार जब रजोगुण भी सत्त्व और तम इन दो गुणोंको दबाकर बढ़ता है तो अपना पूर्वोक्त कार्य करता है तथा इसी तरह जब सत्त्व और रज दोनों गुणोंको दबाकर तमोगुण बढ़ता है तो वह भी अपना पूर्वोक्त कार्य करता है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १० ॥

(३) अब तीन श्लोकोंसे उन बढ़े हुए गुणोंके चिह्न बताते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस समय इस देहमें समस्त इन्द्रियोंमें प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न हो (तथा सुखादिके चिह्न भी दिखायी दें) उस समय सत्त्वकी वृद्धि हुई है—ऐसा जाने ॥ ११ ॥]

संरक्षणाभिलाष आसङ्गस्तयोस्तृष्णासङ्गयोः संभवो यस्मात्तद्रजो निबध्नाति हे कौन्तेय कर्मसङ्गेन कर्मसु दृष्टादृष्टार्थेषु अहमिदं करोम्येतत्फलं भोक्ष्य इत्यभिनिवेशविशेषेण देहिनं वस्तुतोऽकर्तारमेव कर्तृत्वाभिमानिनं रजसः प्रवृत्तिहेतुत्वात् ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

(१) तुशब्दः सत्त्वरजोपेक्षया विशेषद्योतनार्थः । अज्ञानादावरणशक्तिरूपादुद्भूतमज्ञानजं तमो विद्धि । अतः सर्वेषां देहिनां मोहनमविवेकरूपत्वेन भ्रान्तिजनकम् । प्रमादेनाऽऽलस्येन निद्रया च तत्तमो निबध्नाति, देहिनमित्यनुषज्यते, हे भारत । प्रमादो वस्तुविवेकासामर्थ्यं सत्त्वकार्यप्रकाश-विरोधी । आलस्यं प्रवृत्यसामर्थ्यं रजःकार्यप्रवृत्तिविरोधि । उभयविरोधिनी तमोगुणालम्बना वृत्तिर्नि-द्रेति विवेकः ॥ ८ ॥

(२) उक्तानां मध्ये कस्मिन्कार्ये कस्य गुणस्योत्कर्ष इति तत्राऽऽह—

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥

(३) सत्त्वमुत्कृष्टं सत्सुखे सञ्जयति दुःखकारणमभिभूय सुखे संश्लेषयति । सर्वत्र

धर्मीके तादात्म्यके कारण रागात्मक समझो। इसीसे अप्राप्तकी इच्छारूप जो तृष्णा और प्राप्त वस्तुका नाश उपस्थित होनेपर उसे बचानेकी इच्छारूप जो आसंग उन तृष्णा और आसंगका जिससे जन्म होता है, हे कुन्तिनन्दन ! वह रजोगुण देहीको, जो वस्तुतः अकर्ता होनेपर भी कर्तृत्वाभिमानयुक्त है, कर्मसंगसे—जिनका प्रयोजन प्रत्यक्ष है उन कर्मोंमें 'मैं यह कर्म करता हूँ और यह फल भोगूँगा' इस प्रकारके अभिनिवेश-विशेषसे बाँध देता है, क्योंकि रजोगुण ही प्रवृत्तिका हेतु है ॥ ७ ॥

[श्लोकार्थ—हे भारत ! तुम तमोगुणको अज्ञानजनित और समस्त देहधारियोंको मोहित करनेवाला जानो । वह प्राणियोंको प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बाँधता है ॥ ८ ॥]

(१) यहाँ 'तु' शब्द सत्त्व और रजकी अपेक्षा तमोगुणकी भिन्नता दिखानेके लिये है । तमको तुम अज्ञानज—आवरणशक्तिरूप अज्ञानसे उत्पन्न हुआ समझो; अतः वह समस्त देहधारियोंको मोहित करनेवाला अर्थात् अविवेकरूप होनेके कारण भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाला है । हे भारत ! वह देहीको प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बाँधता है—ऐसा इसका सम्बन्ध है । प्रमाद वस्तुके विवेककी असमर्थताको कहते हैं, यह सत्त्वगुणके कार्य प्रकाशका विरोधी है । आलस्य प्रवृत्तिकी असमर्थता है, यह रजोगुणके कार्य प्रवृत्तिका विरोधी है तथा तमोगुणका आलम्बन करनेवाली वृत्तिरूपा निद्रा इन दोनों ही की विरोधिनी है—इस प्रकार इनका विवेक कर लेना चाहिये ॥ ८ ॥

(२) ऊपर कहे हुए कार्योंमें से किस कार्यमें किस गुणकी अधिकता रहती है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे भरतनन्दन ! सत्त्वगुण जीवको सुखमें, रजोगुण कर्ममें और तमोगुण ज्ञानका आवरण करके उसे प्रमादमें जोड़ देता है ॥ ९ ॥]

(३) सत्त्वगुण उत्कृष्ट होनेपर दुःखके कारणको दबाकर सब देहधारियोंको

देहिनमित्यनुषज्यते । एवं रज उत्कृष्टं सत्सुखकारणमभिभूय कर्मणि, सञ्जयतीत्यनुषज्यते । तमस्तु प्रमादबलेनोत्पद्यमानमपि सत्त्वकार्यं ज्ञानमावृत्याऽऽच्छाद्य प्रमादे प्राप्तज्ञायमानताकस्याप्यज्ञाने सञ्जयति उतापि प्राप्तकर्तव्यताकस्याप्यकरण आलस्ये तामस्यां च निद्रायां सञ्जयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

(१) उक्तं कार्यं कदा कुर्वन्ति गुणा इत्युच्यते—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैवं तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

(२) रजस्तमश्च युगपदुभावपि गुणावभिभूय सत्त्वं भवत्युद्भवति वर्धते यदा तदा स्वकार्यं प्रागुक्तमसाधारण्येन करोतीति शेषः । एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयमभिभूयोद्भवति यदा तदा स्वकार्यं प्रागुक्तं करोति । तथा तद्वदेव तमोऽपि सत्त्वं रजश्चेत्युभावपि गुणावभिभूयोद्भवति यदा तदा स्वकार्यं प्रागुक्तं करोतीत्यर्थः ॥ १० ॥

(३) इदानीमुद्भूतानां तेषां लिङ्गान्याह त्रिभिः—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

सुखमें संलग्न कर देता है । यहाँ सर्वत्र 'देहिनम्' इस पदका सम्बन्ध समझना चाहिये । इसी प्रकार रजोगुण उत्कृष्ट होकर सुखके कारणको दबाकर कर्ममें जोड़ देता है—ऐसा इसका सम्बन्ध है । तमोगुण प्रमादकी शक्तिसे उत्पन्न होनेपर भी सत्त्वगुणके कार्य ज्ञानको आवृत करके प्रमादमें—जिसको जानना आवश्यक है ऐसी वस्तुके अज्ञानमें जोड़ देता है । तथा जिसकी कर्त्तव्यता प्राप्त है उसके न करनेरूप आलस्यमें और तमोगुणी निद्रामें जोड़ देता है— ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ९ ॥

(१) गुण उपर्युक्त कार्य कब करते हैं—सो बताया जाता है—

[श्लोकार्थः—हे भारत ! जब रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है । इसी प्रकार जब सत्त्व और तमको दबाकर रजोगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करता है और जब सत्त्व और रजको दबाकर तमोगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है ॥ १० ॥]

(२) जब रज और तम दोनों गुणोंको एकसाथ दबाकर सत्त्वगुणका उद्भव—वृद्धि होती है 'तो वह असाधारणतापूर्वक अपना कार्य करता है'—इतना अध्याहार करना चाहिये । इसी प्रकार जब रजोगुण भी सत्त्व और तम इन दो गुणोंको दबाकर बढ़ता है तो अपना पूर्वोक्त कार्य करता है तथा इसी तरह जब सत्त्व और रज दोनों गुणोंको दबाकर तमोगुण बढ़ता है तो वह भी अपना पूर्वोक्त कार्य करता है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १० ॥

(३) अब तीन श्लोकोंसे उन बढ़े हुए गुणोंके चिह्न बताते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस समय इस देहमें समस्त इन्द्रियोंमें प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न हो (तथा सुखादिके चिह्न भी दिखायी दें) उस समय सत्त्वकी वृद्धि हुई है—ऐसा जाने ॥ ११ ॥]

(१) अस्मिञ्शरीरे आत्मनो भोगायतने देहे सर्वेष्वपि द्वारेषूपलब्धिसाधनेषु श्रोत्रादिकरणेषु यदा प्रकाशो बुद्धिपरिणामविशेषो विषयाकारः स्वविषयावरणविरोधी दीपवत्, तदेव ज्ञानं शब्दादिविषय उपजायते तदाऽनेन शब्दादिविषयज्ञानाख्यप्रकाशेन लिङ्गेन प्रकाशात्मकं सत्त्वं विवृद्धमुद्भूतमिति विद्याज्जानीयात्। उतापि सुखादिलिङ्गेनापि जानीयादित्यर्थः ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

(२) महति धनागमे जायमानेऽप्यनुक्षणं वर्धमानस्तदभिलाषो लोभः स्वविषयप्राप्त्यनिवर्त्य इच्छाविशेष इति यावत्। प्रवृत्तिर्निरन्तरं प्रयतमानता। आरम्भः कर्मणां बहुवित्तव्ययायासकराणां काम्यनिषिद्धलौकिकमहागृहादिविषयाणां व्यापाराणामुद्यमः। अशम इदं कृत्वेदं करिष्यामीतिसंकल्पप्रवाहानुपरमः। स्पृहोच्चावचेषु परधनेषु दृष्टमात्रेषु येन केनाप्युपायेनोपादित्सा। रजसि रागात्मके विवृद्ध एतानि रागात्मकानि लिङ्गानि जायन्ते हे भरतर्षभ। एतैर्लिङ्गैर्विवृद्धं रजो जानीयादित्यर्थः ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

(३) अप्रकाशः सत्यप्युपदेशादौ बोधकारणे सर्वथा बोधायोग्यत्वम्। अप्रवृत्तिश्च सत्यप्य-

---

(१) आत्माके भोगायतनरूप इस देहमें जब सभी द्वारोंमें—उपलब्धिके साधनभूत श्रोत्रादि इन्द्रियोंमें प्रकाश—दीपकके समान अपने विषयके आवरणका विरोधी बुद्धिका विषयाकार परिणामविशेष, जो शब्दादिविषयक ज्ञान भी है, उत्पन्न हो तब इस शब्दादिविषयक ज्ञानसंज्ञक प्रकाशरूप लिंगसे ऐसा जाने कि प्रकाशात्मक सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई है। इसी प्रकार सुखादि लिंगसे भी सत्त्वकी वृद्धि जाने—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ११ ॥

[श्लोकार्थः—हे भरतश्रेष्ठ! रजोगुणकी वृद्धि होनेपर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा—ये चिह्न प्रकट हो जाते हैं ॥ १२ ॥]

(२) धनकी बहुत-सी आमदनी हो जानेपर भी उसके लिये प्रतिक्षण बढ़नेवाली अभिलाषाका नाम लोभ है। अर्थात् अपने विषयकी प्राप्तिसे भी जिसकी निवृत्ति न हो सके वह इच्छाविशेष ही लोभ है। निरन्तर प्रयत्न करते रहना प्रवृत्ति है। जिनमें बहुत-सा धनव्यय और परिश्रम हो ऐसे काम्य निषिद्ध और विशाल भवन आदि लौकिक विषयोंके लिये उद्यम करना आरम्भ है। 'यह करके इसे करूँगा' इस प्रकारके सङ्कल्पप्रवाहका न रुकना अशम है। दूसरोंका थोड़ा या बहुत धन देखते ही उसे किसी-न-किसी उपायसे लेनेकी इच्छा स्पृहा है। हे भरतश्रेष्ठ! रागात्मक रजोगुणकी वृद्धि होनेपर ये रागात्मक चिह्न प्रकट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि इन चिह्नोंसे रजोगुणको बढ़ा हुआ समझे ॥ १२ ॥

[श्लोकार्थः—हे कुरुनन्दन! तमोगुणकी वृद्धि होनेपर अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १३ ॥]

(३) बोधके हेतुभूत उपदेशादिके होनेपर भी बोधकी सर्वथा अयोग्यता होनी

ग्निहोत्रं जुहुयादित्यादौ प्रवृत्तिकारणे जनितबोधेऽपि शास्त्रे सर्वथा तत्प्रवृत्त्ययोग्यत्वम्। प्रमादस्तत्कालकर्तव्यत्वेन प्राप्तस्यार्थस्यानुसंधानाभावः। मोह एव च मोहो निद्रा विपर्ययो वा। चौ समुच्चये। एवकारो व्यभिचारवारणार्थः। तमस्येव विवृद्ध एतानि लिङ्गानि जायन्ते हे कुरुनन्दन। अत एतैर्लिङ्गैरव्यभिचारिभिर्विवृद्धं तमो जानीयादित्यर्थः ॥ १३ ॥

(१) इदानीं मरणसमये विवृद्धानां सत्त्वादीनां फलविशेषमाह द्वाभ्याम्—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

(२) सत्त्वे प्रवृद्धे सति यदा प्रलयं मृत्युं याति प्राप्नोति देहभृद्देहाभिमानी जीवः, तदोत्तमा ये हिरण्यगर्भादयस्तद्विदां तदुपासकानां लोकान्देवसुखोपभोगस्थानविशेषानमलान्रजस्तमोमलरहितान्प्रतिपद्यते प्राप्नोति ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

(३) रजसि प्रवृद्धे सति प्रलयं मृत्युं गत्वा प्राप्य कर्मसङ्गिषु श्रुतिस्मृतिविहितप्रतिषिद्धकर्मफलाधिकारिषु मनुष्येषु जायते। तथा तद्वदेव तमसि प्रवृद्धे प्रलीनो मृतो मूढयोनिषु पश्वादिषु जायते ॥ १५ ॥

अप्रकाश है। प्रवृत्तिके कारण और जिन्होंने बोध कराया है ऐसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि शास्त्रके होनेपर भी उसमें प्रवृत्तिकी सर्वथा अयोग्यता होनी अप्रवृत्ति है। तात्कालिक कर्त्तव्यरूपसे प्राप्त हुई बातका अनुसन्धान न होना प्रमाद है 'मोह एव च'—निद्रा या विपर्ययका नाम मोह है। दो 'च' समुच्चय अर्थमें हैं तथा एवकार इन अप्रकाशादिकी अनुत्पत्तिका निषेध करनेके लिये है। हे कुरुनन्दन! तमोगुणकी वृद्धि होनेपर ही ये लिंग उत्पन्न होते हैं। अतः इन अनिवार्य लिंगोंके द्वारा तमोगुणको बढ़ा हुआ जाने—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १३ ॥

(१) अब दो श्लोकोंसे मरनेके समय बढ़े हुए सत्त्वादिके फलविशेष बताते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस समय देहधारी जीव सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर मरणको प्राप्त होता है तो वह हिरण्यगर्भादिकी उपासना करनेवालोंके निर्मल लोकोंमें जाता है ॥१४॥]

(२) जब देहधारी—देहाभिमानी जीव सत्त्वगुणके बढ़े होने पर प्रलय—मृत्युको प्राप्त होता है उस समय वह उत्तम जो हिरण्यगर्भादि हैं उनके वेत्ताओंके—उपासकोंके अमल—रजोगुण-तमोगुणरूप मलसे रहित लोकोंको—देवताओंके सुखोपभोगके स्थानविशेषोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

[श्लोकार्थः—रजोगुणकी वृद्धिके समय मृत्युको प्राप्त होनेपर वह कर्मासक्त जीवोंमें उत्पन्न होता है और तमोगुणकी अधिकताके समय मरनेपर मूढयोनियोंमें जन्म लेता है ॥ १५ ॥]

(३) रजोगुणके बढ़े होनेपर प्रलय—मृत्युको प्राप्त होकर वह कर्मसंगी—श्रुति और स्मृतिद्वारा विहित एवं निषिद्ध कर्मफलके अधिकारी मनुष्योंमें जन्म लेता है और इसी प्रकार तमोगुणके बढ़नेपर मरकर पशु आदि मूढ योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

(१) इदानीं स्वानुरूपकर्मद्वारा सत्त्वादीनां विचित्रफलतां संक्षिप्याऽऽह—

कर्मणः सुकृतस्याऽऽहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

(२) सुकृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणो धर्मस्य सात्त्विकं सत्त्वेन निर्वृत्तं निर्मलं रजस्तमोमलामिश्रितं सुखं फलमाहुः परमर्षयः । रजसो राजसस्य तु कर्मणः पापमिश्रस्य पुण्यस्य फलं राजसं दुःखं दुःखबहुलमल्पं सुखं कारणानुरूप्यात्कार्यस्य । अज्ञानमविवेकप्रायं दुःखं तामसं तमसस्तामसस्य कर्मणोऽधर्मस्य फलम् । आहुरित्यनुषज्यते । सात्त्विकादिकर्मलक्षणं च नियतं सङ्गरहितमित्यादिनाऽष्टादशे वक्ष्यति । अत्र रजस्तमःशब्दौ तत्कार्ये कर्मणि प्रयुक्तौ कार्यकारणयोरभेदोपचारात् 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' इत्यत्र यथा गोशब्दस्तत्प्रभवे पयसि, यथा वा 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' इत्यत्र धान्यशब्दस्तत्प्रभवे तण्डुले । तत्र पयस्तण्डुलयोरिवात्रापि कर्मणः प्रकृतत्वात् ॥ १६ ॥

(३) एतादृशफलवैचित्र्ये पूर्वोक्तमेव हेतुमाह—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

---

(१) अब अपने अनुरूप कर्मोंद्वारा सत्त्वादि गुणोंकी विचित्र फलवत्ताका संक्षेपमें वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—महर्षियोंने सात्त्विक कर्मका सात्त्विक और निर्मल फल बताया है तथा राजस कर्मका फल दुःख और तामस कर्मका फल अज्ञान बताया है ॥ १६ ॥]

(२) सुकृत—सात्त्विक कर्म अर्थात् धर्मका फल महर्षियोंने सात्त्विक—सत्त्वगुणसे होनेवाला और निर्मल—रजोगुण-तमोगुणरूप मलसे विना मिला हुआ अर्थात् सुख बताया है । रजसः—राजस अर्थात् पापमिश्रित पुण्यकर्मका फल राजस—दुःख यानी दुःखकी अधिकतासे युक्त अल्पसुख बताया है, क्योंकि कार्य कारणके ही अनुरूप हुआ करता है, तथा 'तमसः'—तामस कर्म अर्थात् अधर्मका फल अज्ञान—अविवेकप्राय तामस दुःख बताया है—इस प्रकार 'आहुः' (बताया है) इस क्रियापदका सम्बन्ध लगाना चाहिये । सात्त्विकादि कर्मोंके लक्षण तो 'नियतं सङ्गरहितम्' इत्यादि श्लोकोंसे अठारहवें अध्यायमें कहे जायँगे । जिस प्रकार 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (गौके दूधमें सोमको मिलाओ) इस वाक्यमें गौ शब्दका गौसे होनेवाले दूधके अर्थमें और 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' (तुम चावल हो, देवताओंको तृप्त करो) इस वाक्यमें 'धान्य' शब्दका उससे होनेवाले चावलके अर्थमें प्रयोग हुआ है, क्योंकि कार्य और कारणमें अभेदका उपचार किया जाता है उसी तरह यहाँ 'रजः' और 'तमः' शब्दों का उनके कार्यभूत कर्मोंमें प्रयोग हुआ है, क्योंकि वहाँ दूध और चावलके समान यहाँ भी कर्मका ही प्रसंग है ॥ १६ ॥

(३) इस प्रकारकी फलकी विभिन्नतामें पूर्वोक्त हेतु ही देते हैं—

[श्लोकार्थः—सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुणसे लोभ होता है और तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञानकी ही उत्पत्ति होती है ॥ १७ ॥]

(१) सर्वकरणद्वारकं प्रकाशरूपं ज्ञानं सत्त्वात्संजायते । अतस्तदनुरूपं सात्त्विकस्य कर्मणः प्रकाशबहुलं सुखं फलं भवति । रजसो लोभो विषयकोटिप्राप्त्याऽपि निवर्तयितुमशक्योऽभिलाषविशेषो जायते । तस्य च निरन्तरमुपचीयमानस्य पूरयितुमशक्यस्य सर्वदा दुःखहेतुत्वात्तत्पूर्वकस्य राजसस्य कर्मणो दुःखं फलं भवति । एवं प्रमादमोहौ तमसः सकाशाद्भवतो जायेते । अज्ञानमेव च भवति । एवकारः प्रकाशप्रवृत्तिव्यावृत्त्यर्थः । अतस्तामसस्य कर्मणस्तामसमज्ञानादिप्रायमेव फलं भवतीति युक्तमेवेत्यर्थः । अत्र चाज्ञानमप्रकाशः । प्रमादो मोहश्चाप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्चेत्यत्र व्याख्यातौ ॥ १७ ॥

(२) इदानीं सत्त्वादिवृत्तस्थानां प्रागुक्तमेव फलमूर्ध्वमध्याधोभावेनाऽऽह—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

(३) अत्र तृतीये गुणे वृत्तशब्दप्रयोगादाद्ययोरपि वृत्तमेव विवक्षितम् । तेन सत्त्वस्थाः सत्त्ववृत्ते शास्त्रीये ज्ञाने कर्मणि च निरता ऊर्ध्वं सत्यलोकपर्यन्तं देवलोकं गच्छन्ति ते देवेषूत्पद्यन्ते ज्ञानकर्मतारतम्येन । तथा मध्ये मनुष्यलोके पुण्यपापमिश्रे तिष्ठन्ति न तूर्ध्वं गच्छन्त्यधो वा मनुष्येषूत्पद्यन्ते राजसा रजोगुणवृत्ते लोभादिपूर्वके राजसे कर्मणि निरताः । जघन्यगुणवृत्तस्था जघन्यस्य गुणद्वयापेक्षया पश्चाद्भाविनो निकृष्टस्य तमसो गुणस्य वृत्ते निद्रालस्यादौ स्थिता अधो गच्छन्ति

---

(१) समस्त इन्द्रियरूप द्वारोंवाला प्रकाशरूप ज्ञान सत्त्वगुणसे उत्पन्न होता है, अतः सात्त्विक कर्मका फल उसके अनुरूप प्रकाशबहुल सुख होता है । रजोगुणसे लोभ—करोड़ों विषयोंके मिलनेपर भी जिसका निवारण नहीं किया जा सकता ऐसी इच्छा-विशेष का जन्म होता है । निरन्तर बढ़ता रहनेके कारण उसकी पूर्ति करनी सम्भव न होनेसे तथा सब प्रकारके दुःखोंका कारण होनेसे लोभपूर्वक होनेवाले राजस कर्मोंका फल दुःख होता है । इसी प्रकार प्रमाद और मोह तमोगुणसे होते हैं तथा अज्ञान भी उसीसे होता है । यहाँ 'एव' शब्द प्रकाशकी व्यावृत्तिके लिये है, अतः तामस कर्मका फल तामस अज्ञानादिबहुल ही होता है—सो ठीक ही है । यहाँ अज्ञानका अर्थ अप्रकाश है तथा प्रमाद और मोहकी व्याख्या 'अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च' इत्यादि श्लोकमें कर दी है ॥ १७ ॥

(२) अब सात्त्विकादि आचरणोंमें स्थित पुरुषोंके मिलनेवाले फलोंको ऊँची, बीचकी और नीची स्थितिरूपसे वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—सत्त्वगुणमें स्थित लोग ऊँचे लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणी मध्यके लोकोंमें रहते हैं और तामस आचरणमें स्थित तमोगुणी लोग नीचे लोकोंमें जाते हैं ॥ १८ ॥]

(३) यहाँ तीसरे गुणके साथ वृत्त (आचरण) शब्दका प्रयोग होनेसे पहले दो गुणोंका भी आचरण बताना ही अभीष्ट है । अतः सत्त्वस्थ—सात्त्विक आचरण अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान और कर्ममें तत्पर पुरुष ऊपरके लोक, अर्थात् सत्यलोकपर्यन्त देवलोकमें जाते हैं । वे ज्ञान और कर्मके तारतम्यसे देवताओंमें उत्पन्न होते हैं । तथा राजस—रजोगुणके आचरण अर्थात् लोभादिपूर्वक राजस कर्ममें तत्पर पुरुष मध्यमें—पुण्य और पापसे मिलेहुए मनुष्यलोकमें रहते हैं । वे न तो ऊपरकी ओर जाते हैं न नीचेको अर्थात् मनुष्योंमें ही उत्पन्न होते हैं । तथा जघन्यगुणवृत्तस्थ—जघन्य यानी दो गुणोंकी अपेक्षा पीछे होनेवाले निकृष्ट तमोगुणके आचरण निद्रा और आलस्यादिमें स्थित लोग नीचेकी ओर जाते हैं—पशु आदि योनियोंमें उत्पन्न होते हैं । कभी-कभी तमोगुणी आचरणमें

पश्चादिपूत्पद्यन्ते । कदाचिज्जघन्यगुणवृत्तस्थाः सात्त्विकां राजसाश्च भवन्त्यत आह—तामसाः सर्वदा तमःप्रधानाः । इतरेषां कदाचित्तद्वृत्तस्थत्वेऽपि न तत्प्रधानतेति भावः ॥ १८ ॥

(१) अस्मिन्नध्याये वक्तव्यत्वेन प्रस्तुतमर्थत्रयम् । तत्र चेत्रचेत्रज्ञसंयोगस्येश्वराधीनत्वं के वा गुणाः कथं वा ते बध्नन्तीत्यर्थद्वयमुक्तम् । अधुना तु गुणेभ्यः कथं मोक्षणं मुक्तस्य च किं लक्षणमिति वक्तव्यमवशिष्यते । तत्र मिथ्याज्ञानात्मकत्वाद् गुणानां सम्यग्ज्ञानात्तेभ्यो मोक्षणमित्याह—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

(२) गुणेभ्यः कार्यकारणविषयाकारपरिणतेभ्योऽन्यं कर्तारं यदा द्रष्टा विचारकुशलः सन्ना-नुपश्यति विचारमनु न पश्यति गुणा एवान्तःकरणबहिष्करणशरीरविषयभावापन्नाः सर्वकर्मणां कर्तार इति पश्यति । गुणेभ्यश्च तत्तद्वस्थाविशेषेण परिणतेभ्यः परं गुणतत्कार्यासंस्पृष्टं तद्भासकमा-दित्यमिव जलतत्कम्पाद्यसंस्पृष्टं निर्विकारं सर्वसाक्षिणं सर्वत्र समं चेत्रज्ञमेकं वेत्ति । मद्भावं मद्रूपतां स द्रष्टाऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

(३) कथमधिगच्छतीत्युच्यते—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

स्थित पुरुष भी सात्त्विक और राजस प्रकृतिके होते हैं, इसलिये 'तामसाः' ऐसा कहा है। तात्पर्य यह है, जो सर्वदा तमःप्रधान हैं, दूसरे लोगोंकी तो कभी-कभी तामस आचरणमें स्थिति होनेपर भी तमः-प्रधानता नहीं होती ॥ १८ ॥

(१) इस अध्यायमें कहनेके लिये तीन बातें प्रस्तुत हैं। उनमेंसे चेत्र और चेत्रज्ञके संयोगकी ईश्वराधीनता तथा गुण कौन-कौनसे हैं और वे किस प्रकार बाँधते हैं—ये दो बातें तो कह दी गयीं। अब यह कहना रह जाता है कि गुणोंसे कैसे मुक्ति हो सकती है और मुक्तपुरुषका लक्षण क्या है ? सो इस विषयमें भगवान् ऐसा कहते हैं कि गुण मिथ्याज्ञानस्वरूप हैं, इसलिये सम्यग्ज्ञानसे उनसे मुक्ति हो सकती है—

[श्लोकार्थः—जिस समय विचारकुशल पुरुष गुणोंके सिवा किसी और को कर्ता नहीं देखता तथा गुणोंसे परे जो चेत्रज्ञ है उसे जानता है उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥]

(२) जिस समय पुरुष द्रष्टा—विचारकुशल होकर देह, इन्द्रिय और विषयके आकारमें परिणत गुणोंसे भिन्न किसी औरको कर्ता अनुभव नहीं करता अर्थात् विचार करनेपर नहीं देखता तथा 'अन्तःकरण, बाह्यकरण, देह और विषयके रूपमें परिणत गुण ही समस्त कर्मोंके कर्ता हैं' ऐसा देखता है और उस-उस अवस्थाविशेषमें परिणत गुणोंसे परे—गुण और उनके कार्योंसे असंस्पृष्ट उनके प्रकाशक चेत्रज्ञको जल और उसके कम्पादिसे असंस्पृष्ट सूर्यके समान निर्विकार, सर्वसाक्षी, सर्वत्र समान और अद्वितीय देखता है तो वह विचारकुशल पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥

(३) किस प्रकार प्राप्त हो जाता है, सो बताया जाता है—

[श्लोकार्थः—देहधारी जीव देहकी उत्पत्तिके बीजभूत इन तीनों गुणोंको पार करके जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थारूप दुःखसे मुक्त होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥]

(१) गुणानेतान्मायात्मकान्त्रीन्सत्त्वरजस्तमोनाम्नो देहसमुद्भवान्देहोत्पत्तिबीजभूतानतीत्य जीवन्नेव तत्त्वज्ञानेन बाधित्वा जन्ममृत्युजरादुःखैर्जन्मना मृत्युना जरया दुःखैश्चाऽऽध्यात्मिकादिभिर्मा-यामयैर्विमुक्तो जीवन्नेव तत्संबन्धशून्यः सन्विद्वानमृतं मोक्षं मद्भावमश्नुते प्राप्नोति ॥ २० ॥

(२) गुणानेतानतीत्य जीवन्नेवामृतमश्नुत इत्येतच्छ्रुत्वा गुणातीतस्य लक्षणं चाऽऽचारं च गुणातीतत्वोपायं च सम्यग्बुभुत्समानः—

अर्जुन उवाच—
कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

(३) एतान्गुणानतीतो यः स कैर्लिङ्गैर्विशिष्टो भवति । यैर्लिङ्गैः स ज्ञातुं शक्यस्तानि मे ब्रूहीत्येकः प्रश्नः । प्रभुत्वाद् भृत्यदुःखं भगवतैव निवारणीयमिति सूचयन्संबोधयति—प्रभो इति । क आचारोऽस्येति किमाचारः । किं यथेष्टचेष्टः किं वा नियन्त्रित इति द्वितीयः प्रश्नः । कथं च केन च प्रकारेणैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्ततेऽतिक्रामतीति गुणातीतत्वोपायः क इति तृतीयः प्रश्नः ॥ २१ ॥

(४) स्थितप्रज्ञस्य का भाषेत्यादिना पृष्टमपि प्रजहाति यदा कामानित्यादिना दत्तोत्तरमपि पुनः प्रकारान्तरेण बुभुत्समानः पृच्छतीत्यवधाय प्रकारान्तरेण तस्य लक्षणादिकं पञ्चभिः श्लोकैः—

(१) देहसमुद्भव—देहोत्पत्तिके बीजभूत इन सत्त्व, रज और तमः संज्ञक तीन मायात्मक गुणोंको पार करके—जीवित रहते हुए ही तत्त्वज्ञानद्वारा बाधित करके जन्म, जरा और मृत्युरूप दुःखोंसे अर्थात् जन्म, मृत्यु और जरावस्थासे होनेवाले आध्या-त्मिकादि मायामय गुणोंसे विमुक्त होकर—जीवित रहते हुए ही उनके सम्बन्धसे शून्य होकर अन्तमें अमृत—मोक्ष अर्थात् मेरे स्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

(२) 'इन तीनों गुणोंको पार करके पुरुष जीवित रहते हुए ही अमरत्व प्राप्तकर लेता है' यह बात सुनकर गुणातीतके लक्षण, आचार और गुणातीत होनेका उपाय सम्य-क्प्रकारसे जाननेकी इच्छासे—

[श्लोकार्थः—अर्जुनने कहा—प्रभो ! इन तीनों गुणोंसे पार हुआ पुरुष किन लक्षणोंसे युक्त होता है, उसका क्या आचरण होता है और वह किस प्रकार इन तीन गुणोंका अतिक्रमण करता है ॥ २१ ॥]

(३) [अर्जुनने कहा—] जो पुरुष इन गुणोंसे पार गया हुआ होता है वह किन लक्षणोंसे युक्त होता है; जिन लक्षणोंसे उसे जाना जा सकता है वह मुझे बताओ—यह एक प्रश्न है। 'भगवान् प्रभु हैं, इसलिये उन्हींको भक्तका दुःख दूर करना चाहिये' यह सूचित करनेके लिये 'प्रभो' यह सम्बोधन दिया है। उसका क्या आचरण होता है, अतः 'किमाचारः' क्या वह यथेष्ट चेष्टा करनेवाला होता है अथवा नियमानुसार चलनेवाला ?—यह दूसरा प्रश्न है। और कैसे—किस प्रकारसे इन तीन गुणोंको पार करता है अर्थात् गुणातीत होनेका उपाय क्या है ?—यह तीसरा प्रश्न है ॥ २१ ॥

(४) 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (२।५४) इत्यादि श्लोकसे पहले पूछ चुकने पर भी और 'प्रजहाति यदा कामान्' (२।५५) इत्यादि ग्रन्थसे उसका उत्तर दे दिया जानेपर भी यह समझकर कि उसे प्रकारान्तरसे जाननेके लिये अर्जुन प्रश्न कर रहा है, उसके लक्षणादिको पाँच श्लोकों द्वारा प्रकारान्तरसे—

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

(१) यस्तावत्कैर्लिङ्गैर्युक्तो गुणातीतो भवतीति प्रश्नस्तस्योत्तरं शृणु—प्रकाशं च सत्त्वकार्यं प्रवृत्तिं च रजःकार्यं मोहं च तमःकार्यम् । उपलक्षणमेतत् । सर्वाण्यपि गुणकार्याणि यथायथं संप्रवृत्तानि स्वसामग्रीवशादुद्भूतानि सन्ति दुःखरूपाण्यपि दुःखबुद्ध्या यो न द्वेष्टि । तथा विनाशसामग्रीवशान्निवृत्तानि तानि सुखरूपाण्यपि सन्ति सुखबुद्ध्या न काङ्क्षति न कामयते स्वप्नवन्मिथ्यात्वनिश्चयात् । एतादृशद्वेषरागशून्यो यः स गुणातीत उच्यत इति चतुर्थश्लोकगतेनान्वयः । इदं च स्वात्मप्रत्यक्षं लक्षणं स्वार्थमेव न परार्थम् । न हि स्वाश्रितौ द्वेषतद्भावौ रागतद्भावौ च परः प्रत्येतुमर्हति ॥२२॥

(२) एवं लक्षणमुक्त्वा गुणातीतः किमाचार इति द्वितीयप्रश्नस्य प्रतिवचनमाह त्रिभिः—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

(३) यथोदासीनो द्वयोर्विवदमानयोः कस्यचित्पक्षमभजमानो न रज्यति न वा द्वेष्टि तथाऽयमात्मविद्रागद्वेषशून्यतया स्वस्वरूप एवाऽऽसीनो गुणैः सुखदुःखाद्याकारपरिणतैर्यो न विचाल्यते न

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन ! जो पुरुष प्रवृत्त हुए प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहमें दुःख बुद्धि करके उनसे द्वेष नहीं करता और दूर हुए प्रकाश, प्रवृत्ति एवं मोहमें सुख-बुद्धि करके उनकी इच्छा नहीं करता [वह गुणातीत कहलाता है] ॥ २२ ॥]

(१) [श्रीभगवान्‌ने कहा—] तुम्हारा जो प्रश्न है कि किन लक्षणोंसे युक्त पुरुष गुणातीत होता है, उसका उत्तर सुनो । प्रकाश सत्त्वगुणका कार्य है, प्रवृत्ति रजोगुणका कार्य है और मोह तमोगुणका कार्य है । ये उनके कार्योंके उपलक्षणमात्र हैं । यथावत् प्रवृत्त हुए अर्थात् अपनी सामग्रीके कारण जाग्रत् हुए गुणोंके सभी कार्य दुःखरूप भी हैं, तो भी जो दुःखबुद्धिसे उनसे द्वेष नहीं करता । तथा विनाशकी सामग्रीके कारण निवृत्त हो जानेपर सुखरूप होनेपर भी जो सुखबुद्धिसे उनकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि उन्हें उसने स्वप्नके समान मिथ्या मान रखा है, इस प्रकारके द्वेष और रागसे जो शून्य है 'वह गुणातीत कहा जाता है, इस प्रकार इसका इस चौथे श्लोकके वाक्यसे अन्वय करना चाहिये । यह अपनेको ही प्रत्यक्ष होनेवाला लक्षण अपने ही लिये है किसी दूसरेके लिये नहीं, क्योंकि अपनेमें रहनेवाले द्वेष और द्वेषाभाव तथा राग और रागाभावको कोई दूसरा नहीं जान सकता ॥ २२ ॥

(२) इस प्रकार गुणातीतका लक्षण कहकर अब तीन श्लोकों द्वारा इस दूसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं कि गुणातीत कैसे आचरणवाला होता है—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष उदासीनके समान अपने स्वरूपमें स्थित रहकर गुणोंके द्वारा चलायमान नहीं होता तथा 'गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं' ऐसा निश्चयकर अपने स्वरूपमें स्थित रहता है—किसी प्रकारकी चेष्टा नहीं करता वह गुणातीत कहलाता है ॥ २३ ॥]

(३) जिस प्रकार उदासीन—दो विवाद करनेवालोंमेंसे किसीका भी पक्ष न लेनेवाला पुरुष न तो राग करता है और न द्वेष, उसी प्रकार जो आत्मवेत्ता भी राग-द्वेष-

प्रख्याव्यते स्वरूपावस्थानात्, किं तु गुणा एवैते देहेन्द्रियविषयाकारपरिणताः परस्परस्मिन्वर्तन्ते । मम त्वादित्यस्येवैतत्सर्वभासकस्य न केनापि भास्यधर्मेण संबन्धः । स्वप्नवन्मायामात्रश्चायं भास्यप्रपञ्चो जडः स्वयंज्योतिःस्वभावस्त्वहं परमार्थसत्यो निर्विकारो द्वैतशून्यश्चेत्येवं निश्चित्य यः स्वरूपेऽवतिष्ठत्यवतिष्ठते । यो नु तिष्ठतीति वा पाठस्तत्र नुः पृथक्कार्यः । नेङ्गते न तु व्याप्रियते कुत्रचित् । गुणातीतः स उच्यत इति तृतीयगतेनान्वयः ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

(१) समे दुःखसुखे द्वेषरागशून्यतयाऽनात्मधर्मतयाऽनृततया च यस्य स समदुःखसुखः । कस्मादेवं यस्मात्स्वस्थः स्वस्मिन्नात्मन्येव स्थितो द्वैतदर्शनशून्यत्वात् । अत एव समानि हेयोपादेयभावरहितानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य स तथा । लोष्टः पांसुपिण्डः । अत एव तुल्ये प्रियाप्रिये सुखदुःखसाधने यस्य हितसाधनत्वाहितसाधनत्वबुद्धिविषयत्वाभावेनोपेक्षणीयत्वात् । धीरो धीमान्धृतिमान्वा । अत एव तुल्ये निन्दात्मसंस्तुती दोषकीर्तनगुणकीर्तने यस्य स गुणातीत उच्यत इति द्वितीयगतेनान्वयः ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।

शून्य होनेके कारण अपने स्वरूपमें ही स्थित रहकर सुखदुःखादिके आकारमें परिणत गुणोंसे विचलित—स्वरूपस्थितिसे च्युत नहीं किया जाता, अपितु 'देह और इन्द्रियोंके आकारमें परिणत ये गुण ही एक दूसरेमें वर्तते हैं, मेरा तो इन सबको प्रकाशित करनेवाले सूर्यके समान किसी भी प्रकाश्य वस्तुके धर्मसे सम्बन्ध नहीं है । यह प्रकाश्य प्रपञ्च तो जड और स्वप्नके समान मायामात्र है और मैं स्वयंप्रकाशस्वरूप परमार्थसत्य, निर्विकार एवं द्वैतशून्य हूँ' ऐसा निश्चयकर जो स्वरूपमें स्थित रहता है । अथवा 'योऽवतिष्ठति' के स्थानमें 'यो नु तिष्ठति' ऐसा पाठ भी है । वहाँ 'नु' को अलगकर लेना चाहिये । 'नेङ्गते' अर्थात् कहीं भी व्यापारयुक्त नहीं होता 'वह गुणातीत कहलाता है', इस प्रकार इस तीसरे श्लोकके वाक्यसे इसका अन्वय है ॥ २३ ॥

[श्लोकार्थः—जो पुरुष सुख-दुःखमें समान, अपने स्वरूपमें स्थित, ढेला, पत्थर और सुवर्णमें समान दृष्टिवाला, प्रिय और अप्रियके प्रति समान, धैर्यवान् तथा अपनी स्तुति और निन्दामें समान है, वह गुणातीत कहलाता है ॥ २४ ॥]

(१) राग-द्वेषशून्य होनेके कारण जिसके लिये सुख और दुःख अनात्मधर्म एवं मिथ्या होनेके कारण समान हैं ऐसा जो समदुःख-सुख है, ऐसा क्यों है ? क्योंकि स्वस्थ-द्वैतदर्शनशून्य होनेके कारण अपने आत्मामें ही स्थित है । इसीसे जिसके लिये लोष्ट, पत्थर और सुवर्ण समान हैं—हेयोपादेयभावशून्य हैं । लोष्ट (ढेला) मिट्टीके पिंडको कहते हैं । इसीलिये हितसाधनत्व और अहितसाधनत्व-बुद्धिकी विषमता नहोनेसे उपेक्षाके योग्य होनेके कारण जिसके लिये प्रिय और अप्रिय-सुख और दुःखके साधन समान हैं । जो धीर—बुद्धिमान् अथवा धैर्यवान् है, इसीसे जिसके लिये निन्दा और अपनी स्तुति अर्थात् दोषकीर्तन और गुणकीर्तन भी समान हैं 'वह गुणातीत कहलाता है'; इस प्रकार इसका दूसरे श्लोकके वाक्य से अन्वय है ॥ २४ ॥

[श्लोकार्थः—जो मान और अपमानमें समान, मित्र और शत्रु दोनों ही पक्षोंमें

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

(१) मानः सत्कार आदरापरपर्यायः । अपमानस्तिरस्कारोऽनादरापरपर्यायः । तयोस्तुल्यो हर्षविषादशून्यः । निन्दास्तुती शब्दरूपे मानापमानौ तु शब्दमन्तरेणापि कायमनोव्यापारविशेषाविति भेदः । अत्र पकारवकारयोः पाठविकल्पेऽप्यर्थः स एव । तुल्यो मित्रारिपक्षयोः, मित्रपक्षस्यैवारिपक्षस्यापि द्वेषाविषयः स्वयं तयोरनुग्रहनिग्रहशून्य इति वा । सर्वारम्भपरित्यागी, आरभ्यन्त इत्यारम्भाः कर्माणि तान्सर्वान्परित्यक्तुं शीलं यस्य स तथा, देहयात्रामात्रव्यतिरेकेण सर्वकर्मपरित्यागीत्यर्थः । उदासीनवदासीन इत्याद्युक्तप्रकाराचारो गुणातीतः स उच्यते । यदुक्तमुपेक्षकत्वादि तद्विद्योदयात्पूर्वं यत्नसाध्यं विद्याधिकारिणा साधनत्वेनानुष्ठेयमुत्पन्नायां तु विद्यायां जीवन्मुक्तस्य गुणातीतस्योक्तं धर्मजातमयत्नसिद्धं लक्षणत्वेन तिष्ठतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

(२) अधुना कथमेतान्गुणानतिवर्तत इति तृतीयप्रश्नस्य प्रतिवचनमाह—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

(३) चस्त्वर्थः । मामेवेश्वरं नारायणं सर्वभूतान्तर्यामिणं मायया क्षेत्रज्ञतामागतं परमानन्दघनं भगवन्तं वासुदेवमव्यभिचारेण परमप्रेमलक्षणेन भक्तियोगेन द्वादशाध्यायोक्तेन यः सेवते सदा

समान और समस्त आरम्भोंका त्याग करनेवाला होता है वह गुणातीत कहलाता है ॥ २५ ॥]

(१) मान सत्कारको कहते हैं, इसका दूसरा समानार्थक शब्द 'आदर' है तथा अपमान तिरस्कारको कहते हैं इसका दूसरा पर्य्यायवाची शब्द 'अनादर' है । उन दोनोंमें जो तुल्य—हर्ष-विषादशून्य है । निन्दा और स्तुति तो शब्दरूप होते हैं, किन्तु मान और अपमान तो शब्दके बिना भी शरीर और मनके व्यापारविशेष हैं—यह इनका भेद है । यहाँ पाठमें ['अपमान' या 'अवमान' इस प्रकार] 'प' और 'व' का विकल्प होनेपर भी अर्थ एक ही है । जो मित्र और शत्रु—दोनों पक्षोंमें समान है अर्थात् मित्रपक्षके समान शत्रुपक्षके भी द्वेषका विषय नहीं है, अथवा स्वयं ही उनके प्रति अनुग्रह और निग्रहसे शून्य है । जो सर्वारम्भपरित्यागी—जिनका आरम्भ किया जाता है उन्हें आरम्भ अर्थात् कर्म कहते हैं, उन्हें त्यागनेका जिसका स्वभाव है । अर्थात् देहयात्रामात्रके सिवा और समस्त कर्मोंका परित्याग करनेवाला है । इस प्रकार जो 'उदासीनवदासीन' इत्यादि श्लोकोंसे कहे हुए प्रकारके आचरणोंवाला पुरुष है वह गुणातीत कहलाता है । यहाँ जो उपेक्षकत्वादि लक्षण बताये हैं उनका ज्ञानोदयसे पूर्व यत्नसाध्य ज्ञानके अधिकारीको तो साधनरूपसे अनुष्ठान करना चाहिये, ज्ञान उत्पन्न हो जानेपर तो ये पूर्वोक्त धर्मसमूह गुणातीत जीवन्मुक्तके प्रयत्नसाध्य लक्षणरूपसे रहते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ २५ ॥

(२) अब 'इन गुणोंका किस प्रकार अतिक्रमण करता है' इस तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष अव्यभिचार भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है वह इन गुणोंका सम्यक्प्रकारसे उल्लङ्घन कर मोक्ष पानेमें समर्थ हो जाता है ॥ २६ ॥]

(३) 'मां च' इसमें 'च' शब्द 'तु' के अर्थमें है । जो ईश्वर, नारायण, समस्त भूतोंके अन्तर्यामी, मायासे क्षेत्रज्ञताको प्राप्त, परमानन्दघन, भगवान् वासुदेव मेरा अव्यभिचार—परमप्रेमरूप भक्तियोगसे, जिसका कि बारहवें अध्यायमें वर्णन किया गया है,

चिन्तयति स मद्भक्त एतान्प्रागुक्तान्गुणान्समतीत्य सम्यगतिक्रम्याद्वैतदर्शनेन बाधित्वा ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभवनाय मोक्षाय कल्पते समर्थो भवति । सर्वदा भगवच्चिन्तनमेव गुणातीतत्वोपाय इत्यर्थः ॥ २६ ॥

(१) अत्र हेतुमाह—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

(२) ब्रह्मणस्तत्पदवाच्यस्य सोपाधिकस्य जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतोः प्रतिष्ठा पारमार्थिकं निर्विकल्पकं सच्चिदानन्दात्मकं निरुपाधिकं तत्पदलक्ष्यमहं निर्विकल्पको वासुदेवः प्रतितिष्ठत्यत्रेति प्रतिष्ठा कल्पितरूपरहितमकल्पितं रूपम् । अतो यो मामनुपाधिकं ब्रह्म सेवते स ब्रह्मभूयाय कल्पत इति युक्तमेव ।

(३) कीदृशस्य ब्रह्मणः प्रतिष्ठाऽहमित्याकाङ्क्षायां विशेषणानि—अमृतस्य विनाशरहितस्य, अव्ययस्य विपरिणामरहितस्य च, शाश्वतस्यापक्षयरहितस्य च, धर्मस्य ज्ञाननिष्ठालक्षणधर्मप्राप्यस्य, सुखस्य परमानन्दरूपस्य । सुखस्य विषयेन्द्रियसंयोगजत्वं वारयति—ऐकान्तिकस्याव्यभिचारिणः सर्वस्मिन्देशे काले च विद्यमानस्यैकान्तिकसुखरूपस्येत्यर्थः । एतादृशस्य ब्रह्मणो यस्मादहं वास्तवं स्वरूपं तस्मान्मद्भक्तः संसारान्मुच्यत इति भावः । तथा चोक्तं ब्रह्मणा भगवन्तं श्रीकृष्णं प्रति—

सेवन—सर्वदा चिन्तन करता है वह मेरा भक्त इन पूर्वोक्त सभी गुणोंका सम्यक् प्रकारसे अतिक्रमण कर—अद्वैत दर्शनके द्वारा इनका बाधकर ब्रह्मभूय—ब्रह्मत्वप्राप्ति अर्थात् मोक्षके लिये योग्य—समर्थ हो जाता है । तात्पर्य यह है कि सर्वदा भगवान्का चिन्तन करना ही गुणातीत होनेका उपाय है ॥ २६ ॥

(१) इसमें हेतु बताते हैं—

[श्लोकार्थः—क्योंकि [निर्विकल्पस्वरूप] मैं अविनाशी, अविकारी, नित्य, धर्मस्वरूप, सुखस्वरूप और अव्यभिचारी [सविकल्प] ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (वास्तविक स्वरूप) हूँ ॥]

(२) मैं जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके हेतुभूत, तत्पदके वाच्य सोपाधिक ब्रह्मकी प्रतिष्ठा—उसका पारमार्थिक निर्विकल्प सच्चिदानन्दात्मक निरुपाधिकरूप हूँ । अर्थात् तत्पदका लक्ष्यार्थ मैं निर्विकल्प वासुदेव प्रतिष्ठा—जिसमें वह प्रतिष्ठित है ऐसा कल्पितरूप रहित अकल्पितरूप हूँ । अतः जो निरुपाधिक ब्रह्मरूप मेरा सेवन करता है वह ब्रह्मत्व-प्राप्तिके योग्य हो जाता है—यह उचित ही है ।

(३) मैं कैसे ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ—ऐसा प्रश्न होनेपर उसके ये विशेषण हैं—'अमृतस्य' विनाशरहितकी, 'अव्ययस्य'—विपरिणामरहितकी 'शाश्वतस्य'—अपक्षयरहितकी, 'धर्मस्य'—ज्ञाननिष्ठारूप धर्मसे प्राप्त होनेयोग्यकी, 'सुखस्य'—परमानन्दरूपकी । फिर विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाले सुखका निषेध करते हुए कहते हैं 'ऐकान्तिकस्य'—अव्यभिचारी अर्थात् समस्त देश और कालमें विद्यमान रहनेवालेकी । अर्थात्

'एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥' इति ।

अत्र सर्वोपाधिशून्य आत्मा ब्रह्म त्वमित्यर्थः । शुकेनापि स्तुतिमन्तरेणैवोक्तम्—

'सर्वेषामेव वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः ।
तस्यापि भगवान्कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥' इति ।

सर्वेषामेव कार्यवस्तूनां भावार्थः सत्तारूपः परमार्थो भवति कार्याकारेण जायमाने सोपाधिके ब्रह्मणि स्थितः कारणसत्तातिरिक्तायाः कार्यसत्तायाः अनभ्युपगमात् । तस्यापि भवतः कारणस्य सोपाधिकस्य ब्रह्मणो भावार्थः सत्तारूपोऽर्थो भगवान्कृष्णः सोपाधिकस्य निरुपाधिके कल्पितत्वात्, कल्पितस्य चाधिष्ठानानतिरेकात्, भगवतः कृष्णस्य च सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वेन परमार्थसत्यनिरुपाधिब्रह्मरूपत्वात् । अतः किमतद्वस्तु तस्माच्छ्रीकृष्णादन्यद्वस्तु परमार्थिकं किं निरूप्यतां तदेवैकं परमार्थिकं नान्यत्किमपीत्यर्थः । तदेतदिहाप्युक्तं ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमिति ।

(१) अथवा त्वद्भक्तस्त्वद्भावमाप्नोतु नाम कथं नु ब्रह्मभावाय कल्पते ब्रह्मणः सकाशात्तवान्यत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मणो हीति । ब्रह्मणः परमात्मनः प्रतिष्ठा पर्यासिरहमेव नतु मद्भिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः । तथाऽमृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य चाव्ययस्य सर्वथाऽनुच्छेद्यस्य च प्रतिष्ठाऽहमेव । मय्येव मोक्षः पर्यवसितो मत्प्राप्तिरेव मोक्ष इत्यर्थः । तथा शाश्वतस्य नित्यमोक्षफलस्य धर्मस्य ज्ञाननिष्ठा-

---

एकमात्र सुखस्वरूपकी । क्योंकि मैं ऐसे ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप हूँ इसलिये मेरा भक्त संसारसे मुक्त हो जाता है—ऐसा इसका भाव है । ऐसा ही ब्रह्माजीने भगवान् कृष्णके प्रति कहा था—'आप पुराण, पुरुष, सत्य, स्वयंप्रकाश, अनन्त, सबके आदि, नित्य, अक्षर, नित्यसुखस्वरूप, निरञ्जन, पूर्ण, अद्वितीय, उपाधिसे रहित, अविनाशी एकमात्र आत्मा ही हैं ।' तात्पर्य यह है कि आप समस्त उपाधियोंसे शून्य आत्मा अर्थात् ब्रह्म ही हैं । श्रीशुकदेवजीने भी स्तुति न करते हुये ही कहा है—'समस्त वस्तुओंका भावार्थ (सत्तारूप पारमार्थिक तत्त्व) आप सोपाधिक ब्रह्ममें स्थित हैं तथा उसका भी पारमार्थिक तत्त्व भगवान् कृष्ण हैं । अतः बताओ, उनसे भिन्न कौन वस्तु है ?' तात्पर्य यह है कि समस्त कार्यवस्तुओंका भावार्थ—सत्तारूप पारमार्थिक तत्त्व 'आपमें'—कार्यरूपमें उत्पन्न होनेवाले सोपाधिक ब्रह्ममें स्थित है, क्योंकि कारणसत्तासे भिन्न कार्यकी सत्ता स्वीकार नहीं की गयी । उन आप सोपाधिक ब्रह्मका भी भावार्थ—सत्तारूप अर्थ भगवान् कृष्ण है, क्योंकि सोपाधिककी कल्पना निरुपाधिकमें होती है और कल्पित वस्तु अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होती तथा भगवान् कृष्ण समस्त कल्पनाके अधिष्ठान होनेसे परमार्थ सत्ता निरुपाधिक ब्रह्मरूप ही हैं । अतः जो वह नहीं है ऐसी श्रीकृष्णसे भिन्न पारमार्थिक वस्तु कौनसी है सो बताओ । तात्पर्य यह है कि एकमात्र वही पारमार्थिक वस्तु है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है । इसीसे यहाँ कहा है कि मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ ।

(१) अथवा अर्जुनकी ओरसे ऐसी आशंका करके कि 'आपका भक्त आपके स्वरूपको भले ही प्राप्त हो जाय, वह ब्रह्मभावकी प्राप्तिके योग्य कैसे हो सकता है, क्योंकि आप तो ब्रह्मसे भिन्न ही हैं', भगवान् कहते हैं—ब्रह्म—परमात्माकी प्रतिष्ठा—पर्यवसान मैं ही हूँ अर्थात् ब्रह्म मेरेसे भिन्न नहीं है । इसी प्रकार अमृतकी—अमृतत्वरूप मोक्षकी, ओ अव्यय—सर्वथा अनुच्छेद्य है, प्रतिष्ठा मैं ही हूँ । मेरे ही में मोक्षका पर्यवसान होता है, अर्थात् मेरी प्राप्ति ही मोक्ष है । तथा शाश्वत—नित्य मोक्षरूप फलवाले ज्ञाननिष्ठा-

लक्षणस्य च पर्यासिरहमेव । ज्ञाननिष्ठालक्षणो धर्मो मय्येव पर्यवसितो न तेन मद्भिन्नं किंचित्प्राप्यमित्यर्थः । तथैकान्तिकस्य सुखस्य च पर्यासिरहमेव परमानन्दरूपत्वान्न मद्भिन्नं किंचित्सुखं प्राप्यमस्तीत्यर्थः । तस्माद्युक्तमेवोक्तं मद्भक्तो ब्रह्मभूयाय कल्पत इति ॥ २७ ॥

(१) पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति । सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां प्रकृतिगुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

रूप धर्मका पर्यवसान भी मैं ही हूँ । तात्पर्य यह है कि ज्ञाननिष्ठारूप धर्म भी मेरे ही में समाप्त होता है, अतः मुझसे भिन्न कोई और प्राप्तव्य वस्तु नहीं है । इसी तरह ऐकान्तिक सुखका पर्यवसान भी मैं ही हूँ । मैं परमानन्दरूप हूँ, अतः मुझसे भिन्न कोई और सुख प्राप्तव्य नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है । अतः यह ठीक ही कहा है कि मेरा भक्त ब्रह्मत्वकी प्राप्तिके योग्य हो जाता है ॥ २७ ॥

(१) जिन्होंने नमस्कार करनेवालोंके बन्धनको दूर कर दिया है उन मनुष्याकार परब्रह्म, सौन्दर्यके सारसर्वस्व नन्दनन्दनरूप तेजकी मैं बन्दना करता हूँ ।

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वर सरस्वतीपादशिष्य श्रीमधुसूदन-सरस्वतीकृत श्रीमद्भगवद्गीता गूढार्थदीपिका टीकाके हिन्दीभाषान्तरका गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

(१) पूर्वाध्याये भगवता संसारबन्धहेतून्गुणान्व्याख्याय तेषामत्ययेन ब्रह्मभावो मोक्षो मद्भजनेन लभ्यत इत्युक्तम्—

"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते। इति॥"

तत्र मनुष्यस्य तव भक्तियोगेन कथं ब्रह्मभाव इत्याशङ्कायां स्वस्य ब्रह्मरूपताज्ञापनाय सूत्रभूतोऽयं श्लोको भगवतोक्तः—

"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च। इति॥'

अस्य सूत्रस्य वृत्तिस्थानीयोऽयं पञ्चदशोऽध्याय आरभ्यते, भगवतः श्रीकृष्णस्य हि तत्त्वं ज्ञात्वा तत्प्रेमभजनेन गुणातीतः सन्ब्रह्मभावं कथमाप्नुयाल्लोक इति।

(२) तत्र ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमित्यादिभगवद्वचनमाकर्ण्य मम तुल्यो मनुष्योऽयं कथमेवं वदतीति विस्मयाविष्टमप्रतिभया लज्जया च किंचिदपि प्रष्टुमशक्नुवन्तमर्जुनमालक्ष्य कृपया स्वस्वरूपं विवक्षुः—

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

(पुरुषोत्तमयोग)

(१) पिछले अध्यायमें भगवान्‌ने संसारबन्धनके हेतुभूत गुणोंकी व्याख्या करके यह कहा है कि उनका अतिक्रमण करनेसे मेरे भजनद्वारा ब्रह्मभावरूप मोक्ष मिल सकता है; यथा—'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरा सेवन करता है वह इन गुणोंका सम्यक् प्रकारसे अतिक्रमण कर ब्रह्मत्व-प्राप्तिके योग्य हो जाता है।' यहाँ ऐसी शंका होनेपर कि आप तो मनुष्य हैं आपके भजनसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? अपनी ब्रह्मरूपता सूचित करनेके लिये भगवान्‌ने यह सूत्रभूत श्लोक कहा है—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।' अब इस सूत्रकी व्याख्यारूप यह पन्द्रहवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है, जिससे कि लोक किसी भी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वको जानकर उनके प्रेमके प्रादुर्भावसे गुणातीत होकर ब्रह्मत्वकी प्राप्ति कर सके।

(२) सो 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' इत्यादि भगवान्‌के वचन सुनकर 'यह तो मेरे समान मनुष्य ही है, इस प्रकार कैसे कहता है' इस विचारसे बुद्धि विस्मयसे भर जानेके कारण जो अत्यन्त भय और लज्जाके कारण कुछ भी पूछ नहीं सकते थे उन अर्जुनको लक्ष्य करके उन्हें कृपापूर्वक अपना स्वरूप बतानेकी इच्छासे—

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान्‌ने कहा—जिसका ऊपरकी ओर मूल है और नीचेकी ओर शाखाएँ हैं तथा वेद जिसके पत्ते हैं ऐसे इस संसाररूप अश्वत्थ (पीपलके) वृक्षको श्रुति और स्मृति अविनाशी बतलाती हैं। जो इसे जानता है वही वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है॥ १॥]

(१) तत्र विरक्तस्यैव संसाराद्भगवत्तत्त्वज्ञानेऽधिकारो नान्यस्येति पूर्वाध्यायोक्तं परमेश्वराधीनप्रकृतिपुरुषसंयोगकार्यं संसारं वृक्षरूपकल्पनया वर्णयति वैराग्याय प्रस्तुतगुणातीतत्वोपायत्वात्तस्य—

(२) ऊर्ध्वमुत्कृष्टं मूलं कारणं स्वप्रकाशपरमानन्दरूपत्वेन नित्यत्वेन च ब्रह्म। अथवोर्ध्वं सर्वसंसारबाधेऽप्यबाधितं सर्वसंसारभ्रमाधिष्ठानं ब्रह्म तदेव मायया मूलमस्येत्यूर्ध्वमूलम्। अधस्यर्वाचीनाः कार्योपाधयो हिरण्यगर्भाद्या गृह्यन्ते। ते नानादिक्प्रसृतत्वाच्छाखा इव शाखा अस्येत्यधःशाखम्। आशुविनाशित्वेन न श्वोऽपि स्थातेति विश्वासानर्हमश्वत्थं मायामयं संसारवृक्षमव्ययमनाद्यनन्तदेहादिसंतानाश्रयमात्मज्ञानमन्तरेणानुच्छेद्यमनन्तमव्ययमाहुः श्रुतयः स्मृतयश्च। श्रुतयस्तावत्—'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' इत्याद्याः कठवल्लीषु पठिताः। अर्वाञ्चो निकृष्टाः कार्योपाधयो महदहंकारतन्मात्रादयो वा शाखा अस्येत्यर्वाक्शाख इत्यधःशाखपदसमानार्थं, सनातन इत्यव्ययपदसमानार्थम्।

(३) स्मृतयश्च—

"अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः। बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः॥
महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा। धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः। एतद्ब्रह्मवनं चास्य ब्रह्माऽऽचरति साक्षिवत्॥
एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना। ततश्चाऽऽत्मगतिं प्राप्य तस्माच्चाऽऽवर्तते पुनः। इत्यादयः'

(१) भगवत्तत्त्वके ज्ञानमें संसारसे विरक्त हुए पुरुषका ही अधिकार है, किसी दूसरेका नहीं, इसलिये भगवान् पिछले अध्यायमें कहे हुए परमेश्वरके अधीन प्रकृति और पुरुषके संयोगरूप कार्यका, वैराग्यकी उत्पत्तिके लिये, संसाररूप वृक्षकी कल्पनासे वर्णन करते हैं, क्योंकि वह प्रस्तुत गुणातीतताका उपाय है।

(२) ऊर्ध्व—उत्कृष्ट मूल—कारण अर्थात् ब्रह्म, स्वप्रकाशपरमानन्दरूप होनेके कारण तथा नित्य होनेके कारण। अथवा सम्पूर्ण संसारका बाध होनेपर भी जिसका बाध नहीं होता वह सम्पूर्ण संसाररूप भ्रमका अधिष्ठान ब्रह्म ऊर्ध्व है और मायावश वही इसका मूल है, इसलिये इसे ऊर्ध्वमूल कहा है। तथा 'अधः' इससे अर्वाचीन कार्योपाधि हिरण्यगर्भादि ग्रहण किये जाते हैं, वे अनेकों दिशाओंमें फैले हुए होनेके कारण इसकी शाखाओंके समान शाखाएँ हैं, अतः यह अधःशाख है। शीघ्र ही नष्ट होनेवाला होनेसे यह श्व, (कल) भी स्थित रहनेवाला नहीं है, अतः यह अविश्वसनीय अश्वत्थ-मायामय संसार-वृक्ष अव्यय—अनादि और अनन्त देहादिपरम्पराका आश्रय, आत्मज्ञानके बिना उच्छिन्न न होनेवाला—अनन्त अर्थात् अविनाशी है—ऐसा श्रुतियाँ और स्मृतियाँ कहती हैं। श्रुतियाँ जैसे—'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' इत्यादि कठवल्ली उपनिषदोंमें आयी हुई। इसकी कर्मोपाधिरूप महत्तत्त्व अहंकार और तन्मात्रा आदि अवाक्—निकृष्ट शाखाएँ हैं, इसलिये इसे 'अवाक्शाखः' कहा गया है। यह 'अधःशाखा' पदके समान ही अर्थवाला है। 'सनातनः' यह पद अव्ययपदके समान अर्थवाला है।

(३) इसी प्रकार ये स्मृतियाँ हैं—

'अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः। बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः॥
महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा। धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः। एतद्ब्रह्मवनं चैव ब्रह्माचरति साक्षिवत्॥

(१) अव्यक्तमव्याकृतं मायोपाधिकं ब्रह्म तदेव मूलं कारणं तस्मात्प्रभवो यस्य स तथा। तस्यैव मूलस्याव्यक्तस्यानुग्रहादतिदृढत्वादुत्थितः संवर्धितः। वृक्षस्य हि शाखाः स्कन्धादुद्भवन्ति। संसारस्य च बुद्धेः सकाशान्नानाविधाः परिणामा भवन्ति। तेन साधर्म्येण बुद्धिरेव स्कन्धस्तन्मयस्तत्प्रचुरोऽयम्। इन्द्रियाणामन्तराणि च्छिद्राण्येव कोटराणि यस्य स तथा। महान्ति भूतान्याकाशादीनि पृथिव्यन्तानि विविधाः शाखा यस्य विशाखः स्तम्भो यस्येति वा। आजीव्य उपजीव्यः। ब्रह्मणा परमात्मनाऽधिष्ठितो वृक्षो ब्रह्मवृक्षः। आत्मज्ञानं विना छेत्तुमशक्यतया सनातनः। एतद्ब्रह्मवनमस्य ब्रह्मणो जीवरूपस्य भोग्यं वननीयं संभजनीयमिति वनं ब्रह्म साक्षिवदाचरति न त्वेतत्कृतेन लिप्यत इत्यर्थः। एतद्ब्रह्मवनं संसारवृक्षात्मकं छित्त्वा च भित्त्वा चाहं, ब्रह्मास्मीत्यतिदृढज्ञानखड्गेन समूलं निकृत्येत्यर्थः आत्मरूपां गतिं प्राप्य तस्मादात्मरूपान्मोक्षाद्याऽऽवर्तत इत्यर्थः। स्पष्टमितरत्।

(२) अत्र च गङ्गातरङ्गनुद्यमानोत्तुङ्गतत्तीरतिर्यङ्निपतितमर्धोन्मूलितं मारुतेन महान्तमश्वत्थमुपमानीकृत्य जीवन्तमिमं रूपककल्पनेति द्रष्टव्यम्। तेन नोर्ध्वमूलत्वाधःशाखत्वाद्यनुपपत्तिः।

एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना। ततश्चात्मगतिं प्राप्य तस्मान्नावर्तते पुनः॥'

इत्यादि।[1]

(१) अव्यक्त—अव्याकृत अर्थात् मायोपाधिक ब्रह्म वही है मूल—कारण जिसका, उसीसे जिसका प्रभव (जन्म) होता है उसे 'अव्यक्तमूलप्रभवः' कहा है। उस मूल—अव्यक्तके अनुग्रहसे ही अत्यन्त दृढ होनेके कारण यह उत्थित—वर्धित हुआ है। वृक्षकी शाखाएँ उसके तनेसे ही उत्पन्न हुआ करती हैं और संसारके अनेक प्रकारके परिणाम बुद्धिसे ही होते हैं। इस साधर्म्यसे बुद्धि ही इसका तना है, यह तन्मय अर्थात् उसीकी अधिकतावाला है। इन्द्रियोंके अन्तर—छिद्र ही जिसके कोटर हैं यह ऐसा है। यह महाभूतविशाख है; अर्थात् आकाशसे लेकर पृथ्वीपर्यन्त महाभूत जिसकी विविध शाखाएँ हैं अथवा जिसका स्कन्ध विशाख—शाखाहीन है—ऐसा है। यह ब्रह्मवृक्ष—ब्रह्म अर्थात् परमात्मासे अधिष्ठितवृक्ष आजीव्य—जीवनका आश्रय बनानेयोग्य है और आत्मज्ञानके बिना छेदन न किया जा सकनेके कारण सनातन है। यह ब्रह्मवन है—इस जीवरूप ब्रह्मका भोग्य—वनस्थानीय—सेवनीय अर्थात् वन है। ब्रह्म साक्षिवत् आचरण करता है, वह इसके किये हुए व्यापारसे लिप्त नहीं होता। इस संसार वृक्षमय ब्रह्मवनका छेदन-भेदन कर, अर्थात् मैं 'ब्रह्म हूँ' ऐसे अत्यन्त सुदृढ ज्ञानखड्गसे समूल काटकर आत्मस्वरूपा गतिको प्राप्त करके उस आत्मस्वरूप मोक्षपदसे फिर नहीं लौटता—ऐसा इसका तात्पर्य है। शेष सब स्पष्ट है।

(२) यहाँ यह समझना चाहिये कि गंगाजीकी तरंगोंसे ताडित ऊँचे तीरपरसे तिरछे गिरे हुए वायुके वेगसे आधे उखाड़े हुए हरे-भरे सुविशाल अश्वत्थवृक्षको उपमान बनाकर यह रूपककी कल्पना की है। अतः इसके ऊपरकी ओर मूल और नीचेकी ओर शाखावाले होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। इस मायामय अश्वत्थ वृक्षके छन्द—छादन

1. अव्यक्तरूप मूलसे उत्पन्न हुआ, उसीकी कृपासे बढ़ा, बुद्धिरूप तनेवाला इन्द्रियछिद्ररूप कोटरोंवाला, महाभूतरूप अनेकों शाखाओंवाला, विषयोंसे पत्रयुक्त हुआ, धर्म और अधर्मरूप सुन्दर पुष्पोंवाला, सुख-दुःखरूप फल उत्पन्न करनेवाला, समस्त जीवोंका आश्रयभूत यह सनातन ब्रह्म-वृक्ष है। यही ब्रह्मवन है। ब्रह्म साक्षीके समान आचरण करता है। ज्ञानरूप श्रेष्ठ तलवारसे इसका छेदन-भेदन कर फिर आत्मस्वरूपको प्राप्त होकर उससे पुनः नहीं लौटता।

यस्य मायामयस्याश्वत्थस्य च्छन्दांसि च्छादनात्तत्त्ववस्तुप्रावरणात्संसारवृक्षरक्षणाद्वा कर्मकाण्डानि ऋग्यजुःसामलक्षणानि पर्णानीव पर्णानि, यथा वृक्षस्य परिरक्षणार्थानि पर्णानि भवन्ति तथा संसारवृक्षस्य परिरक्षणार्थानि कर्मकाण्डानि धर्माधर्मतद्धेतुफलप्रकाशनार्थत्वात्तेषाम्। यस्तं यथाव्याख्यातं समूलं संसारवृक्षं मायामयमश्वत्थं वेद जानाति स वेदवित्कर्मब्रह्माख्यवेदार्थवित्स एवेत्यर्थः। संसारवृक्षस्य हि मूलं ब्रह्म हिरण्यगर्भादयश्च जीवाः शाखास्थानीयाः। स च संसारवृक्षः स्वरूपेण विनश्वरः प्रवाहरूपेण चानन्तः। स च वेदोक्तैः कर्मभिः सिच्यते ब्रह्मज्ञानेन च छिद्यत इत्येतावानेव हि वेदार्थः। यश्च वेदार्थवित्स एव सर्ववित्ति समूलवृक्षज्ञानं स्तौति स वेदवित्ति॥१॥

(१) तस्यैव संसारवृक्षस्यावयवसंबन्धिन्यपरा कल्पनोच्यते—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥२॥

(२) पूर्वं हिरण्यगर्भादयः कार्योपाधयो जीवाः शाखास्थानीयत्वेनोक्ता इदानीं तु तद्गतो विशेष उच्यते। तेषु ये कपूयचरणा दुष्कृतिनस्तेऽधः पश्वादियोनिषु प्रसृता विस्तारं गताः। ये तु रमणीयचरणाः सुकृतिनस्त ऊर्ध्वं देवादियोनिषु प्रसृता अतोऽधश्च मनुष्यत्वादारभ्य विरिञ्चिपर्यन्तमूर्ध्वं च तस्मादेवाऽऽरभ्य सत्यलोकपर्यन्तं प्रसृतास्तस्य संसारवृक्षस्य शाखाः। कीदृश्यस्ता

अर्थात् तत्त्ववस्तुका आवरण करनेसे अथवा संसारवृक्षकी रक्षा करनेके कारण ऋग्यजुःसामरूप कर्मकाण्ड पत्तोंके समान पत्ते हैं। जिस प्रकार पत्ते वृक्षकी रक्षा करनेके लिये होते हैं वैसे ही कर्मकाण्ड संसार-वृक्षकी रक्षा करनेके लिये है, क्योंकि वे धर्म-अधर्म और उनके हेतु एवं फलका प्रकाशन करनेके लिये होते हैं। इस प्रकार व्याख्या किये हुए उस मूलसहित संसारवृक्षको अर्थात् मायामय अश्वत्थको जो जानता है वही वेदोंको जाननेवाला है। तात्पर्य यह है कि कर्मब्रह्मसंज्ञक वेदके अर्थको जाननेवाला तो वही है। संसार वृक्षका मूल तो ब्रह्म ही है। हिरण्यगर्भादि जीव तो उसके शाखास्थानीय हैं। वह संसारवृक्ष स्वरूपसे तो नाशवान् है, किन्तु प्रवाहसे अनन्त है। उसे वेदोक्त कर्मोंद्वारा तो सींचा जाता है और ब्रह्मज्ञानद्वारा काटा जाता है—बस इतना ही वेदका तात्पर्य है। जो वेदार्थका ज्ञाता होता है वही सर्वज्ञ होता है; इसीसे 'वही वेदको जाननेवाला है' ऐसा कहकर मूलसहित संसारवृक्षके ज्ञानकी भगवान् स्तुति करते हैं॥ १॥

(१) उसी संसार-वृक्षके अवयवोंसे सम्बन्ध रखनेवाली एक दूसरी कल्पना कही जाती है—

[श्लोकार्थः—इस संसार-वृक्षकी गुणोंसे बढ़ी हुई और विषयरूप कोंपलोंवाली शाखाएँ नीचे और ऊपरकी ओर फैली हुई हैं तथा इस मनुष्य-शरीरमें परिणाममें धर्म और अधर्मरूप कर्मोंको प्रवृत्त करनेवाली शुभाशुभ वासनारूप इसकी मूलें नीचे-ऊपर फैल गयी हैं॥ २॥]

(२) पहले हिरण्यगर्भादि कार्योपाधिक जीव शाखास्थानीय रूपसे कहे गये हैं; अब उनकी विशेषता कही जाती है। उनमें जो कपूयचरण—दुष्कर्म करनेवाले हैं वे नीची अर्थात् पशु आदि योनियोंमें प्रसृत—विस्तारको प्राप्त हुए हैं, और जो रमणीयचरण—शुभकर्म करनेवाले हैं वे ऊपरकी ओर देवादियोनियोंमें फैले हुए हैं। अतः उस संसार वृक्षकी शाखाएँ नीचेकी ओर—मनुष्यलोकसे लेकर अवीचिपर्यन्त और ऊपरकी

गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिर्देहेन्द्रियविषयाकारपरिणतैर्जलसेचनैरिव प्रवृद्धाः स्थूलीभूताः । किं च विषयाः शब्दादयः प्रवालाः पल्लवा इव यासां संसारवृक्षशाखानां तास्तथा शाखाग्रस्थानीयाभिरिन्द्रियवृत्तिभिः संबन्धाद्रागाधिष्ठानत्वाच्च । किं च अधश्च चशब्दादूर्ध्वं च मूलान्यवान्तराणि तत्तद्भोगजनितरागद्वेषादिवासनालक्षणानि मूलानीव धर्माधर्मप्रवृत्तिकारकाणि तस्य संसारवृक्षस्यानुसंततानि अनुस्यूतानि । मुख्यं तु मूलं ब्रह्मैवेति न दोषः । कीदृशान्यवान्तरमूलानि कर्म धर्माधर्मलक्षणमनुबन्धुं पश्चाज्जनयितुं शीलं येषां तानि कर्मानुबन्धीनि । कुत्र मनुष्यलोके मनुष्यश्चासौ लोकश्चेत्यधिकृतो ब्राह्मण्यादिविशिष्टो देहो मनुष्यलोकस्तस्मिन्बाहुल्येन कर्मानुबन्धीनि । मनुष्याणां हि कर्माधिकारः प्रसिद्धः ॥ २ ॥

(१) यस्त्वयं संसारवृक्षो वर्णितः—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

(२) इह संसारे स्थितैः प्राणिभिरस्य संसारवृक्षस्य यथा वर्णितमूर्ध्वमूलत्वादि तथा तेन प्रकारेण रूपं नोपलभ्यते स्वप्नमरीच्युदकमायागन्धर्वनगरवन्मृषात्वेन दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्तस्य । अत एव तस्यान्तोऽवसानं नोपलभ्यते । एतावता कालेन समाप्तिं गमिष्यतीति अपर्यन्तत्वात् । न चा-

ओर—उस मनुष्यलोकसे ही लेकर सत्यलोकपर्यन्त फैली हुई हैं । वे शाखाएँ कैसी हैं ? देह, इन्द्रिय और विषयके आकारमें परिणत सत्त्व, रज और तम इन गुणोंद्वारा जलसे सींची हुई के समान प्रवृद्ध—स्थूल हो गयी हैं । तथा जिन संसारवृक्षकी शाखाओंके शब्दादि विषय प्रवाल—पल्लवोंके समान हैं वे विषयप्रवाल हैं, क्योंकि इनका शाखाग्रस्थानीय इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे सम्बन्ध है और ये ही रागके भी अधिष्ठान हैं । तथा 'अधश्च'—नीचेकी ओर और 'च' शब्दके कारण ऊपरकी ओर भी इस संसारवृक्षकी धर्माधर्मकी प्रवृत्तिकी हेतुभूता उस-उस भोगसे उत्पन्न हुई राग-द्वेषादि वासनारूप अवान्तर मूलें मूलोंके समान फैली हुई हैं । मुख्य मूल तो ब्रह्म ही है, इसलिये अन्य मूलोंके रहनेमें भी कोई दोष नहीं है । ये अवान्तर मूलें कैसी हैं ? जिनका धर्माधर्मरूप कर्मको पीछे उत्पन्न करनेका स्वभाव है ऐसी ये मूलें कर्मानुबन्धिनी हैं । ये हैं कहाँ ? मनुष्यलोकमें—जो मनुष्य है और लोक है ऐसा ब्राह्मणत्वादि कर्मके अधिकार वाला जो मनुष्यलोक है उसमें अधिकतासे ये कर्मानुबन्धिनीमूलें फैली हुई हैं, क्योंकि कर्माधिकार तो मनुष्योंका ही प्रसिद्ध है ॥ २ ॥

(१) जिस इस संसार-वृक्षका वर्णन किया गया है—

[श्लोकार्थः—इस संसार में इसका ऐसा रूप दिखायी नहीं देता; तथा न इसके अन्त, आदि और मध्यका ही पता लगता है । जिसकी जड़ें अत्यन्त जम गयी हैं ऐसे इस अश्वत्थ वृक्षको सुदृढ असंग-शस्त्रसे काट कर ॥ ३ ॥]

(२) इस संसारमें स्थित प्राणियोंको इसका जैसा कि ऊर्ध्वमूलत्वादि रूपसे कहा है, वैसा रूप दिखायी नहीं देता, क्योंकि वह स्वप्न, मरुमरीचिका, माया और गन्धर्वनगरके समान मिथ्या होनेसे देखते-देखते नष्ट हो जानेके स्वभाववाला है । इसीसे उसका अन्त—अवसान दिखायी नहीं देता कि इतने समयमें यह समाप्त हो जायगा, क्योंकि इसकी कोई सीमा नहीं है । न 'यहाँसे इसका आरम्भ हुआ है' इसप्रकार इसका आदि ही दिखायी देता है, क्योंकि यह अनादि है । और न सम्प्रतिष्ठा—स्थिति अर्थात् मध्य ही दिखायी देता है, क्योंकि मध्य तो आदि और अन्तरूप प्रतियोगियोंवाला होता है ।

स्याऽऽदिरुपलभ्यते । इत आरभ्य प्रवृत्त इति अनादित्वात् । न च संप्रतिष्ठा स्थितिर्मध्यमस्योपलभ्यते । आद्यन्तप्रतियोगिकत्वात्तस्य । यस्मादेवंभूतोऽयं संसारवृक्षो दुरुच्छेदः सर्वानर्थकरश्च तस्मादनाद्यज्ञानेन सुविरूढमूलमत्यन्तबद्धमूलं प्रागुक्तमश्वत्थमेनमसङ्गशस्त्रेण सङ्गः स्पृहाऽसङ्गः सङ्गविरोधि वैराग्यं पुत्रवित्तलोकैषणात्यागरूपं तदेव शस्त्रं रागद्वेषमयसंसारविरोधित्वात्, तेनासङ्गशस्त्रेण दृढेन परमात्मज्ञानौत्सुक्यदृढीकृतेन पुनःपुनर्विवेकाभ्यासनिशितेन च्छित्त्वा समूलमुद्धृत्य वैराग्यशमदमादिसंपत्त्या सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वेत्येतत् ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाऽऽद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

(१) ततो गुरुमुपसृत्य ततोऽश्वत्थादूर्ध्वं व्यवस्थितं तद्वैष्णवं पदं वेदान्तवाक्यविचारेण परिमार्गितव्यं मार्गयितव्यमन्वेष्टव्यं 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इति श्रुतेः । तत्पदं श्रवणादिना ज्ञातव्यमित्यर्थः । किं तत्पदं यस्मिन्पदे गताः प्रविष्टा ज्ञानेन न निवर्तन्ति नाऽऽवर्तन्ते भूयः पुनः संसाराय । कथं तत्परिमार्गयितव्यमित्याह—यः पदशब्देनोक्तस्तमेव चाऽऽद्यमादौ भवं पुरुषं येनेदं सर्वं पूर्णं तं पुरुषु पूर्षु वा शयानं प्रपद्ये शरणं गतोऽस्मीत्येवं तदेकशरणतया तदन्वेष्टव्यमित्यर्थः । तं कं पुरुषं यतो यस्मात्पुरुषात्प्रवृत्तिर्मायामयसंसारवृक्षप्रवृत्तिः पुराणी चिरंतन्यनादिरेषा प्रसृता निःसृतेन्द्रजालिकादिव मायाहस्त्यादि तं पुरुषं प्रपद्य इत्यन्वयः ॥ ४ ॥

क्योंकि यह संसार-वृक्ष ऐसा कठिनतासे छेदन किया जानेवाला और सब प्रकारका अनर्थ करनेवाला है अतः अनादि अज्ञानसे सुविरूढमूल—अत्यन्त बद्धमूल इस पूर्वोक्त अश्वत्थ वृक्षका असङ्गशस्त्रसे—संग स्पृहाको कहते हैं, संगका विरोधी असंग अर्थात् पुत्र, वित्त और लोक-सम्बन्धी तीनों एषणाओंका त्यागरूप वैराग्य है; राग-द्वेषमय संसारका विरोधी होनेसे वही शस्त्र है, उस दृढ—परमात्मज्ञानकी उत्सुकतासे सुदृढ किये हुए तथा पुनः पुनः विवेकके अभ्याससे पैनाये हुए असंगशस्त्रसे काटकर—मूलसहित उखाड़कर अर्थात् वैराग्य एवं शम-दमादि साधनसम्पत्तिद्वारा समस्त कर्मोंका त्याग करके ॥ ३ ॥

[श्लोकार्थः—फिर उस पदकी खोज करनी चाहिये, जहाँ गये हुए पुरुष फिर लौटकर नहीं आते । मैं उसी आदि-पुरुषको प्रणाम करता हूँ, जिससे इस संसार-वृक्षकी अनादि प्रवृत्ति हुई है ॥ ४ ॥]

(१) फिर गुरुकी शरणमें जा उस अश्वत्थसे परे स्थित उस वैष्णव पदकी वेदान्तवाक्योंके विचार द्वारा खोज करनी चाहिये । 'वह खोजनेयोग्य है, वह जिज्ञासा करने योग्य है' इस श्रुतिके अनुसार वह पद श्रवणादिके द्वारा जाननेयोग्य है—ऐसा इसका तात्पर्य है । वह पद क्या है ? जिस पदपर ज्ञानद्वारा पहुँचकर अर्थात् जिसमें पहुँचकर फिर संसारकी ओर नहीं लौटते । उसकी किस प्रकार खोज करनी चाहिये, सो बताते हैं—जिसका 'पद' शब्दसे उल्लेख किया गया है उसी आद्य—आदिमें होनेवाले पुरुषकी—जिसने कि इस सबको पूरित किया हुआ है ऐसे उस पुरियों अथवा शरीरोंमें शयन करनेवालेके प्रति मैं प्रपन्न—शरणागत होता हूँ । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार एकमात्र उसीकी शरणमें होकर उसकी खोज करनी चाहिये । उस किस पुरुषकी ? जिस पुरुषसे यह पुराणी—प्राचीन—अनादि प्रवृत्ति—संसार वृक्षकी प्रवृत्ति प्रसृत हुई है—निकली है, जैसे कि मायाजनित हाथी आदि इन्द्रजालीसे निकलते हैं, उस पुरुषकी मैं शरण लेता हूँ—ऐसा इसका अन्वय है ॥ ४ ॥

(१) परिमार्गणपूर्वकं वैष्णवं पदं गच्छतामङ्गान्तराण्याह—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

(२) मानोऽहंकारो गर्वः, मोहस्त्वविवेको विपर्ययो वा, ताभ्यां विष्क्रान्ता निर्मानमोहाः, तौ निर्गतौ येभ्यस्ते वा । तथाऽहंकाराविवेकाभ्यां रहिता इति यावत् । जितसङ्गदोषाः प्रियाप्रिय-संनिधावपि रागद्वेषवर्जिता इति यावत् । अध्यात्मनित्याः परमात्मस्वरूपालोचनतत्पराः, विनिवृत्त-कामा विशेषतो निरवशेषेण निवृत्ताः कामा विषयभोगा येषां ते विवेकवैराग्यद्वारा त्यक्तसर्वकर्माण इत्यर्थः । द्वंद्वैः शीतोष्णक्षुत्पिपासादिभिः सुखदुःखहेतुत्वात्सुखदुःखनामकैः सुखदुःख-सङ्गैरिति पाठान्तरे सुखदुःखाभ्यां सङ्गः संबन्धो येषां तैः सुखदुःखसङ्गैर्द्वन्द्वैर्विमुक्ताः परित्यक्ताः, अमूढा वेदान्तप्रमाणसंजातसम्यग्ज्ञाननिवारिताज्ञानास्तदव्ययं यथोक्तं पदं गच्छन्ति ॥ ५ ॥

(३) तदेव गन्तव्यं पदं विशिनष्टि —

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

(४) यद्वैष्णवं पदं गत्वा योगिनो न निवर्तन्ते तत्पदं सर्वावभासनशक्तिमानपि सूर्यो न भासयते । सूर्यास्तमयेऽपि चन्द्रो भासको दृष्ट इत्याशङ्क्याऽऽह—न शशाङ्कः । सूर्याचन्द्रमसोरुभ-

(१) खोज करते हुए वैष्णवपदपर जानेवालोंके दूसरे अंग बतलाते हैं—

[श्लोकार्थः—जो मान और मोहसे रहित, संगजनित दोषको जीते हुए, निरन्तर अध्यात्मविचारमें तत्पर, विषय भोगोंसे दूर और सुखदुःखसंज्ञक द्वन्द्वोंसे छूटे हुए हैं वे विद्वान् लोग उस अविनाशी पदपर पहुँचते हैं ॥ ५ ॥]

(२) मान अहंकार या गर्व है तथा मोह अविवेक या विपरीत ज्ञान उनसे जो निकले हुए हैं अथवा जिनसे वे निकल गये हैं वे 'निर्मानमोह' कहलाते हैं । इस प्रकार तात्पर्य यह है कि जो अहङ्कार और अविवेकसे रहित हैं । जितसंगदोष अर्थात् प्रिय और अप्रियकी सन्निधिमें भी राग-द्वेषरहित । अध्यात्मनित्य—परमात्माके स्वरूपकी आलोचना करनेमें तत्पर । विनिवृत्तकाम—विशेषतः अर्थात् अशेषरूपसे जिनके काम—विषय-भोग निवृत्त हो गये हैं वे, अर्थात् विवेक-वैराग्यद्वारा समस्त कर्मोंका त्याग करनेवाले । शीत-उष्ण और क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्द्वोंसे जो सुख-दुःख संज्ञक अर्थात् सुख-दुःखके हेतु होनेके कारण सुख-दुःख नाम वाले हैं, विमुक्त; अथवा जहाँ 'सुखदुःखसङ्गैः' ऐसा पाठान्तर है वहाँ सुख-दुःखके साथ जिनका संग—सम्बन्ध है उन सुख-दुःखसंगी द्वन्द्वोंसे विमुक्त—परित्यक्त । ऐसे जो अमूढ—वेदान्त प्रमाणसे उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञानसे जिनका अपना अज्ञान दूर हो गया है वे उपर्युक्त अव्यय पदपर जाते हैं ॥ ५ ॥

(३) उसी गन्तव्य पदका विशेषरूपसे वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—जहाँ जाकर योगिजन फिर संसारमें नहीं लौटते उस पदको न तो सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा प्रकाशित करता है और न अग्नि । वही मेरा श्रेष्ठ और स्वयंप्रकाश पद है ॥ ६ ॥

(४) जिस वैष्णव पदपर जाकर योगीलोग नहीं लौटते उस पदको सबको प्रकाशित करनेकी शक्तिवाला होनेपर भी, सूर्य प्रकाशित नहीं करता । सूर्य अस्त हो

योरप्यस्तमयेऽग्निः प्रकाशको दृष्ट इत्याशङ्क्याऽऽह—न पावकः । भासयत इत्युभयत्राप्यनुषज्यते । कुतः सूर्यादीनां तत्र प्रकाशनासामर्थ्यमित्यत आह—तद्धाम ज्योतिः स्वयंप्रकाशमादित्यादिसकल-जडज्योतिरवभासकं परमं प्रकृष्टं मम विष्णोः स्वरूपात्मकं पदम् । न हि यो यद्भास्यः स स्वभासकं तं भासयितुमीष्टे । तथा च श्रुतिः—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । इति ॥"

(१) एतेन तत्पदं वेद्यं न वा, आद्ये वेद्यभिन्नवेदितृसापेक्षत्वेन द्वैतापत्तिर्द्वितीये स्वपुरुषार्थ-त्वापत्तिरित्यपास्तम् । अवेद्यत्वे सत्यपि स्वयमपरोक्षत्वात् तत्रावेद्यत्वं सूर्याद्यभास्यत्वेनात्रोक्तं, सर्व-भासकत्वेन तु स्वयमपरोक्षत्वं यदादित्यगतं तेज इत्यत्र वक्ष्यति । एवमुभाभ्यां श्लोकाभ्यां श्रुतेर्दलद्वयं व्याख्यातमिति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

(२) ननु यद्गत्वा न निवर्तन्त इत्युक्तं यदि गच्छन्ति तर्ह्यावर्तन्त एव स्वर्गवत् । अथ नाऽऽवर्तन्ते तर्हि न गच्छन्ति । तेन गत्वेति न निवर्तन्त इति च परस्परविरुद्धम् ।
"सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः । संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥"

जानेपर भी चन्द्रमाको प्रकाश करनेवाला देखा है—ऐसी आशंका करके कहते हैं—उसे चन्द्रमा भी प्रकाशित नहीं करता । सूर्य और चन्द्रमा दोनोंके अस्त हो जानेपर अग्निको प्रकाश करनेवाला देखा है—ऐसी आशंका करके कहते हैं—उसे अग्नि भी प्रकाशित नहीं करता । यहाँ 'शशाङ्कः' और 'पावकः' इन दोनों ही पदों के साथ 'भासयते' इस क्रिया पदका सम्बन्ध है । सूर्यादिकी उसके प्रकाशनमें असमर्थता क्यों है ? इसपर कहते हैं—वह धाम—ज्योति—स्वयंप्रकाश अर्थात् सूर्य आदि समस्त जड ज्योतियोंका प्रकाशक मुझ विष्णुका स्वरूपात्मक परम—प्रकृष्ट पद है । जो जिसका प्रकाश्य होता है वह अपने उस प्रकाशकको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हो सकता; ऐसा ही वह श्रुति भी कहती है—'वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और तारे ही प्रकाशित होते हैं, और न बिजलियाँ ही चमकती हैं, फिर यह अग्नि तो प्रकाशित हो ही कैसे सकता है ? उसीके प्रकाशित होनेसे ये सब प्रकाशित होते हैं और उसीके प्रकाशसे यह सारा प्रपञ्च प्रकाशित हो रहा है ।'

(१) इससे 'वह पद वेद्य (जानने योग्य) है या नहीं ? क्योंकि पहला पक्ष माननेपर तो वेद्यसे भिन्न उसके वेत्ता (जाननेवाले) की अपेक्षा होनेसे द्वैतकी प्राप्ति होगी और दूसरा पक्ष माननेपर वह अपुरुषार्थरूप हो जायगा' इन दोनों शंकाओंका निराकरण हो जाता है, क्योंकि अवेद्य होनेपर भी वह स्वयं अपरोक्ष है । उसकी अवेद्यता तो सूर्यादिकी प्रकाश्यताके द्वारा यहीं बता दी गयी है तथा स्वयं अपरोक्षता सबकी भासकताके द्वारा 'यदादित्यगतं तेजः' (१५।१२) इस श्लोकमें बतायेंगे । इस प्रकार इन दो श्लोकोंसे श्रुतिके दो दलोंकी व्याख्या की गयी है—ऐसा समझना चाहिये ॥ ६ ॥

(२) शंका—जहाँ जाकर नहीं लौटते—ऐसा जो कहा सो यदि जाते हैं तो स्वर्गके समान वहाँसे भी लौटते ही हैं; और यदि नहीं लौटते तो जाते भी नहीं हैं । अतः 'जाकर' और 'नहीं लौटते' ये कथन तो परस्पर विरुद्ध हैं, क्योंकि शास्त्र और लोकमें यह बात प्रसिद्ध ही है कि 'सारे सञ्चय क्षयमें समाप्त होनेवाले हैं, सारे उत्थान पतनमें समाप्त होनेवाले हैं, संयोग वियोगमें समाप्त होनेवाले हैं और जीवन मरणमें समाप्त होनेवाला है ।' यदि कहो कि अनात्म-प्राप्तिका ही परिणाम पुनरावृत्ति है, आत्मप्राप्तिका नहीं

इति हि शास्त्रे लोके च प्रसिद्धम्। अनात्मप्राप्तिः पुनरावृत्तिपर्यवसाना न स्वात्मप्राप्तिरिति चेत्, न, सुषुप्तौ 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' इतिश्रुतिप्रतिपादितायाः अप्यात्मप्राप्तेः पुनरावृत्तिपर्यन्तत्वदर्शनात्। अन्यथा सुषुप्तस्य मुक्तत्वेन पुनरुत्थानं न स्यात्। तस्मादात्मप्राप्तौ गत्वेति नोपपद्यते। तस्यौपचारिकत्वेऽप्यनिवृत्तिर्नोपपद्यत इति।

(१) एवं प्राप्ते ब्रूमः। गन्तुर्जीवस्य गन्तव्यब्रह्माभिन्नत्वाद्गत्वेत्यौपचारिकम्। अज्ञानमात्रव्यवहितस्य तस्य ज्ञानमात्रेणैव प्राप्तिव्यपदेशात्। यदि ब्रह्मणः प्रतिबिम्बो जीवस्तदा यथा जलप्रतिबिम्बितसूर्यस्य जलापाये बिम्बभूतसूर्यगमनं ततोऽनावृत्तिश्च, यदि च बुद्ध्यवच्छिन्नो ब्रह्मभागो जीवस्तदा यथा घटाकाशस्य घटापाये महाकाशं प्रति गमनं ततोऽनावृत्तिश्च, तथा जीवस्याप्युपाध्यपाये निरुपाधिस्वरूपगमनं ततोऽनावृत्तिश्चेत्युपचारादुच्यते। एकस्वरूपत्वाद्भेदभ्रमस्य चोपाधिनिवृत्त्या निवृत्तेः। सुषुप्तौ तु अज्ञाने स्वकारणे भावनाकर्मपूर्वप्रज्ञासहितस्यान्तःकरणस्य जीवोपाधेः सूक्ष्मरूपेणावस्थानात्तत एवाज्ञानात्पुनरुद्भवः संभवति। ज्ञानादज्ञाननिवृत्तौ तु कारणाभावात्कुतः कार्योदयः स्यादज्ञानप्रभवत्वादन्तःकरणाद्युपाधीनाम्। तस्माज्जीवस्याहं ब्रह्मास्मीतिवेदान्तवाक्यजन्यसाक्षात्कारादहं न ब्रह्मेत्यज्ञाननिवृत्तिर्गत्वेत्युच्यते। निवृत्तस्य चानाद्यज्ञानस्य पुनरुत्थानाभावेन तत्कार्यसंसाराभावो न निवर्त्तन्त इत्युच्यत इति न कोऽपि विरोधः।

तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'हे सौम्य! उस समय वह सत्से संयुक्त हो जाता है' इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित सुषुप्तिमें होनेवाली आत्मप्राप्तिका भी पुनरावृत्तिमें परिणाम होना देखा गया है, नहीं तो सुषुप्त पुरुष भी मुक्त हो जानेके कारण उसका पुनः उत्थान नहीं होना चाहिये था। अतः आत्मप्राप्तिके विषयमें 'जाकर' ऐसा कहना उचित नहीं है, और उसे औपचारिक मान लेनेपर भी 'वहाँसे नहीं लौटता' यह कहना नहीं बन सकता।

(१) समाधान—ऐसी शंका होनेपर हम यह कहते हैं—जानेवाला जीव अपने जानेके स्थान ब्रह्मसे अभिन्न है। अतः उसके विषयमें 'जाकर' ऐसा कहना औपचारिक है, क्योंकि वह अज्ञानमात्रसे ही व्यवहित है, अतः ज्ञानमात्रसे ही उसकी प्राप्तिका उल्लेख किया जाता है। यदि जीव ब्रह्मका प्रतिबिम्ब ही है तो जिस प्रकार जल न रहनेपर जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यका बिम्बभूत सूर्यको प्राप्त होना और वहाँसे नहीं लौटना है; और यदि बुद्धिसे अवच्छिन्न ब्रह्मका भाग जीव है तो जिस प्रकार घटका नाश होनेपर घटाकाशका महाकाशमें जाना और वहाँसे नहीं लौटना है उसी प्रकार उपाधिकी निवृत्ति होनेपर जीवका अपने निरुपाधिक स्वरूपको प्राप्त होना और वहाँसे फिर न लौटना—ये उपचारसे कहे जाते हैं, क्योंकि वास्तवमें जीव और ब्रह्म एकरूप ही हैं। उनमें जो भेदका भ्रम हो रहा है वह तो उपाधिकी निवृत्तिसे निवृत्त हो जाता है। सुषुप्तिमें तो जीवका उपाधिभूत अन्तःकरण भावना, कर्म और पूर्वप्रज्ञाके सहित सूक्ष्म रूपसे अपने कारण अज्ञानमें रहता है, अतः उस अज्ञानसे ही उसका पुनः प्रकट हो जाना सम्भव ही है। किन्तु जब ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त हो गया तो कारणका नाश हो जानेसे कार्यका उदय कैसे हो सकता है, क्योंकि अन्तःकरण आदि उपाधियोंका उदय तो अज्ञानसे ही होता है। अतः 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वेदान्तवाक्यजनित साक्षात्कारसे 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' इस जीवके अज्ञानकी निवृत्तिको ही 'जाकर' इस पदसे कहा है तथा निवृत्त हुए अनादि अज्ञानका फिर उत्थान न होनेके कारण उसके कार्यभूत संसारकी निवृत्ति हो जानेसे 'नहीं लौटते' ऐसा कहा है। इस प्रकार इनमें कोई विरोध नहीं है।

(१) जीवस्य तु पारमार्थिकं स्वरूपं ब्रह्मैवेत्यसकृदावेदितम्। तदेतत्सर्वं प्रतिपाद्यत उत्तरेण ग्रन्थेन। तत्र जीवस्य ब्रह्मरूपत्वादज्ञाननिवृत्त्या तत्स्वरूपं प्राप्तस्य ततो न प्रच्युतिरिति प्रतिपाद्यते ममैवांश इति श्लोकार्धेन। सुषुप्तौ तु सर्वकार्यसंस्कारसहिताज्ञानसत्त्वात्ततः पुनः संसारो जीवस्येति मनःषष्ठानीति श्लोकार्धेन प्रतिपाद्यते। ततस्तस्य वस्तुतोऽसंसारिणोऽपि मायया संसारं प्राप्तस्य मन्दमतिभिर्देहतादात्म्यं प्रापितस्य देहाद्व्यतिरेकः प्रतिपाद्यते शरीरमित्यादिना श्लोकार्धेन। श्रोत्रं चक्षुरित्यादिना तु यथायथं स्वविषयेष्विन्द्रियाणां प्रवर्तकस्य तस्य तेभ्यो व्यतिरेकः प्रतिपाद्यते। एवं देहेन्द्रियादिविलक्षणमुत्क्रान्त्यादिसमये स्वात्मरूपत्वाच्किमिति सर्वे न पश्यन्तीत्याशङ्कायां विषयविक्षिप्तचित्ता दर्शनयोग्यमपि तं न पश्यन्तीत्युत्तरमुच्यते—उत्क्रामन्तमित्यादिना श्लोकेन। तं ज्ञानचक्षुषः पश्यन्तीति विवृतं यतन्तो योगिन इति श्लोकार्धेन। विमूढा नानुपश्यन्तीत्येतद्विवृतं यतन्तोऽपीति श्लोकार्धेनेति पञ्चानां श्लोकानां संगतिः। इदानीमक्षराणि व्याख्यास्यामः—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

(२) ममैव परमात्मनोंऽशो निरंशस्यापि मायया कल्पितः सूर्यस्येव जले नभस इव च घटे मृषाभेदवानंश इवांशो जीवलोके संसारे, स च प्राणधारणोपाधिना जीवभूतः कर्ता भोक्ता

(१) जीवका वास्तविक स्वरूप तो ब्रह्म ही है—यह बात हम बार-बार कह चुके हैं। इन सब बातोंका आगेके ग्रन्थसे प्रतिपादन किया जाता है। सो ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर अपने उस स्वरूपको प्राप्त हुए जीवका पतन न होना—इसका प्रतिपादन तो 'ममैवांशो जीवलोके' इत्यादि आधे श्लोकसे किया गया है। सुषुप्तिमें सम्पूर्ण कार्यवर्गके संस्कारसहित अज्ञान रहता है और उससे जीवको पुनः संसारकी प्राप्ति होती है—इसका प्रतिपादन 'मनः षष्ठानि' इत्यादि श्लोकार्धसे किया है। फिर वस्तुतः असंसारी होनेपर भी मायासे संसारको प्राप्त हुए और मन्दमति पुरुषोंद्वारा देहके तादात्म्यको प्राप्त कराये हुए उस जीवका 'शरीरं यदवाप्नोति' इत्यादि श्लोकार्धसे देहसे पार्थक्य बतलाया गया है। 'श्रोत्रं चक्षुः' इत्यादि श्लोकसे तो अपने-अपने विषयोंमें इन्द्रियोंको प्रेरित करनेवाले उस जीवका ठीक-ठीक उनसे व्यतिरेक ही बताया गया है। इस प्रकार देह और इन्द्रिय आदिसे विलक्षण वह जीव अपना स्वरूप ही है, तो भी उत्क्रान्ति (देहत्याग) आदिके समय उसे सब लोग क्यों नहीं देखते? ऐसी आशंका होनेपर 'उत्क्रामन्तम्' इत्यादि श्लोकसे यह उत्तर दिया जाता है कि देखनेके योग्य होनेपर भी विषयोंसे जिनका चित्त विक्षिप्त है वे लोग उसे नहीं देखते। उसे ज्ञाननेत्रवाले देख सकते हैं—इसका स्पष्टीकरण 'यतन्तो योगिनः' इत्यादि श्लोकार्धसे किया है। मूढलोग इसे नहीं देख पाते—इसका विवरण 'यतन्तोऽपि' इस श्लोकार्धसे किया है। इस प्रकार यह पाँच श्लोकोंकी संगति है। अब हम इनके अक्षरोंकी व्याख्या करते हैं—

[श्लोकार्थः—जीवलोकमें मेरा ही अंश सनातन जीवरूप है, जो अज्ञानमें स्थित मन जिनमें छठा है उन इन्द्रियोंको खींचता है ॥ ७ ॥]

(२) जिस प्रकार सूर्यका जलमें और आकाशका घड़ेमें मिथ्या अंश रहता है उसी प्रकार मुझ निरंश परमात्माका भी जीवलोक अर्थात् संसारमें मायासे कल्पित अंशके समान मिथ्याभेदवाला अंश है। वही प्राणधारणरूप उपाधिके कारण जीवस्वरूप है तथा 'कर्ता, भोक्ता, संसारी' इस प्रकार मिथ्या ही प्रसिद्ध हो रहा है। उपाधिका परिच्छेद

संसारीति सृषैव प्रसिद्धिमुपागतः सनातनो नित्य उपाधिपरिच्छेदेऽपि वस्तुतः परमात्मस्वरूपत्वात् । अतो ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्या स्वस्वरूपं ब्रह्म प्राप्य ततो न निवर्तन्त इति युक्तम् ।

(१) एवंभूतोऽपि सुषुप्तात्कथमावर्तत इत्याह—मनः षष्ठं येषां तानि श्रोत्रत्वक्चक्षूरसन-घ्राणाख्यानि पञ्चेन्द्रियाणीन्द्रस्याऽऽत्मनो विषयोपलब्धिकरणतया लिङ्गानि जाग्रत्स्वप्नभोगजनककर्मक्षये प्रकृतिस्थानि प्रकृतावज्ञाने सूक्ष्मरूपेण स्थितानि पुनर्जाग्रद्भोगजनककर्मोदये भोगार्थं कर्षति कूर्मोऽङ्गानीव प्रकृतेरज्ञानादाकर्षति विषयग्रहणयोग्यतयाऽऽविर्भावयतीत्यर्थः । अतो ज्ञानादनावृत्तावप्यज्ञानादावृत्तिर्नानुपपन्नेति भावः ॥ ७ ॥

(२) कस्मिन्काले कर्षतीत्युच्यते—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाऽऽशयात् ॥ ८ ॥

(३) यद्यदोत्क्रामति बहिर्निर्गच्छतीश्वरो देहेन्द्रियसंघातस्य स्वामी जीवस्तदा यतो देहादुत्क्रामति ततो मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कर्षतीति द्वितीयपादस्य प्रथममन्वय उत्क्रमणोत्तरभावित्वाद्धमनस्य । न केवलं कर्षत्येव किं तु यद्यदा च पूर्वस्माच्छरीरान्तरमवाप्नोति तदैतानि मनःषष्ठानी-

---

रहनेपर भी वस्तुतः परमात्मस्वरूप होनेके कारण यह सनातन—नित्य है । अतः ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर अपने स्वरूपभूत ब्रह्मको प्राप्त होकर वह उससे नहीं लौटता—यह कहना उचित ही है ।

(१) ऐसा होनेपर भी वह सुषुप्त अवस्थासे कैसे लौट आता है—इसपर कहते हैं—यह जीव मन जिनमें छठा है उन श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राणसंज्ञक पाँच इन्द्रियोंको, जो इन्द्र अर्थात् आत्मा की विषयोपलब्धिका साधन होनेसे उसके लिंग हैं तथा जाग्रत् और स्वप्नके भोगजनक कर्मोंका क्षय हो जानेपर प्रकृतिस्थ—प्रकृति अर्थात् अज्ञानमें सूक्ष्मरूपसे स्थित रहती हैं, जाग्रद्भोगजनक कर्मका उदय होनेपर फिर भोगके लिये खींच लेता है । कछुआ जैसे अपने अंगोंको सिकोड़ लेता है उसी प्रकार यह उन्हें प्रकृतिसे—अज्ञानसे खींच लेता है, अर्थात् विषयग्रहणको योग्यतापूर्वक प्रकट कर देता है । अतः भाव यह है कि ज्ञानसे अनावृत्ति होनेपर भी अज्ञानसे पुनरावृत्ति होनी अनुपपन्न नहीं है ॥ ७ ॥

(२) किस समय खींचता है, सो बतलाया जाता है—

[श्लोकार्थः—जिस समय देह और इन्द्रियोंका स्वामी जीव एक शरीरमें से उत्क्रमण करता है उस समय वह इन्द्रियोंको खींचता है—इतना ही नहीं, बल्कि जिस देहको प्राप्त करता है उसमें, वायु जैसे गन्धको ले जाता है उसी प्रकार इन इन्द्रियोंको ले भी जाता है ॥ ८ ॥]

(३) जिस समय ईश्वर—देह और इन्द्रियोंके संघातका स्वामी जीव देहसे उत्क्रमण करता है उस समय वह मन जिनमें छठा है उन इन्द्रियोंको खींचता है—इस प्रकार पहले द्वितीय पादका अन्वय है, क्योंकि गमन तो उत्क्रमणके पीछे ही होता है । केवल खींचता ही नहीं है, अपितु जिस समय वह पहलेसे भिन्न दूसरा शरीर ग्रहण करता है उसमें वह मन जिनमें छठा है उन इन्द्रियोंको लेकर सम्यक् प्रकारसे अर्थात् पुनरागमनके अभावपूर्वक जाता भी है । शरीरमें जाते हुए भी यह दृष्टान्त दिया जाता

न्द्रियाणि गृहीत्वा संयात्यपि सम्यक्पुनरागमनरहित्येन गच्छत्यपि । शरीरे सत्येवेन्द्रियग्रहणे दृष्टान्तः—आशयात्कुसुमादेः स्थानाद्गन्धान्गन्धात्मकान्सूक्ष्मानंशान्गृहीत्वा यथा वायुर्याति तद्वत् ॥ ८ ॥

(१) तान्येवेन्द्रियाणि दर्शयन्नर्थं गृहीत्वा गच्छति तदाह—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

(२) श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च, चकारात्कर्मेन्द्रियाणि प्राणं च मनश्च षष्ठमधिष्ठायैवाऽऽश्रित्यैव विषयाञ्शब्दादीनयं जीव उपसेवते भुङ्क्ते ॥ ९ ॥

(३) एवं देहगतं दर्शनयोग्यमपि देहात्—

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

(४) उत्क्रामन्तं देहान्तरं गच्छन्तं पूर्वस्मात्, स्थितं वाऽपि तस्मिन्नेव देहे, भुञ्जानं वा शब्दादीन्विषयान्, गुणान्वितं सुखदुःखमोहात्मकैर्गुणैरन्वितम् । एवं सर्वास्ववस्थासु दर्शनयोग्यमप्येनं विमूढा दृष्टादृष्टविषयभोगवासनाकृष्टचेतस्तयाऽऽत्मानात्मविवेकायोग्या नानुपश्यन्ति । अहो कष्टं वर्तत इत्यज्ञाननुक्रोशति भगवान् । ये तु प्रमाणजनितज्ञानचक्षुषो विवेकिनस्त एव पश्यन्ति ॥ १० ॥

है कि जैसे पुष्पादि आश्रयसे वायु गन्ध के सूक्ष्म अंशोंको लेकर जाता है वैसे ही यह भी जाता है ॥ ८ ॥

(१) उन इन्द्रियोंको ही प्रदर्शित करते हुए जिसलिये उन्हें लेकर मन जाता है, सो दिखाते हैं—

[श्लोकार्थः—यह जीव श्रोत्र, नेत्र, स्पर्श, रसना, घ्राण, समस्त कर्मेन्द्रिय और प्राण एवं मन इनका ही आश्रय लेकर विषयोंका सेवन करता है ॥ ९ ॥]

(२) श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, रसना और घ्राण तथा चकारसे कर्मेन्द्रियाँ और प्राण एवं छठा मन इन सबका अधिष्ठान—आश्रय लेकर ही जीव शब्दादि विषयोंका सेवन—भोग करता है ॥ ९ ॥

(३) इस प्रकार देहमें स्थित और दर्शनके योग्य भी—

[श्लोकार्थः—देहान्तरमें जाते हुए अथवा पहले ही शरीरमें रहते हुए, तथा भोग करते हुए इस गुणाच्छादित जीवको मूढ लोग नहीं देखते, ज्ञाननेत्रोंवाले ही देखते हैं ॥ १० ॥]

(४) देहसे उत्क्रमण करते हुए अर्थात् पूर्व देहसे देहान्तरमें जाते हुए अथवा उसीमें स्थित रहते हुए तथा शब्दादि विषयोंको भोगते हुए इस गुणान्वित—सुख दुःख एवं मोहात्मक गुणोंसे युक्त तथा इस प्रकार सभी अवस्थाओंमें दर्शनके योग्य भी इस जीवको विमूढ—दृष्ट और अदृष्ट विषय भोगोंकी वासनाओंसे चित्त खिचा होनेके कारण जो आत्मा और अनात्माका विवेक करनेमें असमर्थ हैं वे लोग नहीं देखते, हाय ! यह कैसे कष्ट की बात है—इस प्रकार भगवान् अज्ञानियोंके लिये खेद प्रकट करते हैं । किन्तु जो प्रमाणजनित ज्ञानरूप नेत्रवाले विवेकी पुरुष हैं वे ही उसे देखते हैं ॥ १० ॥

(१) पश्यन्ति ज्ञानचक्षुष इत्येतद्विवृणोति—

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

(२) आत्मनि स्वबुद्धावस्थितं प्रतिफलितमेनमात्मानं यतन्तो ध्यानादिभिः प्रयतमाना योगिन एव पश्यन्ति । चोऽवधारणे । यतमाना अप्यकृतात्मानो यज्ञादिभिरशोधितान्तःकरणा अत एवाचेतसो विवेकशून्या नैनं पश्यन्तीति विमूढा नानुपश्यन्तीत्येतद्विवरणम् ॥ ११ ॥

(३) इदानीं यत्पदं सर्वावभासनक्षमा अप्यादित्यादयो भासयितुं न क्षमन्ते यत्प्राप्ताश्च मुमुक्षवः पुनः संसाराय नाऽऽवर्तन्ते यस्य च पदस्योपाधिभेदमनु विधीयमाना जीवा घटाकाशादय इवाऽऽकाशस्य कल्पितांशा मृषैव संसारमनुभवन्ति तस्य पदस्य सर्वात्मत्वसर्वव्यवहारास्पदत्वप्रदर्शनेन ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमिति प्रागुक्तं विवरीतुं चतुर्भिः श्लोकैरात्मनो विभूतिसंक्षेपमाह भगवान्—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

(४) 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' इति श्रुत्यर्धं प्राग्व्याख्यातं न तद्भासयते सूर्यं इत्यादिना । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं

(१) ज्ञाननेत्रवाले उसे देखते हैं—इस वाक्यका स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—ध्यानादि साधनोंद्वारा यत्न करनेवाले योगिजन इसे अन्तःकरणमें स्थित देखते हैं, किन्तु जो अशुद्ध चित्तवाले अविवेकी पुरुष हैं वे यत्न करनेपर भी इसे नहीं देख पाते ॥ ११ ॥]

(२) आत्मामें स्थित—अपनी बुद्धिमें अवस्थित—प्रतिबिम्बित इस जीवको 'यतन्तः'—ध्यानादिद्वारा प्रयत्न करनेवाले योगिजन ही देखते हैं। यहाँ 'च' शब्द निश्चयके अर्थमें है। यत्न करनेपर भी अकृतात्मा—यज्ञादिसे जिन्होंने अन्तःकरणका शोधन नहीं किया इसलिये जो अचेता—विवेकशून्य हैं वे इसे नहीं देखते—यह 'विमूढा नानुपश्यन्ति' इसका स्पष्टीकरण है ॥ ११ ॥

(३) अब, जिस पदको सबका प्रकाशन करनेमें भी समर्थ सूर्यादि प्रकाशित नहीं कर सकते, जिसे प्राप्त हुए मुमुक्षु पुरुष पुनः संसारकी ओर प्रवृत्त नहीं होते, जिस प्रकार घटाकाशादि आकाशके कल्पित अंश हैं उसी प्रकार जिस पदके उपाधिभेदोंका अनुसरण करनेवाले जीव मिथ्या ही संसारका अनुभव करते हैं उस पदकी सर्वात्मकता, और सर्वव्यवहारयोग्यताके प्रदर्शनपूर्वक 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' इस पूर्वोक्त वाक्यका स्पष्टीकरण करनेके लिये श्रीभगवान् चार श्लोकोंद्वारा अपनी विभूतियोंके संक्षेपका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—जो सूर्यमें रहनेवाला तेज सारे संसारको प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा और अग्निमें भी है उसे तुम मेरा ही समझो ॥ १२ ॥]

(४) पहले 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' इस आधी श्रुतिकी व्याख्या की गयी है। अब 'तमेव भान्तमनुभातिसर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इस आधी श्रुतिकी व्याख्या इस श्लोकसे की जाती है। जो तेज—चैतन्यात्मक प्रकाश सूर्यमें स्थित है और जो

विभाति' इतिश्रुत्यर्धमनेन व्याख्यायते । यदादित्यगतं तेजश्चैतन्यात्मकं ज्योतिर्यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ स्थितं तेजो जगदखिलमवभासयते तत्तेजो मामकं मदीयं विद्धि । यद्यपि स्थावरजङ्गमेषु समानं चैतन्यात्मकं ज्योतिस्तथाऽपि सत्त्वोत्कर्षेणाऽऽदित्यादीनामुत्कर्षात्तत्रैवाऽऽविस्तरां चैतन्यज्योतिरिति तैर्विशेष्यते—यदादित्यगतमित्यादि । यथा तुल्येऽपि मुखसंनिधाने काष्ठकुड्यादौ न मुखमाविर्भवति । आदर्शादौ च स्वच्छे स्वच्छतरे च तारतम्येनाऽऽविर्भवति तद्वत् यदादित्यगतं तेज इत्युक्त्वा पुनस्तत्तेजो विद्धि मामकमिति तेजोग्रहणं यदादित्यादिगतं तेजः प्रकाशः परप्रकाशसमर्थं सितभास्वरं रूपं जगदखिलं रूपवद्वस्तु अवभासयते, एवं यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ जगदवभासकं तेजस्तन्मामकं विद्धीति विभूतिकथनाय द्वितीयोऽप्यर्थो द्रष्टव्यः । अन्यथा तन्मामकं विद्धीत्येतावद्ब्रूयात्तेजोग्रहणमन्तरेणैवेति भावः ॥ १२ ॥

(१) किं च—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

(२) गां पृथिवीं पृथिवीदेवतारूपेणाऽऽविश्यौजसा निजेन बलेन पृथिवीं धूलिमुष्टितुल्यां दृढीकृत्य भूतानि पृथिव्याधेयानि वस्तून्यहमेव धारयामि । अन्यथा पृथिवी सिकतामुष्टिवद्विशीर्येताधो निमज्जेद्वा, 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' इति मन्त्रवर्णात् । 'स दाधार पृथिवीम्' इति च हिरण्यगर्भभावापन्नं भगवन्तमेवाऽऽह ।

चन्द्रमा एवं अग्निमें स्थित तेज सारे संसारको प्रकाशित कर रहा है उसे तुम मेरा समझो। यद्यपि चैतन्यात्मक प्रकाश स्थावर और जंगमोंमें समान ही है तथापि सत्त्वगुणकी अधिकतासे सूर्यादिकी विशेषता होनेके कारण उन्हींमें चैतन्यज्योति फैली हुई है—इस प्रकार 'यदादित्यगतम्' इत्यादिसे उसे विशेषित किया जाता है। जिस प्रकार मुखकी सन्निधि समान रूपसे रहनेपर भी काष्ठ और भित्ति आदिमें उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, किन्तु दर्पण आदि स्वच्छ और स्वच्छतर पदार्थोंमें उसके तारतम्यसे आविर्भाव होता है उसी प्रकार 'यदादित्यगतं तेजः' ऐसा कहकर फिर 'तत्तेजो विद्धिमामकम्' इस प्रकार यहाँ 'तेज' पदका ग्रहण करनेसे ऐसा भाव है कि जो सूर्यान्तर्गत तेज—प्रकाश—दूसरोंको प्रकाशित करनेवाला तत्त्व अर्थात् श्वेत और प्रकाशमय रूप संसारकी समस्त रूपवान् वस्तुओंको प्रकाशित करता है और जो जगत्को प्रकाशित करनेवाला तेज चन्द्रमा एवं अग्निमें है उसे तुम मेरा तेज अर्थात् विभूति समझो—इस प्रकार विभूति कहनेके लिये ही तेजःशब्दका दूसरा अर्थ भी समझना चाहिये; नहीं तो 'तेजः' पदको ग्रहण किये बिना ही 'तन्मामकं विद्धि' इतना ही कहते ॥ १२ ॥

(१) तथा—

[श्लोकार्थः—मैं पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपनी शक्तिसे समस्त वस्तुओंको धारण करता हूँ तथा रसमय चन्द्रमा होकर समस्त ओषधियोंका पोषण करता हूँ ॥ १३ ॥]

(२) मैं पृथ्वी देवतारूपसे पृथ्वीमें प्रवेश करके ओज अर्थात् अपने बलसे धूलिकी मुट्ठीके समान पृथ्वीको कड़ीकर मैं ही समस्त भूतोंको—पृथ्वीके आधारपर रहनेवाली वस्तुओंको धारण करता हूँ; नहीं तो पृथ्वी धूलिकी मुट्ठीके समान छिन्न-भिन्न हो जाय अथवा नीचे जलमें डूब जाय। यह बात 'जिसके कारण आकाश उग्र है और पृथ्वी दृढ है' इस मन्त्रवर्णसे सिद्ध होती है तथा 'उसने पृथ्वीको धारण किया' यह श्रुति भी हिरण्यगर्भभावको प्राप्त हुए श्रीभगवान्का ही वर्णन करती है।

(१) किं च रसात्मकः सर्वरसस्वभावः सोमो भूत्वौषधीः सर्वा व्रीहियवाद्याः पृथिव्यां जाता अहमेव पुष्णामि पुष्टिमती रसस्वादुमतीश्च करोमि ॥ १३ ॥

(२) किं च—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

(३) अहमीश्वर एव वैश्वानरो जाठरोऽग्निर्भूत्वा 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते' इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितः सन्प्राणिनां सर्वेषां देहमाश्रितोऽन्तःप्रविष्टः प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां संयुक्तः संधुक्षितः सन्पचामि पक्तिं नयामि प्राणिभिर्भुक्तमन्नं चतुर्विधं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं चेति । तत्र यद्दन्तैरवखण्ड्यावखण्ड्य भक्ष्यतेऽपूपादि तद्भक्ष्यं चर्व्यमिति चोच्यते । यत्तु केवलं जिह्वया विलोड्य निगीर्यते सूपौदनादि तद्भोज्यम् । यत्तु जिह्वायां निक्षिप्य रसास्वादेन निगीर्यते किंचिद्द्रवीभूतगुडरसालाशिखरिण्यादि तल्लेह्यम् । यत्तु दन्तैर्निष्पीड्य रसांशं निगीर्याविशिष्टं त्यज्यते यथेक्षुदण्डादि तच्चोष्यमिति भेदः । भोक्ता यः सोऽग्निर्वैश्वानरो यच्चोज्यमन्नं स सोमस्तदेतदुभयमग्नीषोमौ सर्वमिति ध्यायतोऽन्नदोषलेपो न भवतीत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

(४) किं च—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

(१) तथा रसात्मक—सम्पूर्ण रसस्वरूप सोम होकर मैं ही पृथ्वीमें उत्पन्न हुई धान-जौ आदि समस्त ओषधियोंका पोषण करता हूँ; अर्थात् उन्हें पुष्टिमती और स्वादयुक्त करता हूँ ॥ १३ ॥

(२) तथा—

[श्लोकार्थः—मैं वैश्वानर अग्नि हो प्राणियोंके शरीरमें स्थित होकर प्राण और अपानसे प्रदीप्त होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ ॥ १४ ॥]

(३) मैं ईश्वर ही वैश्वानर अर्थात् 'यह वैश्वानर अग्नि है जो इस पुरुषके भीतर है और जिसके द्वारा यह अन्न पचाया जाता है' इस श्रुतिद्वारा प्रतिपादित जाठराग्नि होकर समस्त प्राणियोंके देहमें आश्रित—अन्तःप्रविष्ट हो, उसे उद्दीप्त करनेवाले प्राण और अपानसे संयुक्त—प्रज्वलित होकर प्राणियोंके खाये हुए भक्ष्य भोज्य लेह्य और चोष्य चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ । इनमें जो अन्न दाँतोंसे काट-काटकर खाये जाते हैं पूआ आदि भक्ष्य और चर्व्य कहे जाते हैं । जो केवल जीभसे विलोकर निगल लिये जाते हैं वे दाल और भात आदि भोज्य कहे जाते हैं, जो जीभपर डालकर चाटते हुए निगले जाते हैं वे पिघला हुआ गुड़, रसाला और शिखरन आदि लेह्य कहे जाते हैं तथा जिन्हें दाँतसे दबाकर उनका रस निगलते हुए शेष अंश त्याग दिया जाता है, जैसे कि ईख आदि, वे चोष्य कहे जाते हैं । इस प्रकार चार भेद हैं । 'जो भोक्ता है वह वैश्वानर अग्नि है और जो भोज्य अन्न है वह सोम है—इस तरह ये दोनों अग्नि और सोम हैं' इस प्रकार ध्यान करनेवालेको अन्नदोष लिप्त नहीं करता—ऐसा भी [इस कथनका तात्पर्य] समझना चाहिये ॥ १४ ॥

(४) तथा—

[श्लोकार्थः—मैं सभीके हृदयमें स्थित हूँ, समस्त प्राणियोंके स्मृति ज्ञान और इन

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

(१) सर्वस्य ब्रह्मादिस्थावरान्तस्य प्राणिजातस्याहमात्मा सन्हृदि बुद्धौ संनिविष्टः 'स एष इह प्रविष्टः' इति श्रुतेः । 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति च । अतो मत्त आत्मन एव हेतोः प्राणिजातस्य यथानुरूपं स्मृतिरेतज्जन्मनि पूर्वानुभूतार्थविषया वृत्तियोंगिनां च जन्मान्तरानुभूतार्थविषयाऽपि । तथा मत्त एव ज्ञानं विषयेन्द्रियसंयोगजं भवति । योगिनां च देशकालविप्रकृष्टविषयमपि । एवं कामक्रोधशोकादिव्याकुलचेतसामपोहनं च स्मृतिज्ञानयोरपायश्च मत्त एव भवति ।

(२) एवं स्वस्य जीवरूपतामुक्त्वा ब्रह्मरूपतामाह—वेदैश्च सर्वैरिन्द्रादिदेवताप्रकाशकैरपि अहमेव वेद्यः सर्वात्मत्वात् ।

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥'

इति मन्त्रवर्णात् । 'एष उ ह्येव सर्वे देवाः' इति च श्रुतेः । वेदान्तकृद्वेदान्तार्थसंप्रदायप्रवर्तको वेदव्यासादिरूपेण । न केवलमेतावदेव वेदविदेव चाहं कर्मकाण्डोपासनाकाण्डज्ञानकाण्डात्मकमन्त्रब्राह्मणरूपसर्ववेदार्थविच्चाहमेव । अतः साधूक्तं ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमित्यादि ॥ १५ ॥

दोनोंका नाश—ये भी मेरे ही से होते हैं । मैं ही समस्त वेदोंसे जाननेयोग्य हूँ तथा मैं ही वेदान्तार्थके सम्प्रदायका प्रवर्तक और वेदके तात्पर्यको जाननेवाला भी हूँ ॥ १५ ॥]

(१) सब अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त प्राणिसमुदायका आत्मा होनेके कारण मैं उनके हृदय—बुद्धिमें प्रवेश किये हुए हूँ; जैसा कि 'वह यह जीव यहाँ प्रवेश किये हुए है' तथा 'इस जीवरूपसे प्रविष्ट होकर मैं नाम-रूपोंका विभाग करता हूँ' इन श्रुतियोंसे सिद्ध होता है । अतः मुझ आत्मारूप हेतुसे ही प्राणियोंको यथायोग्य स्मृति—इस जन्ममें पहले अनुभव किये हुए विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाली वृत्ति तथा योगियोंको जन्मान्तरमें अनुभव किये हुए विषयोंसे भी सम्बन्ध रखनेवाली वृत्ति होती है । तथा मेरे ही से विषय और इन्द्रियके संयोगसे होनेवाला ज्ञान होता है, योगियोंको तो देश और कालसे व्यवहित विषयसम्बन्धी ज्ञान भी होता है । इसी प्रकार जिनका चित्त काम, क्रोध और शोकादिसे व्याकुल है उन्हें अपोहन—स्मृति और ज्ञानका लोप भी मेरे ही से होता है ।

(२) इस प्रकार अपनी जीवरूपताका वर्णनकर ब्रह्मरूपताका भी वर्णन करते हैं । इन्द्रादि देवताओंके प्रकाशक समस्त वेदों द्वारा भी, सर्वात्मक होनेके कारण, मैं ही जाननेयोग्य हूँ; जैसा कि 'आत्माको ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं । वही सुन्दर पंखों वाला दिव्य गरुड है । उसीको अग्नि यम और पवन भी कहते हैं । इस प्रकार एक होनेपर भी ब्राह्मण लोग उसका अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं' इस मन्त्र वर्ण से भी सिद्ध होता है । 'यह ही समस्त देवतारूप है' इस श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है । मैं ही वेदान्तकृत्—वेदव्यासादिरूपसे वेदान्तार्थके सम्प्रदायका प्रवर्तक हूँ । केवल इतना ही नहीं, मैं ही वेदवेत्ता भी हूँ अर्थात् कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डमय मन्त्र एवं ब्राह्मणरूप समस्त वेदके अर्थको जाननेवाला भी मैं ही हूँ । अतः 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' यह ठीक ही कहा है ॥ १५ ॥

(१) एवं सोपाधिकमात्मानमुक्त्वा क्षराक्षरशब्दवाच्यकार्यकारणोपाधिद्वयवियोगेन निरुपाधिकं शुद्धमात्मानं प्रतिपादयति कृपया भगवानर्जुनाय त्रिभिः श्लोकैः—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

(२) द्वाविमौ पृथग्राशीकृतौ पुरुषौ पुरुषोपाधित्वेन पुरुषशब्दव्यपदेश्यौ लोके संसारे । कौ तावित्याह—क्षरश्चाक्षर एव च क्षरतीति क्षरो विनाशी कार्यराशिरेकः पुरुषः । न क्षरतीत्यक्षरो विनाशरहितः क्षराख्यस्य पुरुषस्योत्पत्तिबीजं भगवतो मायाशक्तिर्द्वितीयः पुरुषः । तौ पुरुषौ व्याचष्टे स्वयमेव भगवान्क्षरः सर्वाणि भूतानि समस्तं कार्यजातमित्यर्थः । कूटस्थः कूटो यथार्थवस्त्वाच्छादनेनायथार्थवस्तुप्रकाशनं वञ्चनं मायेत्यनर्थान्तरम् । तेनाऽऽवरणविक्षेपशक्तिद्वयरूपेण स्थितः कूटस्थो भगवान्मायाशक्तिरूपः कारणोपाधिः संसारबीजत्वेनाऽऽनन्त्यादक्षर उच्यते ।

(३) केचित्तु क्षरशब्देनाचेतनवर्गमुक्त्वा कूटस्थोऽक्षर उच्यत इत्यनेन जीवमाहुः । तन्न सम्यक् । क्षेत्रज्ञस्यैवेह पुरुषोत्तमत्वेन प्रतिपाद्यत्वात् । तस्मात्क्षराक्षरशब्दाभ्यां कार्यकारणोपाधी उभावपि जडावेवोच्येते इत्येव युक्तम् ॥ १६ ॥

(४) आभ्यां क्षराक्षराभ्यां विलक्षणः क्षराक्षरोपाधिद्वयदोषेणास्पृष्टो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः—

---

(१) इस प्रकार सोपाधिक आत्माका वर्णन कर क्षर और अक्षर शब्दोंसे कही जानेवाली कार्य और कारणरूप दोनों प्रकारकी उपाधियोंके निषेधद्वारा भगवान् अर्जुनपर कृपाकरके तीन श्लोकोंसे निरुपाधिक शुद्ध आत्माका प्रतिपादन करते हैं—

[श्लोकार्थः—लोकमें क्षर और अक्षर—ये दो पुरुष हैं । समस्त भूत (कार्यसमुदाय) क्षर हैं और कूटस्थ अक्षर कहा जाता है ॥ १६ ॥]

(२) लोकमें—संसारमें पुरुषकी उपाधिवाले होनेसे 'पुरुष' शब्द द्वारा कहे जानेवाले अलग-अलग समुदायरूपमें किये हुए ये दो पुरुष हैं । वे कौन—से हैं ? इसपर कहते हैं—क्षर और अक्षर—जो क्षरित हो वह क्षर अर्थात् विनाशी कार्यराशि एक पुरुष है । तथा जो चरित नहीं होता वह अक्षर अर्थात् विनाशरहित [दूसरा पुरुष है] । क्षर संज्ञक जो पुरुष है भगवान्की मायाशक्तिरूप दूसरा (अक्षर) पुरुष उसकी उत्पत्तिका बीज है । उन दोनों पुरुषोंकी व्याख्या भगवान् स्वयं ही करते हैं । क्षर सम्पूर्ण भूत अर्थात् कार्यवर्ग है तथा कूटस्थ—यथार्थ वस्तुको छिपाकर अयथार्थ वस्तुको प्रकाशित करना कूट है—माया है, जिसका दूसरा अर्थ वञ्चन भी है । उस आवरण और विक्षेप दो शक्तिरूपसे स्थित कूटस्थ—भगवान्की मायाशक्ति रूपा कारण—उपाधि संसारकी बीजरूपा होनेसे अनन्त होनेके कारण 'अक्षर' कही जाती है ।

(३) कोई लोग तो 'क्षर' शब्दसे अचेतन वर्ग बताकर 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इस कथनसे जीवका उल्लेख हुआ बताते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि पुरुषोत्तमरूपसे क्षेत्रज्ञको ही प्रतिपादन करना अभीष्ट है । अतः क्षर और अक्षर शब्दोंसे कर्मोपाधि और कारणोपाधि इन दोनों जडोंका ही वर्णन किया जाता है—यही मानना उचित है ॥ १६ ॥

(४) इन क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण क्षर और अक्षर दोनों उपाधियोंके दोषसे असंग तथा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

(१) उत्तम उत्कृष्टतमः पुरुषस्त्वन्योऽन्य एवात्यन्तविलक्षण आभ्यां क्षराक्षराभ्यां जडराशिभ्यामुभयभासकस्तृतीयश्चेतनराशिरित्यर्थः । परमात्मेत्युदाहृतोऽन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयेभ्यः पञ्चभ्योऽविद्याकल्पितात्मभ्यः परमः प्रकृष्टोऽकल्पितो ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्युक्त आत्मा च सर्वभूतानां प्रत्यक्चेतन इत्यतः परमात्मेत्युक्तो वेदान्तेषु । यः परमात्मा लोकत्रयं भूर्भुवःस्वराख्यं सर्वं जगदिति यावत् । आविश्य स्वकीयया मायाशक्त्याऽधिष्ठाय बिभर्ति सत्तास्फूर्तिप्रदानेन धारयति पोषयति च । कीदृशः, अव्ययः सर्वविकारशून्य ईश्वरः सर्वस्य नियन्ता नारायणः स उत्तमः पुरुषः परमात्मेत्युदाहृत इत्यन्वयः । स उत्तमः पुरुष इति श्रुतेः ॥ १७ ॥

(२) इदानीं यथाव्याख्यातेश्वरस्य क्षराक्षरविलक्षणस्य पुरुषोत्तम इत्येतत्प्रसिद्धनामनिर्वचनेनेदृशः परमेश्वरोऽहमेवेत्यात्मानं दर्शयति भगवान्ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहं तद्धाम परमं ममेत्यादिप्रागुक्तनिजमहिमनिर्धारणाय—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

(३) यस्मात्क्षरं कार्यत्वेन विनाशिनं मायामयं संसारवृक्षमश्वत्थाख्यमतीतोऽतिक्रान्तोऽहं

[श्लोकार्थः—उत्तम पुरुष तो दूसरा ही है, जो 'परमात्मा' कहा गया है, जो तीनों लोकोंको अपनी मायाशक्तिसे अधिष्ठित करके उसका पोषण करता है और जो अविकारी एवं सबका नियन्ता है ॥ १७ ॥]

(१) उत्तम अर्थात् सबसे श्रेष्ठ पुरुष तो दूसरा—इनसे अत्यन्त विलक्षण ही है अर्थात् इन क्षर और अक्षररूप दोनों जडराशियोंसे भिन्न इन दोनोंका प्रकाशक चेतनराशि तो तीसरा ही है । वह 'परमात्मा' इस नामसे कहा गया है । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन अविद्याकल्पित पाँच आत्माओंसे विलक्षण जो 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुतिसे कहा हुआ अकल्पित आत्मा है वह समस्त भूतोंका प्रत्यगात्मा है, अतः उसे वेदान्तोंमें 'परमात्मा' कहा है । जो परमात्मा भूः भुवः और स्वः संज्ञक तीनों लोकोंमें अर्थात् सारे जगत्में प्रविष्ट होकर अपनी माया शक्तिसे उसपर अधिष्ठित हो उसे अपनी सत्ता और स्फूर्ति देकर धारण-पोषण करता है । वह है कैसा ?—अव्यय—समस्त विकारोंसे शून्य और ईश्वर—सबका नियन्ता नारायण । वह उत्तम पुरुष ही 'परमात्मा' कहा गया है—ऐसा इसका अन्वय है ! इस विषयमें 'वह उत्तम पुरुष है' यह श्रुति प्रमाण है ॥ १७ ॥

(२) अब 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' और 'तद्धाम परमं मम' इत्यादि वाक्योंसे पहले कही हुई अपनी महिमाका निश्चय करनेके लिये भगवान् जिसकी पहले व्याख्या की जा चुकी है उस क्षर और अक्षरसे विलक्षण ईश्वरका 'पुरुषोत्तम' ऐसा प्रसिद्ध नाम लेते हुए 'ऐसा परमेश्वर मैं ही हूँ' इस प्रकार अपने स्वरूपको प्रदर्शित करते हैं—

[श्लोकार्थः—क्योंकि मैं क्षरसे परे और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोक और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे विख्यात हूँ ॥ १८ ॥]

(३) क्योंकि मैं परमेश्वर क्षर—कार्यरूप होनेसे विनाशी अश्वत्थ संज्ञक मायामय

परमेश्वरोऽक्षरादपि मायाख्याद्व्याकृतादक्षरात्परतः पर इति पञ्चम्यन्ताक्षरपदेन श्रुत्या प्रतिपादितास्संसारवृक्षबीजभूतात्सर्वकारणादपि चोत्तम उत्कृष्टतमः, अतः क्षराक्षराभ्यां पुरुषोपाधिभ्यामध्यासेन पुरुषपदव्यपदेश्याभ्यामुत्तमत्वादस्मि भवामि लोके वेदे च प्रथितः प्रख्यातः पुरुषोत्तम इति स उत्तमः पुरुष इति वेद उदाहृत एव लोके च कविकाव्यादौ 'हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः' इत्यादि प्रसिद्धम् ।

कारुण्यतो नरवदाचरतः परार्थान्पार्थाय बोधितवतो निजमीश्वरत्वम् ।
सच्चित्सुखैकवपुषः पुरुषोत्तमस्य नारायणस्य महिमा न हि मानमेति ॥
केचिन्निगृह्य करणानि विसृज्य भोगमास्थाय योगममलात्मधियो यतन्ते ।
नारायणस्य महिमानमनन्तपारमास्वादयन्नमृतसारमहं तु मुक्तः ॥ १८ ॥

(१) एवं नामनिर्वचनज्ञाने फलमाह—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

(२) यो मामीश्वरमेवं यथोक्तनामनिर्वचनेनासंमूढो मनुष्य एवायं कश्चित्कृष्ण इतिसंमोहवर्जितो जानात्ययमीश्वर एवेति पुरुषोत्तमं प्राग्व्याख्यातं स मां भजति सेवते सर्वविन्मां सर्वात्मानं वेत्तीति स एव सर्वज्ञः सर्वभावेन प्रेमलक्षणेन भक्तियोगेन हे भारत । अतो यदुक्तम्—

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥'

इति तदुपपन्नम् । यच्चोक्तं 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इति तदप्युपपन्नतरम् ।

संसार-वृक्षसे अतीत—परे हूँ और 'अक्षरात्परतः परः' इस प्रकार पञ्चम्यन्त अक्षर पदके द्वारा श्रुतिने जिसका प्रतिपादन किया है उस संसारवृक्षके बीजभूत सबके कारण माया-संज्ञक अव्याकृतसे भी उत्तम—श्रेष्ठतम हूँ, अतः अध्यासवश 'पुरुष' शब्दसे कही जानेवाली क्षर और अक्षर इन पुरुषकी उपाधियोंसे उत्तम होनेके कारण मैं लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' इस प्रकार प्रसिद्ध—प्रख्यात हूँ। 'वह उत्तम पुरुष है' ऐसा वेदमें कहा ही है। लोकमें भी कवियोंके काव्यादिमें 'हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमोत्तमः' इत्यादि वाक्योंमें प्रसिद्ध ही है।

करुणावश मनुष्यके समान दूसरोंके हितका आचरण करते हुए जिन्होंने अर्जुनको अपने ईश्वरत्वका बोध कराया उन सच्चिदानन्दविग्रह पुरुषोत्तम नारायणकी महिमाका कोई परिमाण नहीं है। कोइ विशुद्धचित्त और निर्मल बुद्धिवाले पुरुष इन्द्रियोंका निग्रह और भोगोंका त्याग करके योगमें स्थित होकर यत्न करते हैं, किन्तु मैं तो अमृतकी सारभूता श्रीनारायणकी अनन्त अपार महिमाका आस्वादन करके मुक्त हो गया हूँ ॥ १८ ॥

(१) इस प्रकार नामके निर्वचनका ज्ञान होनेमें फल बताते हैं—

[श्लोकार्थः—हे भारत ! जो मोहहीन पुरुष मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है वह सर्ववित् ही मुझे सम्पूर्ण भावसे भजता है ॥ १९ ॥]

(२) असम्मूढ 'यह कृष्ण कोई मनुष्य ही है' इस प्रकारके मोहसे रहित जो पुरुष मुझ ईश्वरको उपर्युक्त नाम निर्वचनके द्वारा 'यह ईश्वर ही है' इस प्रकार पहले व्याख्या किये हुए पुरुषोत्तम रूपसे जानता है, हे भारत ! वह सर्ववित्, मुझ सर्वात्माको जानता है इसलिये वही सर्वज्ञ है, सर्व भावसे अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्तियोगसे मेरा भजन—सेवन करता है। अतः पहले जो कहा है कि 'जो कोई मेरा अव्यभिचारी भक्तियोगसे सेवन

चिदानन्दाकारं जलदरुचि सारं श्रुतिगिरां व्रजस्त्रीणां हारं भवजलधिपारं कृतधियाम् ।
विहन्तुं भूभारं विदधदवतारं मुहुरहो महो वारंवारं भजत कुशलारम्भकृतिनः ॥ १९ ॥

(१) इदानीमध्यायार्थं स्तुवञ्जपसंहरति—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

(२) इति अनेन प्रकारेण गुह्यतमं रहस्यतमं संपूर्णं शास्त्रमेव संक्षेपेणेदमस्मिन्नध्याये मयोक्तं हेऽनघाव्यसन । एतद्बुद्ध्वाऽन्योऽपि यः कश्चिद्बुद्धिमानात्मज्ञानवान्स्यात्कृतं सर्वं कृत्यं येन न पुनः कृत्यान्तरं यस्यास्ति स कृतकृत्यश्च स्यात् । विशिष्टजन्मप्रसूतेन ब्राह्मणेन यत्कर्तव्यं तत्सर्वं भगवत्तत्त्वे विदिते कृतं भवेत्, न त्वन्यथा कर्तव्यं परिसमाप्यते कस्यचिदित्यभिप्रायः । हे भारत त्वं तु महाकुलप्रसूतः स्वयं च व्यसनरहित इति कुलगुणेन स्वगुणेन चैतद्बुद्ध्वा कृतकृत्यो भविष्यसीति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

वंशीविभूषितकराञ्जवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥ १ ॥

करता है वह इन गुणोंको सम्यक्प्रकारसे पार करके ब्रह्मत्वप्राप्तिके योग्य हो जाता है' वह ठीक ही है। तथा ऐसा जो कहा है कि 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' वह तो और भी युक्तियुक्त है।

शुभ कार्यके आरम्भमें कुशल पुरुषो ! जो चिदानन्दस्वरूप, मेघकी-सी कान्तिवाला, वेदवाक्योंका सारभूत व्रजबालाओंके हृदयका हार, ज्ञानी पुरुषोंके लिये संसार-सागरका पार और भूभारको उतारनेके लिये बार-बार अवतार लेनेवाला है अहो ! उस तेजका बारम्बार भजन करो ॥ १९ ॥

(१) अब अध्यायके तात्पर्यकी स्तुति करते हुए उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे निष्पाप ! इस प्रकार मैंने तुम्हें यह सबसे गुह्य शास्त्र सुनाया है। हे भारत ! इसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतकृत्य हो जाता है ॥ २० ॥]

(२) इस प्रकार हे अनघ—हे निर्दोष ! इस अध्यायमें संक्षेपसे मैंने सारा गुह्यतम—रहस्यतम शास्त्र ही कह दिया है। इसे जानकर जो कोई [तुम्हारे सिवा] दूसरा पुरुष होगा वह भी बुद्धिमान्—आत्मज्ञानवान् हो जायगा और जिसने सारे कृत्यकर लिये हैं, जिसे कोई अन्य कृत्य करनेको नहीं रहा है ऐसा कृतकृत्य हो जायगा। विशिष्ट योनिमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणके लिये जो कुछ कर्त्तव्य है, भगवत्तत्त्वका ज्ञान होनेपरवह सब किया हुआ हो जाता है, और किसी भी प्रकार कर्त्तव्यकी समाप्ति नहीं होती—ऐसा इसका अभिप्राय है। अतः तात्पर्य यह है कि हे भारत ! तुम तो उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए हो और स्वयं भी दोष रहित हो, इसलिये तुम अपने कुल और अपने ही गुणोंके कारण इसे जानकर कृतकृत्य हो जाओगे—इसमें तो कहना ही क्या है ?॥ २० ॥

वंशीसे विभूषित हाथोंवाले, नवीन कमलकी-सी कान्तिवाले, पीताम्बरधारी,

सदा सदानन्दपदे निमग्नं मनो मनोभावमपाकरोति ।
गतागतायासमपास्य सद्यः परापरातीतमुपैति तत्त्वम् ॥ २ ॥
शैवाः सौराश्च गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः ।
भवन्ति यन्मयाः सर्वे सोऽहमस्मि परः शिवः ॥ ३ ॥
प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम् ।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

लाल बिम्बाफलके समान अधर और ओठोंवाले, पूर्णचन्द्रके समान सुन्दर मुखवाले तथा कमलके समान नेत्रोंवाले श्रीकृष्णसे बढ़कर मैं कोई और तत्त्व नहीं जानता ।

निरन्तर नित्यानन्दपदमें निमग्न हुआ मन मनोभावको दूरकर देता है, तथा आवागमनके श्रमको त्यागकर तुरन्त ही कार्य-कारणसे अतीत तत्त्वको प्राप्त हो जाता है ।

शैव, सूर्योपासक, गणेशपूजक, वैष्णव और शक्तिकी उपासना करनेवाले ये सब जिस तत्त्वमें निमग्न रहते हैं वह परम शिव मैं ही हूँ ।

जो मूढ पुरुष प्रमाणसे भी निर्णय किये हुए श्री कृष्णके अद्भुत माहात्म्यको सहन नहीं कर सकते वे नरकमें जाते हैं ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकाटीकाके हिन्दीभाषान्तरका पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

(१) अनन्तराध्याये 'अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' इत्यत्र मनुष्यदेहे प्राग्भवीयकर्मानुसारेण व्यज्यमाना वासनाः संसारस्यावान्तरमूलत्वेनोक्तास्ताश्च दैव्यासुरी राक्षसी चेति प्राणिनां प्रकृतयो नवमेऽध्याये सूचिताः । तत्र वेदबोधितकर्मात्मज्ञानोपायानुष्ठान-प्रवृत्तिहेतुः सात्त्विकी शुभवासना दैवी प्रकृतिरित्युच्यते । एवं वैदिकनिषेधातिक्रमेण स्वभावसिद्ध-रागद्वेषानुसारिसर्वानर्थहेतुप्रवृत्तिहेतुभूता राजसी तामसी चाशुभवासनाऽऽसुरी राक्षसी च प्रकृति-रुच्यते । तत्र च विषयभोगप्राधान्येन रागप्राबल्यादासुरीत्वं हिंसाप्राधान्येन द्वेषप्राबल्याद्राक्षसी-त्वमिति विवेकः । संप्रति तु शास्त्रानुसारेण तद्विहितप्रवृत्तिहेतुभूता सात्त्विकी शुभवासना दैवी संपत्, शास्त्रातिक्रमेण तन्निषिद्धविषयप्रवृत्तिहेतुभूता राजसी तामसी चाशुभवासना राक्षस्यासुर्यो-रेकीकरणेनाऽऽसुरी संपदिति द्वैराश्येन शुभाशुभवासनाभेदं 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च' इत्यादि-श्रुतिप्रसिद्धं शुभानामादानायाशुभानां हानाय च प्रतिपादयितुं षोडशोऽध्याय आरभ्यते । तत्राऽऽद्यौ श्लोकत्रयेणाऽऽदेयां दैवीं संपदम्—

(दैवासुरसम्पद्विभागयोग)

(१) पिछले अध्यायमें 'अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' इस श्लोकमें मनुष्य देहमें पूर्वजन्मों के कर्मानुसार अभिव्यक्त होनेवाली वासनाएँ संसार की ही अवान्तर मूलरूपसे कही गयी हैं । प्राणियोंकी उन दैवी, आसुरी और राक्षसी प्रकृतियोंको नवें अध्यायमें सूचित किया गया है । उनमें जो वेदविदित कर्म और आत्म-ज्ञानके उपायोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्ति करानेकी हेतु है वह सात्त्विकी शुभवासना दैवी प्रकृति कही जाती है । इसी प्रकार वैदिक निषेधका उल्लङ्घन करके स्वभावसिद्ध राग-द्वेष का अनुसरण करनेवाले सम्पूर्ण अनर्थोंमें प्रवृत्ति करानेकी हेतुभूता राजसीप्रवृत्ति और तामसी अशुभवासना—ये आसुरी और राक्षसी प्रकृति कही जाती हैं । इनमें विषयभोगकी प्रधानतासे रागकी प्रबलता होनेके कारण आसुरीपन है तथा हिंसाकी प्रधानतासे द्वेष की प्रबलता होनेके कारण राक्षसीपन है—इस प्रकार इनका भेद समझना चाहिये । इस समय तो शास्त्रके अनुसार शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्तिकी हेतुभूता जो सात्त्विकी शुभ-वासना है वह दैवी सम्पद् है तथा शास्त्रके उल्लङ्घनपूर्वक जो शास्त्रनिषिद्ध विषयोंमें प्रवृत्ति की हेतुभूता राजसी और तामसी अशुभवासना है वह राक्षसी और आसुरी प्रवृत्तियोंको एक करके आसुरी सम्पद् है—इस प्रकार 'देव और असुर—ये दो प्रजापतिके पुत्र थे' इस श्रुतिमें प्रसिद्ध दो समूहोंमें शुभ और अशुभ वासनाओंका भेद किया जाता है । इनमेंसे शुभ वासनाओंका ग्रहण और अशुभ वासनाओंका त्याग करनेके लिए प्रतिपादन करनेको सोलहवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है । सो पहले तीन श्लोकों द्वारा ग्रहण करने योग्य दैवी सम्पद्को—

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

(१) शास्त्रोपदिष्टेऽर्थे संदेहं विनाऽनुष्ठाननिष्ठत्वमेकाकी सर्वपरिग्रहशून्यः कथं जीविष्यामीति भयराहित्यं वाऽभयं, सत्त्वस्यान्तःकरणस्य शुद्धिर्निर्मलता तस्याः सम्यक्ता भगवत्तत्त्वस्फूर्तियोग्यता सत्त्वसंशुद्धिः परवञ्चनमायानृतादिपरिवर्जनं वा । परस्य व्याजेन वशीकरणं परवञ्चनं, हृदयेऽन्यथा कृत्वा बहिरन्यथा व्यवहरणं माया, अयथादृष्टकथनमनृतमित्यादि । ज्ञानं शास्त्रादात्मतत्त्वस्यावगमः, चित्तैकाग्रतया तस्य स्वानुभवारूढत्वं योगः, तयोर्व्यवस्थितिः सर्वदा तन्निष्ठता ज्ञानयोगव्यवस्थितिः । यदा तु अभयं सर्वभूताभयदानसंकल्पपालनम् । एतच्चान्येषामपि परमहंसधर्माणामुपलक्षणम् । सत्त्वसंशुद्धिः श्रवणादिपरिपाकेणान्तःकरणस्यासंभावनाविपरीतभावनादिमलराहित्यम् । ज्ञानमात्मसाक्षात्कारः । योगो मनोनाशवासनाक्षयानुकूलः पुरुषप्रयत्नस्ताभ्यां विशिष्टा संसारिविलक्षणाऽ-

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे भारत ! दैवी सम्पद्‌को लेकर उत्पन्न हुए पुरुषमें निर्भयता, अन्तःकरणकी निर्मलता, ज्ञान और योगमें निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति चुगली न करना, प्राणियों के प्रति दया, अलोलुपता, मृदुलता, लज्जा, अचञ्चलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, निर्वैरता और अधिक मान न होना—ये धर्म रहते हैं ॥ १-३ ॥]

(१) [श्रीभगवान्‌ने कहा—'अभयम्' इत्यादि] शास्त्रके उपदेश किये हुए विषय को विना सन्देहके करने लगना, अथवा 'सब प्रकारके संग्रहको छोड़कर मैं अकेला किस प्रकार जीवित रहूँगा ?' इस प्रकारके भयसे शून्य होना अभय है । सत्त्व-अन्तःकरणकी शुद्धि—निर्मलता उसकी जो सम्यक्ता अर्थात् भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारकी योग्यता है वह सत्त्व-संशुद्धि है । अथवा परवञ्चन, माया और मिथ्या आदिका परित्याग—यह सत्त्वसंशुद्धि है । दूसरेको किसी बहानेसे वशमें करना परवञ्चन है । हृदयमें अन्य भाव रखकर बाहर दूसरे प्रकारसे व्यवहार करना माया है । जैसा देखा न हो वैसा कहना मिथ्या है । ज्ञान—शास्त्र द्वारा आत्मतत्त्वको जान लेना है तथा चित्तकी एकाग्रताद्वारा उसे अपने अनुभवमें ले आना योग है उनकी व्यवस्थिति—सर्वदा उन्हींमें निष्ठा रखना ज्ञानयोग-व्यवस्थिति है । जिस समय अभय समस्त भूतोंको अभयदानके संकल्पका पालन करना है उस समय यह परमहंसोंके दूसरे धर्मोंका भी उपलक्षण हो जाता है । सत्त्वसंशुद्धि श्रवणादिके परिपाकसे अन्तःकरणका असम्भावना और विपरीतभावना आदि मलसे रहित हो जाना है । ज्ञान आत्माका साक्षात्कार है और योग मनोनाश और वासनाक्षयके अनुकूल पुरुषका प्रयत्न है । उनसे युक्त जो संसारियोंसे विलक्षण स्थिति है वह जीवन्मुक्ति

वस्थितिर्जीवन्मुक्तिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिरित्येवं व्याख्यायते तदा फलभूतैव दैवी संपदियं द्रष्टव्या । भगवद्भक्तिं विनाऽन्तःकरणसंशुद्धेरयोगात्तया साऽपि कथिता ।

'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥'

इति नवमे दैव्यां संपदि भगवद्भक्तेरुक्तत्वाच्च । भगवद्भक्तेरतिश्रेष्ठत्वादभयादिभिः सह पाठे न कृत इति द्रष्टव्यम् ।

(१) महाभाग्यानां परमहंसानां फलभूतां दैवीं संपदमुक्त्वा ततो न्यूनानां गृहस्थादीनां साधनभूतामाह—दानं स्वस्वत्वास्पदानामन्नादीनां यथाशक्ति शास्त्रोक्तः संविभागः । दमो बाह्येन्द्रिय-संयम ऋतुकालाद्यतिरिक्तकाले मैथुनाद्यभावः । चकारोऽनुक्तानां निवृत्तिलक्षणधर्माणां समुच्चयार्थः । यज्ञश्च श्रौतोऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिः, स्मार्तो देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति चतुर्विधः । ब्रह्मयज्ञस्य स्वाध्यायपदेन पृथगुक्तेः । चकारोऽनुक्तानां प्रवृत्तिलक्षणधर्माणां समुच्चयार्थः । एतत्त्रयं गृहस्थस्य । स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञोऽदृष्टार्थमृग्वेदाद्यध्ययनरूपः । यज्ञशब्देन पञ्चविधमहायज्ञोक्तिसंभवेऽप्यसाधारण्येन ब्रह्मचारिधर्मत्वकथनार्थं पृथगुक्तिः । तपस्त्रिविधं शारीरादि सप्तदशे वक्ष्यमाणं वानप्रस्थस्यासाधारणो धर्मः । एवं चतुर्णामाश्रमाणामसाधारणान्धर्मानुक्त्वा चतुर्णां वर्णानामसाधारण-धर्मानाह—आर्जवमवक्रत्वं श्रद्दधानेषु श्रोतृषु स्वज्ञातार्थासंगोपनम् ॥ १ ॥

ही ज्ञानयोगव्यवस्थिति है । इस प्रकार जब इसकी व्याख्या की जाती है तो यह दैवी सम्पद् फलभूता ही है—ऐसा समझना चाहिये । भगवद्भक्तिके विना अन्तःकरण संशुद्धि का होना सम्भव नहीं है, इसलिये इसके द्वारा उसका भी उल्लेख हो जाता है, क्योंकि नवम अध्यायमें 'महात्मनस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।' इस स्थानपर दैवी सम्पद्‌में भगवद्भक्ति भी कही गयी है । भगवद्भक्ति अत्यन्त श्रेष्ठ है, इसलिये इसका अभयादिके साथ पाठ नहीं किया गया है—ऐसा समझना चाहिये ।

(१) इस प्रकार महाभाग परमहंसोंकी फलभूता दैवीसम्पद्‌का वर्णनकर अब उनसे निम्नकोटिके गृहस्थादिकोंकी साधनभूता दैवीसम्पद्‌का वर्णन करते हैं—दान—अपने स्वत्वके परित्यागपूर्वक दूसरोंका स्वत्व कर देना अर्थात् यथाशक्ति अन्नादिका शास्त्रोक्त परित्याग । दम—बाह्य इन्द्रियोंका संयम, ऋतुकालादिके सिवा अन्य समय मैथुनादिका त्याग । यहाँ 'च' शब्द विना कहे हुए दूसरे निवृत्तिलक्षण धर्मोंके समुच्चयके लिये है । यज्ञ—अग्निहोत्र दर्श और पूर्णमासादि श्रौत तथा देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ ये चार प्रकारके स्मार्त यज्ञ है, क्योंकि ब्रह्मयज्ञको 'स्वाध्याय' पद से अलग कहा है । यहाँ 'च' शब्द बिना कहे हुए अन्य प्रवृत्तिलक्षण धर्मोंके समुच्चयके लिये है । ये तीन धर्म गृहस्थके हैं । स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ है, जो अदृष्ट प्रयोजनसे ऋग्वेदादिका अध्ययन करना है । 'यज्ञ' शब्दसे पाँच प्रकारके महायज्ञोंका कथन सम्भव होनेपर भी इसे विशेषरूपसे ब्रह्मचारीका धर्म बतानेके लिये अलग कहा है । तथा तीन प्रकारका तप, जिसका शारीरादि भेदसे सतरहवें अध्यायमें वर्णन किया जायगा, यह वानप्रस्थका विशेष धर्म है । इस प्रकार चारों आश्रमोंके असाधारण धर्मोंका वर्णनकर अब चारों वर्णोंके असाधारण धर्मोंका वर्णन करते हैं—आर्जव-अकुटिलता अर्थात् श्रद्धालु श्रोताओंके सामने अपनी जानी हुई बातको न छिपाना ॥ १ ॥

(१) प्राणिवृत्तिच्छेदो हिंसा तदहेतुत्वमहिंसा । सत्यमनर्थाननुबन्धि यथाभूतार्थवचनम् । परैराक्रोशे ताडने वा कृते सति प्राप्तो यः क्रोधस्तस्य तत्कालमुपशमनमक्रोधः । दानस्य प्रागुक्तेस्त्यागः संन्यासः । दमस्य प्रागुक्तेः शान्तिरन्तःकरणस्योपशमः । परस्मै परोक्षे परदोषप्रकाशनं पैशुनं तदभावोऽपैशुनम् । दया भूतेषु दुःखितेष्वनुकम्पा । अलोलुप्त्वमलोलुपत्वमिन्द्रियाणां विषयसंनिधानेऽप्यविक्रियत्वम् । मार्दवमक्रूरत्वं वृथापूर्वपक्षादिकारिष्वपि शिष्यादिष्वप्रियभाषणादिव्यतिरेकेण बोधयितृत्वम् । ह्रीरकार्यप्रवृत्त्यारम्भे तत्प्रतिबन्धिका लोकलज्जा । अचापलं प्रयोजनं विनाऽपि वाक्पाण्यादिव्यापारयितृत्वं चापलं तदभावः । आर्जवादयोऽचापलान्ता ब्राह्मणस्यासाधारणा धर्माः ॥ २ ॥

(२) तेजः प्रागल्भ्यं स्त्रीबालकादिभिर्मूढैरनभिभाव्यत्वम् । क्षमा सत्यपि सामर्थ्ये परिभवहेतुं प्रति क्रोधस्यानुत्पत्तिः । धृतिर्देहेन्द्रियेष्ववसादं प्राप्तेष्वपि तदुत्तम्भकः प्रयत्नविशेषः । येनोत्तम्भितानि करणानि शरीरं च नावसीदन्ति । एतत्त्रयं क्षत्रियस्यासाधारणम् । शौचमाभ्यन्तरमर्थप्रयोगादौ मायानृतादिराहित्यं न तु मृज्जलादिजनितं बाह्यमत्र ग्राह्यं तस्य शरीरशुद्धिरूपतया बाह्यत्वेनान्तःकरणवासनात्वाभावात् । तद्वासनानामेव सात्त्विकादिभेदभिन्नानां दैव्यासुर्यादिसंपद्रूपत्वेनात्र प्रतिपिपादयिषितत्वात् । स्वाध्यायादिवत्केनचिद्रूपेण वासनारूपत्वे तदप्यादेयमेव । द्रोहः

(१) प्राणियोंकी वृत्तिका छेदन करना हिंसा है, उसका कारण न बनना अहिंसा है । सत्य—जिसके परिणाममें अनर्थ न हो ऐसा यथार्थभाषण, दूसरोंके गाली देने अथवा पीटनेपर जो क्रोध होता है उसे उसी समय शान्त कर देना अक्रोध है । दानका अलग उल्लेख हो चुका है इसलिये 'त्याग' संन्यासका वाचक है । शमका पृथक वर्णन किया जा चुका है इसलिये 'शान्ति' अन्तःकरणकी उपरति है । दूसरेके सामने किसी अन्य पुरुषके दोषों को उसके पीछे प्रकट करना 'पैशुन' है, उसका अभाव अपैशुन है । दया—दुःखित प्राणियोंपर अनुग्रह । अलोलुपता—विषयोंकी सन्निधिमें भी इन्द्रियोंका निर्विकार रहना । मार्दव—अक्रूरता अर्थात् शिष्यादि यदि वृथा पूर्वपक्षादि ग्रहण करें तो भी उन्हें अप्रियभाषणादि न करते हुए समझाना । ह्री—न करने योग्य प्रवृत्तिके आरम्भमें उसे रोकनेवाली लोकलज्जा । अचापल—प्रयोजन न होनेपर भी वाणी और हाथ आदिको चलाते रहना चपलता है उसका अभाव । आर्जवसे लेकर अचापलपर्यन्त ब्राह्मणके असाधारण धर्म कहे गये हैं ॥ २ ॥

(२) तेज—प्रगल्भता अर्थात् स्त्री-बालक आदि मूर्खोंके वशमें न होना । क्षमा—अपने तिरस्कारके कारणको दबानेकी शक्ति होनेपर भी क्रोध उत्पन्न न होना । धृति—देह और इन्द्रियादिके थक जानेपर भी उन्हें उठानेवाला प्रयत्नविशेष, जिससे उठाये हुए इन्द्रिय और शरीर थकित नहीं होते । ये तीन क्षत्रियके असाधारण धर्म हैं । शौच—धनका व्यवहारादि करनेमें कपट और झूठ आदिसे दूर रहना रूप आन्तर शौच, यहाँ मृत्तिका और जलादिसे होनेवाला बाह्य शौच नहीं लेना चाहिये; क्योंकि शरीर शुद्धि रूपसे बाह्य होनेके कारण वह अन्तःकरणकी वासनाओंका शोधक नहीं हो सकता, तथा सात्त्विकादि भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी उसकी वासनाओंका ही यहाँ दैवी और आसुरी आदि सम्पदोंके भेदसे प्रतिपादन करना अभीष्ट है । स्वाध्यायादिके समान यदि किसी प्रकार उसे वासनारूप माना जाय तो भी वह ग्राह्य ही है । दूसरेकी हिंसा करनेके लिये शास्त्रग्रहणादि करना द्रोह है उसका अभाव अद्रोह है । ये दो वैश्यके असाधारण धर्म

परजिघांसया शस्त्रग्रहणादि तदभावोऽद्रोहः । एतद्द्वय वैश्यस्यासाधारणम् । अत्यर्थं मानिताऽऽत्मनि पूज्यत्वातिशयभावनाऽतिमानिता, तद्भावो नातिमानिता पूज्येषु नम्रता । अयं शूद्रस्यासाधारणो धर्मः । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्यादिश्रुत्या विविदिषौपयिकतया विनियुक्ता असाधारणाः साधारणाश्च वर्णाश्रमधर्मा इहोपलक्ष्यन्ते । एते धर्मा भवन्ति निष्पद्यन्ते दैवीं शुद्धसत्त्वमयीं संपदं वासनासंततिं शरीरारम्भकाले पुण्यकर्मभिरभिव्यक्तामभिलक्ष्य जातस्य पुरुषस्य 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' । 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इत्यादिश्रुतिभ्यः । हे भारतेति संबोधयञ्शुद्धवंशोद्भवत्वेन पूतत्वाच्चमेतादृशधर्मयोग्योऽसीति सूचयति ॥ ३ ॥

(१) आदेयत्वेन दैवीं संपदमुक्त्वेदानीं हेयत्वेनाऽऽसुरीं संपदमेकेन श्लोकेन संक्षिप्याऽऽह—

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

(२) दम्भो धार्मिकतयाऽऽत्मनः ख्यापनं तदेव धर्मध्वजित्वम् । दर्पो धनस्वजनादिनिमित्तो महदवधीरणाहेतुर्गर्वविशेषः । अतिमान आत्मन्यत्यन्तपूज्यत्वातिशयाध्यारोपः 'देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽऽसुरा अतिमानेनैव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेति स्वेष्वेवाऽऽस्येषु जुह्वतश्चेरु-

हैं । अत्यन्त मानिता अर्थात् अपने में पूज्यत्वकी अतिशय भावना अतिमानिता है, उसका अभाव नातिमानिता है अर्थात् पूज्योंके प्रति नम्रता । यह शूद्रका असाधारण धर्म है ।

यहाँ 'उस इस आत्माको ब्राह्मण लोग वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप और उपवासद्वारा जानना चाहते हैं' इस श्रुतिमें जिज्ञासामें उपयोगी रूपसे लिये हुए असाधारण और साधारण वर्णाश्रमधर्मोंको उपलक्षित किया गया है । शरीरारम्भके समय पुण्य कर्मों द्वारा अभिव्यक्त शुद्धसत्त्वमयी दैवी सम्पद् अर्थात् वासनासन्ततिको लक्षित करके उत्पन्न हुए पुरुषमें ये धर्म होते हैं । यह बात 'उसमें विद्या कर्म और पूर्ववासना प्रकट हो जाती हैं' तथा 'पुण्यकर्मसे वह पुण्यात्मा होता है तथा पाप कर्मसे पापी होता है' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होती है । 'हे भारत !' इस सम्बोधनसे भगवान् यह सूचित करते हैं कि शुद्ध वंशमें उत्पन्न होनेके कारण पवित्र होनेसे तुम ऐसे धर्मके योग्य हो ॥ ३ ॥

(१) ग्राह्यरूपसे दैवीसम्पद्का वर्णन कर अब त्याज्यरूपसे संक्षेपमें एक श्लोक द्वारा आसुरीसम्पद्का वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! आसुरी सम्पद् लेकर उत्पन्न हुए पुरुषमें दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कटु भाषण, और अज्ञान—ये धर्म रहते हैं ॥ ४ ॥

(२) दम्भ—अपनेको धार्मिक रूपसे प्रकट करना; इसीको धर्मध्वजीपन कहते हैं । दर्प—धन या स्वजनादिके कारण महापुरुषोंके तिरस्कारका हेतुभूत गर्वविशेष । अतिमान—अपनेमें अत्यन्त पूज्यत्वरूप अतिशयका आरोप करना । 'देवता और असुर ये दोनों ही प्रजापतिके पुत्र थे । वे आपसमें स्पर्धा करने लगे । तब असुरोंने अतिमानसे ही विचार किया कि हम किसमें हवन करें ? अतः उन्होंने अपने मुखमें ही हवन किया । वे अत्यन्त मानके ही कारण पराभवको प्राप्त हुए । 'इसलिये कभी अधिक मान न करे, क्योंकि यह जो अतिमान है वह पराभवका ही कारण है' ऐसा शतपथ श्रुतिने कहा है । क्रोध—अपने

स्तेऽतिमानेनैव परावभूवुस्तस्माज्ञातिमन्येत पराभवस्य द्योतन्मुखं यदतिमानः' इतिशतपथश्रुत्युक्तः। क्रोधः स्वपरापकारप्रवृत्तिहेतुरभिज्वलनात्मकोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषः। पारुष्यं प्रत्यक्षरूक्षवदनशीलत्वम्। चकारोऽनुक्तानां भावभूतानां चापलादिदोषाणां समुच्चयार्थः। अज्ञानं कर्तव्याकर्तव्यादिविषयविवेकाभावः। च शब्दोऽनुक्तानामभावभूतानामधृत्यादिदोषाणां समुच्चयार्थः। आसुरीमसुररमणहेतुभूतां रजस्तमोमयीं संपदमशुभवासनासंततिं शरीरारम्भकाले पापकर्मभिरभिव्यक्तामभिलक्ष्य जातस्य कुपुरुषस्य दम्भाद्या अज्ञानान्ता दोषा एव भवन्ति न त्वभयाद्या गुणा इत्यर्थः। हे पार्थेति संबोधयन्विशुद्धमातृकत्वेन तदयोग्यत्वं सूचयति ॥ ४ ॥

(१) अनयोः संपदोः फलविभागोऽभिधीयते—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

(२) यस्य वर्णस्य यस्याऽऽश्रमस्य च या विहिता सात्त्विकी फलाभिसंधिरहिता क्रिया सा तस्य दैवी संपत्सा सत्त्वशुद्धिभगवद्भक्तिज्ञानयोगस्थितिपर्यन्ता सती संसारबन्धनाद्विमोक्षाय कैवल्याय भवति। अतः सैवोपादेया श्रेयोर्थिभिः। या तु यस्य शास्त्रनिषिद्धा फलाभिसंधिपूर्वा साहंकारा च राजसी तामसी क्रिया तस्य सा सर्वाऽप्यासुरी संपत्। अतो राक्षस्यपि तदन्तर्भूतैव। सा निबन्धाय नियताय संसारबन्धाय मता संमता शास्त्राणां तदनुसारिणां च। अतः सा हेयैव श्रेयोर्थिभिरित्यर्थः।

और पराये अपकारकी प्रवृत्तिकी हेतुभूता अन्तःकरणकी ज्वलनात्मिका वृत्तिविशेष। पारुष्य—मुँहपर कटुभाषणका स्वभाव। यहाँ 'च' शब्द जिनका उल्लेख नहीं हुआ है उन चपलता आदि दूसरे दोषोंके समुच्चयके लिये हैं। अज्ञान—कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य आदि विषयोंके विवेकका अभाव। 'च' शब्द बिना कहे हुए अधृति आदि अभावरूप दोषोंके समुच्चयके लिये है। जो शरीरारम्भके समय पापकर्मोंके कारण अभिव्यक्त हुई आसुरी—असुरोंके रमणकी हेतुभूता रजोगुण-तमोगुणमयी सम्पद्को अर्थात् अशुभवासनासमूहको लक्ष्य करके उत्पन्न हुआ है उस असत् पुरुषमें दम्भसे लेकर अज्ञानपर्यन्त दोष ही रहते हैं, अभय आदि गुण नहीं रहते—ऐसा इसका तात्पर्य है। हे पार्थ!—ऐसा सम्बोधन देकर यह सूचित करते हैं कि विशुद्ध मातृत्ववाला होनेके कारण अर्जुन आसुरी सम्पद् वाला होने योग्य नहीं ॥ ४ ॥

(१) इन दोनों सम्पदोंके फलोंका विभाग कहा जाता है—

[श्लोकार्थः—अर्जुन! दैवी सम्पद् मोक्षके लिये होती है और आसुरी बन्धनके लिये मानी गयी है। तुम शोक न करो, क्योंकि तुम दैवी सम्पद्को लक्ष्य बनाकर उत्पन्न हुए हो ॥ ५ ॥]

(२) जिस वर्ण और जिस आश्रमके लिये जो फलकी इच्छासे रहित सात्त्विकी क्रिया विहित है वही उसकी दैवी सम्पद् है। वह सत्त्वशुद्धि, भगवद्भक्ति अथवा ज्ञान और योगकी स्थितिपर्यन्त होनेपर संसारबन्धनादि की निवृत्ति और कैवल्यकी प्राप्तिके लिये होती है; अतः कल्याणकामियोंके लिये वही ग्राह्य है। किन्तु, जिस वर्ण या आश्रमकी जो राजसी-तामसी क्रिया फलाकांक्षापूर्वक और अहंकारके सहित होती है वह सब उसकी आसुरी सम्पद् होती है। अतः राक्षसी सम्पद् भी इसीके अन्तर्गत है। शास्त्र और शास्त्रका अनुसरण करनेवालोंके मतमें वह निबन्ध—संसारबन्धनके लिये है।

तत्रैवं सत्यहं कया संपदा युक्त इति संदिहानमर्जुनमाश्वासयति भगवान्—मा शुचः, अहमासुर्या संपदा युक्त इति शङ्क्या शोकमनुतापं मा कार्षीः, दैवीं संपदमभिलक्ष्य जातोऽसि प्रागर्जितकल्याणो भाविकल्याणश्च त्वमसि हे पाण्डव पाण्डुपुत्रेष्वन्येष्वपि दैवी संपत्प्रसिद्धा किं पुनस्त्वयीति भावः।

(१) ननु भवतु राक्षसी प्रकृतिरासुर्यामन्तर्भूता शास्त्रनिषिद्धक्रियोन्मुखत्वेन सामान्यात्कामोपभोगप्राधान्यप्राणिहिंसाप्राधान्याभ्यां क्वचिद्भेदेन व्यपदेशोपपत्तेः, मानुषी तु प्रकृतिस्तृतीया पृथगस्ति 'त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुराः' इति श्रुतेः। अतः साऽपि हेयकोटावुपादेयकोटौ वा वक्तव्येत्यत आह—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

(२) अस्मिँल्लोके सर्वस्मिन्नपि संसारमार्गे द्वौ द्विप्रकारावेव भूतसर्गौ मनुष्यसर्गौ भवतः। कौ तौ दैव आसुरश्च, न तु राक्षसो मानुषो वाऽधिकः सर्गोऽस्तीत्यर्थः। यो यदा मनुष्यः शास्त्रसंस्कारप्राबल्येन स्वभावसिद्धौ रागद्वेषावभिभूय धर्मपरायणो भवति स तदा देवः। यदा तु स्वभावसिद्धरागद्वेषप्राबल्येन शास्त्रसंस्कारमभिभूयाधर्मपरायणो भवति स तदाऽसुर इति द्वैविध्योपपत्तेः। न हि धर्माधर्माभ्यां तृतीया कोटिरस्ति। तथा च श्रूयते—'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा

अतः तात्पर्य यह है कि कल्याण की इच्छावालोंके लिये तो वह त्याज्य ही है। ऐसी स्थिति होनेपर 'मैं किस सम्पद्से युक्त हूँ?' इस प्रकार सन्देह करते हुए अर्जुनको भगवान् धैर्य बँधाते हैं—शोक मत करो, अर्थात् 'मैं आसुरीसम्पद्से युक्त हूँ' ऐसी शंकासे शोक—अनुताप न करो, क्योंकि तुम दैवी सम्पद्को लक्षित करके उत्पन्न हुए हो। तुमने पहले भी कल्याणका उपार्जन किया है, अतः भविष्यमें भी तुम्हारा कल्याण होगा। हे पाण्डव!—इस सम्बोधनका यह भाव है कि दूसरे पाण्डुपुत्रोंमें भी दैवी सम्पद् प्रसिद्ध है, फिर तुममें भी है—इसमें तो कहना ही क्या है? ॥ ५ ॥

(१) 'भले ही, राक्षसी प्रकृति आसुरी सम्पद्के अन्तर्भूत हो जाय, क्योंकि शास्त्रनिषिद्ध क्रियाओंमें तत्परतारूप समानता होनेपर भी [आसुरी सम्पद्में] कामोपभोगकी प्रधानता और [राक्षसी प्रकृतिमें] प्राणिहिंसाकी प्रधानता रहनेसे उनका कहीं-कहीं पृथक् उल्लेख हो ही सकता है; किन्तु मानुषी प्रकृति तो इनसे भिन्न तीसरी ही है। 'प्रजापतिके तीन पुत्र देवता मनुष्य और असुरोंने अपने पिता प्रजापतिके यहाँ ब्रह्मचर्य पालन करते हुए निवास किया' इस श्रुतिसे यह बात सिद्ध होती है। अतः उसका भी 'हेय या उपादेयकोटिमें उल्लेख होना ही चाहिये।' ऐसी शंका होनेपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ! इस लोकमें दैवी और आसुरी दो प्रकारकी मानवी सृष्टि है। दैवी सृष्टिका विस्तारसे वर्णन हो चुका अब तुम मुझसे आसुरी सृष्टिका वर्णन सुनो ॥ ६ ॥

(२) इस लोकमें सारे संसारमार्गमें दो अर्थात् दो प्रकारका ही भूतसर्ग—मनुष्यसर्ग है। वे कौन-से दो मनुष्यसर्ग हैं?—दैव और आसुर। तात्पर्य यह है कि इनके सिवा राक्षस या मानुष कोई तीसरा सर्ग नहीं है। जिस समय जो मनुष्य शास्त्रके संस्कारोंकी प्रबलतासे स्वभावसिद्ध राग-द्वेषको दबाकर धर्मपरायण होता है उस समय वह देवता है और जिस समय वह स्वभावसिद्ध राग-द्वेषकी प्रबलतासे शास्त्रके संस्कारोंको दबाकर अधर्म परायण होता है उस समय वह असुर है। इस प्रकार उसकी द्विविधता होनी सम्भव है। धर्म और अधर्मसे भिन्न कोई तीसरी कोटि है नहीं। ऐसी ही श्रुति

एव देवा ज्यायसा असुराः' इति। दमदानदयाविधिपरे तु वाक्ये त्रयाः प्राजापत्या इत्यादौ दमदानदयारहिता मनुष्या असुरा एव सन्तः केनचित्साधर्म्येण देवा मनुष्या असुरा इत्युपचर्यन्त इति नाऽऽधिक्यावकाशः। एकेनैव द इत्यक्षरेण प्रजापतिना दमरहितान्मनुष्यान्प्रति दमोपदेशः कृतः, दानरहितान्प्रति दानोपदेशः, दयारहितान्प्रति दयोपदेशः, न तु विजातीया एव देवासुरमनुष्या इह विवक्षिता मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य। तथा चान्त उपसंहरति—'तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति। तस्माद्राक्षसी मानुषी च प्रकृतिरासुर्यामेवान्तर्भवतीति युक्तमुक्तं द्वौ भूतसर्गाविति।

(१) तत्र दैवो भूतसर्गो मया त्वां प्रति विस्तरशो विस्तरप्रकारैः प्रोक्तः स्थितप्रज्ञलक्षणे द्वितीये भक्तलक्षणे द्वादशे ज्ञानलक्षणे त्रयोदशे गुणातीतलक्षणे चतुर्दश इह चाभयमित्यादिना। इदानीमासुरं भूतसर्गं मे मद्वचनैर्विस्तरशः प्रतिपाद्यमानं त्वं शृणु हानार्थमवधारय सम्यक्तया ज्ञातस्य हि परिवर्जनं शक्यते कर्तुमिति। हे पार्थेति संबन्धसूचनेनानुपेक्षणीयतां दर्शयति ॥ ६ ॥

(२) वर्जनीयामासुरीं संपदं प्राणिविशेषणतया तानहमित्यतः प्राक्तनैर्द्वादशभिः श्लोकैर्विवृणोति—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।

भी है—'प्रजापतीके दो पुत्र थे—देव और असुर; उनमें देव छोटे थे और असुर बड़े। दम दान और दयाकी विधिपरक 'त्रयाः प्राजापत्याः' इत्यादि दूसरे वाक्यमें जो दम दान और दयासे रहित मनुष्य हैं वे वस्तुतः असुर होनेपर भी किसी साधर्म्यको लेकर उपचारसे देव मनुष्य और असुर कहे गये हैं। अतः कोटिकी अधिकताके लिये अवकाश नहीं है। प्रजापतिने 'द' इस एक ही अक्षरसे दमरहित मनुष्योंको दमका उपदेश किया है, दानरहितोंको दानका उपदेश किया है और दयाहीनोंको दयाका उपदेश किया है। इससे यह कहना अभीष्ट नहीं है कि वे देव, असुर और मनुष्य विजातीय ही हैं, क्योंकि शास्त्रोंमें तो मनुष्यका ही अधिकार है। ऐसा ही अन्तमें श्रुति उपसंहार करती है—'मेघकी द द द ऐसी गर्जन इस दैवी वाणीका ही अनुवाद करती है, अर्थात् दाम्यत (दम करो) दत्त (दान दो) दयध्वम् (दया करो), अतः दम दान और दया—इन तीनोंकी शिक्षा ग्रहण करे।' अतः राक्षसी और मानुषी प्रकृति आसुरी प्रकृतिके ही अन्तर्गत हैं, इसलिये 'दो भूतसर्ग हैं' यह कथन ठीक ही है।

(१) हे पार्थ! इनमें दैव भूतसर्ग तो मैंने तुम्हें दूसरे अध्यायमें स्थित प्रज्ञके लक्षणोंमें, बारहवें अध्यायमें भक्तके लक्षणोंमें, तेरहवें अध्यायमें ज्ञानके लक्षणोंमें, चौदहवें अध्यायमें गुणातीतके लक्षणोंमें और यहाँ 'अभयम्' इत्यादि श्लोकोंसे विस्तारसे सुना दिया है। अब तुम मेरे वचनोंसे विस्तारपूर्वक कहे हुए आसुर सर्गको सुनो—त्यागनेके लिये ध्यान देकर समझो, क्योंकि जिसे अच्छी तरह समझ लिया जाता है उसका ही त्याग किया जा सकता है। यहाँ 'हे पार्थ!' इस प्रकार सम्बोधन करके अर्जुनकी अनुपेक्षणीयता प्रदर्शित करते हैं ॥ ६ ॥

(२) त्यागनेके योग्य आसुरी सम्पद्का प्राणियोंके विशेषणरूपसे 'तानहम्' इत्यादिसे पहले बारह श्लोकों द्वारा विस्तार करते हैं—

[श्लोकार्थः—आसुरी सम्पद्वाले पुरुष प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते। उनमें पवित्रता नहीं होती, आचार नहीं होता और न उनमें सत्य ही रहता है ॥ ७ ॥]

न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

(१) प्रवृत्तिं प्रवृत्तिविषयं धर्मं, चकारात्तत्प्रतिपादकं विधिवाक्यं च। एवं निवृत्तिं निवृत्तिविषयमधर्मं, चकारात्तत्प्रतिपादकं निषेधवाक्यं चासुरस्वभावा जना न जानन्ति। अतस्तेषु न शौचं द्विविधं नाप्याचारो मन्वादिभिरुक्तः। न सत्यं च प्रियहितयथार्थभाषणं विद्यते। शौचसत्ययोराचारान्तर्भावेऽपि ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन पृथगुपादानम्। अशौचा अनाचारा अनृतवादिनो ह्यसुरा मायाविनः प्रसिद्धाः ॥ ७ ॥

(२) ननु धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषययोः प्रतिपादकं वेदाख्यं प्रमाणमस्ति निर्दोषं भगवदाज्ञारूपं सर्वलोकप्रसिद्धं तदुपजीवीनि च स्मृतिपुराणेतिहासादीनि सन्ति, तत्कथं प्रवृत्तिनिवृत्तितत्प्रमाणाद्यज्ञानं, ज्ञाने वाऽऽज्ञोल्लङ्घिनां शासितरि भगवति सति कथं तदननुष्ठानेन शौचाचारादिरहितत्वं दुष्टानां शासितुर्भगवतोऽपि लोकवेदप्रसिद्धत्वादत आह—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

(३) सत्यमबाधिततात्पर्यविषयं तत्त्वावेदकं वेदाख्यं प्रमाणं तदुपजीवि पुराणादि च नास्ति यत्र तदसत्यं वेदस्वरूपस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेऽपि तत्प्रामाण्यानभ्युपगमाद्विशिष्टाभावः। अत एव नास्ति

(१) प्रवृत्तिको—प्रवृत्तिविषयक धर्मको और 'च' शब्दसे धर्मके प्रतिपादक विधिवाक्यको, इसी प्रकार निवृत्तिको—निवृत्तिविषयक अधर्मको और 'च' शब्दसे उसका प्रतिपादन करनेवाले निषेधवाक्यको आसुरी स्वभाववाले पुरुष नहीं जानते। अतः उनमें न तो दोनों प्रकारका शौच होता है, न मनु आदिका कहा हुआ आचार ही होता है और न सत्य—प्रिय और हितकर यथार्थभाषण ही होता है। सत्य और शौचका यद्यपि आचारमें ही अन्तर्भाव हो जाता है, तो भी ब्राह्मण-परिव्राजकन्यायसे इनको पृथक् ग्रहण किया है। असुर शौचहीन, आचारहीन, मिथ्यावादी और मायावी प्रसिद्ध हैं ही ॥ ७ ॥

(२) 'किन्तु प्रवृत्ति और निवृत्तिके विषय धर्म और अधर्मका प्रतिपादन करनेवाला सम्पूर्ण लोकमें प्रसिद्ध, भगवान्की आज्ञारूप वेदसंज्ञक निर्दोष प्रमाण है ही तथा उसीका अनुसरण करनेवाले स्मृति पुराण एवं इतिहास भी हैं। तो फिर प्रवृत्ति निवृत्ति और उनके प्रमाणादिका अज्ञान कैसे होता है और ज्ञान होनेपर आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवालोंका शासन करनेवाले श्रीभगवान्के रहते हुए उनकी आज्ञाका अनुष्ठान न करके शौच और आचारादिसे रहित होना भी कैसे सम्भव है? क्योंकि दुष्टोंका शासन करनेवाले श्रीभगवान् भी लोक और वेदमें प्रसिद्ध हैं ही।' इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—वे आसुरीसम्पद्वाले संसारको असत्य, व्यवस्थाके कारणसे रहित, ईश्वरहीन, एक-दूसरेके संयोगसे उत्पन्न और कामजनित बताते हैं। इनसे भिन्न इसका कोई और कारण नहीं बताते ॥ ८ ॥]

(३) जहाँ सत्य अर्थात् अबाधित तात्पर्यको विषय करनेवाला एवं तत्त्वका ज्ञान करानेवाला वेदसंज्ञक प्रमाण और उसके उपजीवी पुराणादि नहीं हैं वह असत्य है। वेदका स्वरूप यद्यपि प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है, तो भी उसकी प्रामाणिकता न माननेसे उसका अप्रामाण्यविशिष्ट अभाव तो है ही। इसीसे जिसकी धर्माधर्मरूप प्रतिष्ठा—व्यवस्थाका

धर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा व्यवस्थाहेतुर्यस्य तदप्रतिष्ठम् । तथा नास्ति शुभाशुभयोः कर्मणोः फलदातेश्वरो नियन्ता यस्य तदनीश्वरं त आसुरा जगदाहुः, बलवत्पापप्रतिबन्धाद्वेदस्य प्रामाण्यं ते न मन्यन्ते । ततश्च तद्बोधितयोर्धर्माधर्मयोरीश्वरस्य चानङ्गीकाराद्यथेष्टाचरणेन ते पुरुषार्थभ्रष्टा इत्यर्थः ।

(१) शास्त्रैकसमधिगम्यधर्माधर्मसहायेन प्रकृत्यधिष्ठात्रा परमेश्वरेण रहितं जगदिष्यते चेत्कारणाभावात्कथं तदुत्पत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—अपरस्परसंभूतं कामप्रयुक्तयोः स्त्रीपुंसयोरन्योन्यसंयोगात्संभूतं जगत्कामहैतुकं कामहेतुकमेव कामहैतुकं कामातिरिक्तकारणशून्यम् । ननु धर्माद्यप्यस्ति कारणं नेत्याह—किमन्यत्, अन्यदृष्टं कारणं किमस्ति नास्त्येवेत्यर्थः । अदृष्टाङ्गीकारेऽपि क्वचिद्गत्वा स्वभावे पर्यवसानात्स्वाभाविकमेव जगद्वैचित्र्यमस्तु दृष्टे संभवत्यदृष्टकल्पनानवकाशात् । अतः काम एव प्राणिनां कारणं नान्यदृष्टेश्वरादीत्याहुरिति लोकायतिकदृष्टिरियम् ॥ ८ ॥

(२) इयं दृष्टिः शास्त्रीयदृष्टिवदिष्टैवेत्याशङ्क्याऽऽह —

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

(३) एतां प्रागुक्तां लोकायतिकदृष्टिमवष्टभ्याऽऽलम्ब्य नष्टात्मानो भ्रष्टपरलोकसाधना अल्पबुद्धयो दृष्टमात्रोद्देशप्रवृत्तमतय उग्रकर्माणो हिंस्राः अहिताः शत्रवो जगतः प्राणिजातस्य क्षयाय व्याघ्र-

---

हेतु नहीं है ऐसे इस जगत्को वे आसुरी पुरुष अप्रतिष्ठ तथा शुभाशुभ कर्मोंका फल देनेवाला नियन्ता ईश्वर नहीं है इसलिये इसे अनीश्वर कहते हैं । पापरूप प्रबल प्रतिबन्ध होनेके कारण वे वेदकी प्रामाणिकता नहीं मानते । इसीसे उसके बताये हुए धर्म, अधर्म और ईश्वरको स्वीकार न करके यथेष्ट आचरण करनेसे वे पुरुषार्थसे पतित ही हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

(१) 'यदि वे जगत्को एकमात्र शास्त्रसे ही जिनका ज्ञान होता है उन धर्म और अधर्मके सहित प्रकृतिके अधिष्ठाता ईश्वरसे भी रहित मानते हैं तो कोई कारण न रहनेसे उसकी उत्पत्ति ही कैसे सिद्ध होगी' ऐसी आशंका करके कहते हैं—वे जगत्को अपरस्परसम्भूत—कामप्रेरित स्त्री-पुरुषोंके पारस्परिक संयोगसे उत्पन्न हुआ अर्थात् काम ही जिसका कारण है ऐसा मानते हैं । कामहेतुकको ही यहाँ 'कामहैतुकम्' कहा है अर्थात् कामके सिवा अन्य कारणसे रहित । यदि कहो कि धर्मादि भी तो उसके कारण हैं—तो वे कहते हैं—नहीं और कोई अदृष्ट कारण क्या हो सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं हो सकता । अदृष्टको अंगीकार करनेपर भी उसका पर्यवसान तो कहीं स्वभावमें ही होता है, अतः यह जगत्की विचित्रता स्वाभाविक ही होनी चाहिये, क्योंकि दृष्ट कारणके रहते हुए अदृष्ट कारणकी कल्पनाके लिये अवकाश भी नहीं है । अतः काम ही प्राणियोंका कारण है, कोई ईश्वरादि नहीं—यह लोकायतिकोंकी दृष्टि है ॥ ८ ॥

(२) 'शास्त्रीय दृष्टिके समान यह दृष्टि भी इष्ट ही है' ऐसी आशंका करके कहते हैं—

[श्लोकार्थः—इस दृष्टिका आश्रय लेकर वे परलोकके साधनोंसे पतित, अल्पबुद्धि, उग्रकर्म करनेवाले [धर्मके] शत्रु जगत्के नाशके लिये उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥]

(३) पहले कही हुई इस लोकायतिकोंकी दृष्टिका अवष्टम्भ—आश्रय लेकर वे नष्टात्मा—परलोकके साधनोंसे भ्रष्ट, अल्पबुद्धि—केवल दृष्टमात्रमें लगी हुई बुद्धिवाले

सर्पादिरूपेण प्रभवन्ति उत्पद्यन्ते । तस्मादियं दृष्टिरत्यन्ताधोगतिहेतुतया सर्वात्मना श्रेयोर्थिभिरवहेयैवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

(१) ते च यदा केनचित्कर्मणा मनुष्ययोनिमापद्यन्ते तदा—

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

(२) कामं तत्तद्दृष्टविषयाभिलाषं दुष्पूरं पूरयितुमशक्यं दम्भेनाधार्मिकत्वेऽपि धार्मिकत्वख्यापनेन मानेनापूज्यत्वेऽपि पूज्यत्वख्यापनेन मदेनोत्कर्षरहितत्वेऽप्युत्कर्षविशेषाध्यारोपेण महद्वधीरणाहेतुनाऽन्विता असद्ग्राहानशुभनिश्चयाननेन मन्त्रेणेमां देवतामाराध्य कामिनीनामाकर्षणं करिष्यामः, अनेन मन्त्रेणेमां देवतामाराध्य महानिधीन्साधयिष्याम इत्यादिदुराग्रहरूपान्मोहाद्विवेकादगृहीत्वा न तु शास्त्रात्, अशुचिव्रता अशुचीनि श्मशानादिदेशोच्छिष्टत्वाद्यवस्थाद्यशौचसापेक्षाणि वामागमाद्युपदिष्टानि व्रतानि येषां तेऽशुचिव्रताः प्रवर्तन्ते यत्र कुत्राप्यवैदिके दृष्टफले क्षुद्रदेवताराधनादाविति शेषः । एतादृशाः पतन्ति नरकेऽशुचावित्यग्रिमेणान्वयः ॥ १० ॥

(३) तानेव पुनर्विशिनष्टि—

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।

उग्रकर्मा—हिंसापरायण अहित—शत्रु जगत् अर्थात् प्राणिसमुदायके क्षयके लिये व्याघ्र-सर्पादिरूपमें उत्पन्न होते हैं । अतः तात्पर्य यह है कि अत्यन्त अधोगतिका कारण होनेसे कल्याणकामियोंको इस दृष्टिका सर्वथा त्याग ही करना चाहिये ॥ ९ ॥

(१) जिस समय किसी कर्मसे वे मनुष्ययोनिको प्राप्त होते हैं उस समय—

[श्लोकार्थः—दम्भ मान और मदसे युक्त तथा अपवित्र व्रतवाले वे लोग जिसका पूरा होना कठिन है ऐसी इच्छाका आश्रय लेकर मोहवश अशुभ निश्चयोंको लेकर [अवैदिक दृष्टफलों वाले क्षुद्र देवताराधनादिमें] प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥]

(२) दुष्पूर—जिसका पूरा होना सम्भव नहीं है ऐसे कामका अर्थात् उस-उस दृष्ट विषयकी अभिलाषाका आश्रय लेकर दम्भसे—अधार्मिक होनेपर भी अपनी धार्मिकता प्रकट करनेसे, मानसे—पूजनीय न होनेपर भी अपनी पूजनीयता प्रकट करनेसे और मदसे—उत्कर्षरहित होनेपर भी अपनेमें महात्माओंके तिरस्कारके हेतुभूत उत्कर्षविशेषका आरोप करनेसे युक्त तथा असद्ग्राहोंको—अशुभ निश्चयोंको अर्थात् 'इस मन्त्रसे इस देवताकी आराधना करके सुन्दरी स्त्रियोंका आकर्षण करूँगा तथा इस मन्त्रसे इस देवता की आराधनाकर बड़े-बड़े खजाने प्राप्त करलूँगा' इत्यादि दुराग्रहरूप निश्चयोंको मोह यानी अविवेकसे, शास्त्रसे नहीं, ग्रहण करके, वे अशुचिव्रत—जिनके बाममार्गीय शास्त्रों द्वारा उपदेश किये हुए श्मशानादि दूषित देश और उच्छिष्टादि अवस्थाजनित अशौचकी अपेक्षा रखनेवाले व्रत हैं ऐसे वे अपवित्र व्रतवाले पुरुष किसी भी अवैदिक दृष्ट फल वाले क्षुद्र देवताओंके पूजनादिमें प्रवृत्त होते हैं । 'क्षुद्र देवताराधनादौ' इतना यहाँ अध्याहार करना चाहिये । ऐसे लोग 'अपवित्र नरकमें गिरते हैं' इस प्रकार इसका आगे (१६वें श्लोक) के साथ अन्वय है ॥ १० ॥

(३) उन्हीं लोगोंके पुनः विशेषण बताते हैं—

[श्लोकार्थः—वे मरणपर्यन्त रहनेवाली अपरिमित चिन्ताका आश्रय लिये रहते हैं,

कामोपभोगपरमा एतावदितिनिश्चिताः ॥ ११ ॥

(१) चिन्तामात्मीययोगक्षेमोपायालोचनात्मिकामपरिमेयामपरिमेयविषयत्वात्परिमातुमशक्यां प्रलयो मरणमेवान्तो यस्यास्तां प्रलयान्तां यावज्जीवमनुवर्तमानामिति यावत् । न केवलमशुचिव्रताः प्रवर्तन्ते किं त्वेतादृशीं चिन्तां चोपाश्रिता इति समुच्चयार्थश्चकारः ।

(२) सदाऽनन्तचिन्तापरा अपि न कदाचित्पारलौकिकचिन्तायुताः किं तु कामोपभोगपरमाः काम्यन्त इति कामा इष्टाः शब्दादयो विषयास्तदुपभोग एव परमः पुरुषार्थो न धर्मादिर्येषां ते तथा । पारलौकिकमुत्तमं सुखं कुतो न कामयन्ते तत्राऽऽह—एतावद्दृष्टमेव सुखं नान्यदेतच्छरीरवियोगे भोग्यं सुखमस्ति एतत्कायातिरिक्तस्य भोक्तुरभावादिति निश्चिता एवंनिश्चयवन्तः । तथा च बार्हस्पत्यं सूत्रं 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' 'काम एवैकः पुरुषार्थः', इति च ॥ ११ ॥

(३) त ईदृशा असुराः—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

(४) अशक्योपायार्थविषया अनवगतोपायार्थविषया वा प्रार्थना आशास्ता एव पाशा इव बन्धनहेतुत्वात्पाशास्तेषां शतैः समूहैर्बद्धा इव श्रेयसः प्रच्याव्येतस्तत आकृष्य नीयमानाः कामक्रोधौ

दृष्ट विषय भोगोंको ही परम पुरुषार्थ समझते हैं तथा यह दृष्ट सुख ही सब कुछ है—ऐसे निश्चयवाले होते हैं ॥ ११ ॥]

(१) वे अपने योग-क्षेमके उपायोंकी आलोचनामयी अपरिमेय—अपरिमेयविषय-विषयिनी होनेके कारण जिसका परिमाण नहीं किया जा सकता ऐसी प्रलयान्त—प्रलय अर्थात् मरण ही जिसका अन्त है अर्थात् यावज्जीवन रहनेवाली चिन्ताका आश्रय लिये रहते हैं । 'अपवित्र व्रतवाले पुरुष केवल क्षुद्र देवताओंकी आराधनामें ही प्रवृत्त नहीं होते बल्कि ऐसी चिन्तामें भी पड़े रहते हैं' इस प्रकार 'च' शब्द समुच्चयके लिये है ।

(२) इस प्रकार निरन्तर अनन्त चिन्तामें तत्पर रहनेपर भी वे कभी पारलौकिक चिन्तासे युक्त नहीं होते, किन्तु कामोपभोगपरम ही होते हैं—जिनकी कामना की जाती है वे शब्दादि दृष्ट विषय काम हैं, उनका उपभोग ही जिनके लिये परम पुरुषार्थ है, धर्मादि नहीं वे ऐसे होते हैं । वे पारलौकिक उत्तम सुखकी इच्छा क्यों नहीं करते ? इस पर कहते हैं—वे इस प्रकार निश्चित किये हुए हैं अर्थात् ऐसे निश्चयवाले हैं कि बस इतना ही अर्थात् यह दृष्टमात्र ही सुख है, शरीरका वियोग होनेपर कोई भोग्य सुख नहीं है, क्योंकि इस शरीरके सिवा कोई और भोक्ता नहीं है । ऐसा ही चार्वाकोंके आचार्य बृहस्पतिजीका सूत्र भी है—'चैतन्यविशिष्ट शरीर ही पुरुष है' तथा 'काम ही एकमात्र पुरुषार्थ है' ॥ ११ ॥

(३) वे ऐसे आसुरी प्रकृतिके पुरुष—

[श्लोकार्थ :—सैकड़ों आशापाशोंसे जकड़े हुए वे काम-क्रोधपरायण पुरुष कामनाओं के भोगके लिए अन्यायसे धनकी राशियोंको पानेका प्रयत्न करते हैं ॥ १२ ॥]

(४) जिसका उपाय न किया जा सके अथवा जिसका उपाय विदित न हो उस वस्तुकी प्रार्थना (अभिलाषा) आशा है; बन्धनकी हेतु होनेसे वह आशा ही पाश के समान पाश है उन सैकड़ों आशाओंके समूहोंसे बँधकर ही श्रेयसे च्युत करके इधर-

परमयनमाश्रयो येषां ते कामक्रोधपरायणाः स्त्रीव्यतिकराभिलाषपरानिष्टाभिलाषाभ्यां सदा परिगृहीता इति यावत् । ईहन्ते कर्तुं चेष्टन्ते कामभोगार्थं न तु धर्मार्थमन्यायेन परस्वहरणादिनाऽर्थसंचयान्धनराशीन् । संचयानिति बहुवचनेन धनप्राप्तावपि तत्तृष्णानुवृत्तेर्विषयप्राप्तिवर्धमानतृष्णस्वरूपो लोभो दर्शितः ॥ १२ ॥

(१) तेषामीदृशीं धनतृष्णानुवृत्तिं मनोराज्यकथनेन विवृणोति—

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

(२) इदं धनमद्येदानीमनेनोपायेन मया लब्धमिदं तदन्यन्मनोरथं मनस्तुष्टिकरं शीघ्रमेव प्राप्स्ये, इदं पुरैव संचितं मम गृहेऽस्ति, इदमपि बहुतरं भविष्यत्यागामिनि संवत्सरे पुनर्धनम् । एवं धनतृष्णाकुलाः पतन्ति नरकेऽशुचावित्यग्रिमेणान्वयः ॥ १३ ॥

(३) एवं लोभं प्रपञ्चय तदभिप्रायकथनेनैव तेषां क्रोधं प्रपञ्चयति—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

(४) असौ देवदत्तनामा मया हतः शत्रुरतिदुर्जयः । अत इदानीमनायासेन हनिष्ये च हनिष्यामि अपरान्सर्वानपि शत्रून्, न कोऽपि मत्सकाशाज्जीविष्यतीत्यपेरर्थः । चकारान्न केवलं

उधर खींचे जानेसे काम और क्रोध ही जिनके परम अयन—आश्रय हो गये हैं ऐसे वे काम-क्रोधपरायण अर्थात् स्त्रीसहवासकी इच्छा और दूसरोंका अनिष्ट करनेकी इच्छासे सर्वदा ग्रस्त हुए पुरुष कामभोगके लिये ही, धर्मके लिये नहीं, अन्यायसे—दूसरोंकी सम्पत्ति हरणादिके द्वारा अर्थसञ्चय—धनकी राशि सञ्चय करनेका प्रयत्न करते हैं । 'सञ्चयान्' इस बहुवचनसे धनकी प्राप्ति हो जानेपर भी उसकी तृष्णा बनी रहनेसे विषय-प्राप्तिकी बढ़ती हुई लोलुपतारूप लोभ दिखाया गया है ॥ १२ ॥

(१) उनकी ऐसी धनतृष्णाकी अनुवृत्तिको उनके मनोराज्यके कथनद्वारा स्पष्ट करते हैं—

[श्लोकार्थ :—आज मैंने यह पा लिया है, इस मनोरथको भी पा लूँगा, यह तो मेरे पास है अब यह धन भी मेरे पास हो जायगा ॥ १३ ॥]

(२) अब इस उपायसे मैंने यह धन तो प्राप्त कर लिया है, यह दूसरा मनोरथ—मनको सन्तुष्ट करनेवाला भोग भी शीघ्र ही प्राप्त कर लूँगा । यह तो पहलेसे ही मेरे घरमें सञ्चित है, यह भी बहुत-सा धन आगामी वर्षमें हो जायगा । इस प्रकार धनकी तृष्णासे व्याकुल वे लोग नरकमें गिरते हैं—इस तरह इसका आगेके (सोलहवें) श्लोकके साथ अन्वय है ॥ १३ ॥

(३) इस प्रकार लोभका विवरण कर अब उनके अभिप्रायको बताते हुए ही उनके क्रोधका विवरण करते हैं—

[श्लोकार्थ :—मैंने इस शत्रुको मार डाला, अब दूसरोंको भी मार डालूँगा मैं ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ और सुखी हूँ ॥ १४ ॥]

(४) मैंने यह देवदत्त नामका बड़ा दुर्जय शत्रु मार लिया है, अतः अब मैं और

हनिष्यामि तान्किं तु तेषां दारधनादिकमपि ग्रहीष्यामीत्यभिप्रायः । कुतस्त्वैतादृशं सामर्थ्यं त्वत्तुल्यानां त्वदधिकानां वा शत्रूणां संभवादित्यत आह—ईश्वरोऽहं न केवलं मानुषो येन मत्तुल्योऽधिको वा कश्चित्स्यात् । किमेते करिष्यन्ति वराकाः सर्वथा नास्ति मत्तुल्यः कश्चिदित्यनेनाभिप्रायेणेश्वरत्वं विवृणोति—यस्मादहं भोगी सर्वैर्भोगोपकरणैरुपेतः सिद्धोऽहं पुत्रभृत्यादिभिः सहायैः संपन्नः स्वतोऽपि बलवानस्योजस्वी सुखी सर्वथा नीरोगः ॥ १३ ॥

(१) ननु धनेन कुलेन वा कश्चित्त्वत्तुल्यः स्यादित्यत आह—

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

(२) आढ्यो धनी, अभिजनवान्कुलीनोऽप्यहमेवास्मि । अतः कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया न कोऽपीत्यर्थः । यागेन दानेन वा कश्चित्तुल्यः स्यादित्यत आह—यक्ष्ये यागेनाप्यन्यानभिभविष्यामि, दास्यामि धनं स्तावकेभ्यो नटादिभ्यश्च । ततश्च मोदिष्ये मोदं हर्षं लप्स्ये नर्तक्यादिभिः सहेत्येवमज्ञानेनाविवेकेन विमोहिता विविधं मोहं भ्रमपरम्परां प्रापिताः ॥ १५ ॥

सब शत्रुओंको भी अनायास ही मार डालूँगा । 'अब मेरे हाथसे कोई भी जीवित नहीं रहेगा'—यह 'अपि' का अर्थ है । 'च' शब्दसे यह अभिप्राय है कि मैं उन्हें मारूँगा ही नहीं बल्कि उनके स्त्री और धन आदिको भी ले लूँगा । 'तुम्हारा ऐसा सामर्थ्य कैसे है, क्योंकि तुम्हारी अपेक्षा तो बड़े शत्रु भी हो सकते हैं' इसपर कहते हैं—मैं ईश्वर हूँ, केवल मनुष्य ही नहीं हूँ जो मेरे समान या मुझसे बढ़कर कोई हो सके । ये बेचारे मेरा क्या करेंगे, मेरे समान तो कोई बिल्कुल नहीं है—इसी अभिप्रायसे उसकी ईश्वरताका विवरण करते हैं—क्योंकि मैं भोगी—समस्त भोगसामग्रियोंसे सम्पन्न हूँ, सिद्ध—पुत्र-भृत्य आदि सहायकोंसे सम्पन्न हूँ, स्वयं भी बलवान्—ओजस्वी हूँ तथा सुखी—सर्वथा नीरोग हूँ ॥ १४ ॥

(१) 'धन अथवा कुलमें तो कोई और भी तुम्हारे समान हो सकता है' ऐसी शंका हो तो वह कहता है—

[श्लोकार्थः—'मैं धनवान् और कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, धन दूँगा और हर्षित होऊँगा' इस प्रकारके अज्ञानसे मोहित, चित्तके अनेकों दुष्ट संकल्पोंसे भ्रान्त, मोहपाशसे घिरे हुए तथा काम और भोगोंमें अत्यन्त आसक्त वे लोग अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १५-१६ ॥]

(२) मैं आढ्य—धनी और अभिजनवान्—कुलीन भी हूँ, अतः मेरे समान दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई भी नहीं है । 'यज्ञ अथवा दानमें कोई समान हो' इसलिये कहते हैं—'मैं यज्ञ करूँगा अर्थात् यज्ञके द्वारा भी दूसरोंको दबा दूँगा, स्तुति करनेवाले और नट आदिको धन दूँगा, इससे मैं मुदित होऊँगा—नर्त्तकी आदिके साथसे मोद—हर्ष प्राप्त करूँगा' इस प्रकारके ही अज्ञान—अविवेकसे विमोहित—विविध प्रकारके मोह अर्थात् भ्रमपरम्पराको प्राप्त हुए ॥ १५ ॥

(१) उक्तप्रकारैरनेकैश्चित्तैस्तत्तद्दुष्टसंकल्पैर्विविधं भ्रान्ताः, यतो मोहजालसमावृता मोहो हिताहितवस्तुविवेकासामर्थ्यं तदेव जालमावरणात्मकत्वेन बन्धहेतुत्वात्, तेन सम्यगावृताः सर्वतो वेष्टिता मत्स्या इव सूत्रमयेन जालेन परवशीकृता इत्यर्थः । अत एव स्वानिष्टसाधनेष्वपि कामभोगेषु प्रसक्ताः सर्वथा तदेकपराः प्रतिक्षणमुपचीयमानकल्मषाः पतन्ति नरके वैतरण्यादावशुचौ विण्मूत्रश्लेष्मादिपूर्णे ॥ १६ ॥

(२) ननु तेषामपि केषांचिद्वैदिके कर्मणि यागदानादौ प्रवृत्तिदर्शनादयुक्तं नरके पतनमिति नेत्याह—

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

(३) सर्वगुणविशिष्टा वयमित्यात्मनैव संभाविताः पूज्यतां प्रापिता न तु साधुभिः कैश्चित् । स्तब्धा अनम्राः । यतो धनमानमदान्विता धननिमित्तो यो मान आत्मनि पूज्यत्वातिशयाध्यासस्तन्निमित्तश्च यो मदः परस्मिन्गुर्वादावप्यपूज्यत्वाभिमानस्ताभ्यामन्वितास्ते नामयज्ञैर्नाममात्रैर्यज्ञैर्न तात्त्विकैर्दीक्षिताः सोमयाजीत्यादिनाममात्रसंपादकैर्वा यज्ञैरविधिपूर्वकं विहिताङ्गेतिकर्तव्यतारहितैर्दम्भेन धर्मध्वजितया न तु श्रद्धया यजन्ते । अतस्तत्फलभाजो न भवन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

---

(१) उक्त प्रकारके अनेक चित्तों अर्थात् उन-उन दुष्ट संकल्पोंसे तरह-तरहसे भ्रान्त हुए, क्योंकि 'मोहजाल समावृताः'—मोह अर्थात् हित और अहितरूप वस्तुके विवेककी असमर्थता वही है आवरणात्मक और बन्धका हेतु होनेसे जाल उससे सब ओरसे आवृत—घिरे हुए, तात्पर्य यह है कि मछलीके समान तन्तुमय जालसे परवश किये हुए हैं; इसीसे अपने अनिष्टके साधन काम और भोगोंमें प्रसक्त—सर्वथा एकमात्र उन्हींमें रचे-पचे, इसलिए प्रतिक्षण जिनका पाप बढ़ रहा है ऐसे वे लोग विष्ठा मूत्र और कफ आदिसे भरे हुए वैतरणी आदि अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥

(२) 'किन्तु उनमें भी किन्हीं-किन्हींकी यज्ञ-दान आदि वैदिक कर्ममें प्रवृत्ति देखी जाती है, इसलिये उनका नरकमें गिरना उचित नहीं है' ऐसी शंका होनेपर कहते हैं—नहीं,

[श्लोकार्थः—अपनेको स्वयं ही पूज्य माननेवाले, नम्रताशून्य और धनके अभिमान तथा उससे उत्पन्न हुए मदसे व्याप्त वे लोग नाममात्रके यज्ञोंसे बिना विधिके यज्ञ करते हैं ॥ १७ ॥]

(३) हम सर्वगुणसम्पन्न हैं—इस प्रकार अपने-आप ही सम्भावित—पूज्यताको प्राप्त हुए—किन्हीं साधुपुरुषों द्वारा नहीं, स्तब्ध—अनम्र, क्योंकि धनमानमदान्वित—धनके कारण हुआ जो मान—अपनेमें पूज्यत्वकी विशेषताका अध्यास उससे उत्पन्न हुआ जो मद—दूसरे गुरु आदिमें भी अपूज्यत्वका अभिमान उन दोनोंसे अन्वित (व्याप्त) वे लोग नाम यज्ञोंद्वारा—नाममात्रके यज्ञोंद्वारा, तात्त्विक यज्ञोंसे नहीं, अथवा 'ये दीक्षित हैं ये सोमयाजी हैं' इस प्रकार केवल नाममात्रका सम्पादन करनेवाले यज्ञोंसे अविधिपूर्वक अर्थात् शास्त्रोक्त अंग और इतिकर्त्तव्यताशून्य यज्ञोंद्वारा दम्भसे—धर्मध्वजितापूर्वक, श्रद्धापूर्वक नहीं, यजन करते हैं, इसलिये वे उनके फलके भागी भी नहीं होते—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १७ ॥

(१) यच्चये दास्यामीत्यादिसंकल्पेन दम्भाहंकारादिप्रधानेन प्रवृत्तानामासुराणां बहिरङ्गसाधनमपि यागदानादिकं कर्म न सिध्यति, अन्तरङ्गसाधनं तु ज्ञानवैराग्यभगवद्भजनादि तेषां दूरापास्तमेवेत्याह—

अहंकारं बलं दर्पं कामं कोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

(२) अहमभिमानरूपो योऽहंकारः स सर्वसाधारणः । एतैस्त्वारोपितैर्गुणैरात्मनो महत्त्वाभिमानमहंकारं तथा बलं परपरिभवनिमित्तं शरीरगतसामर्थ्यविशेषं दर्पं परावधीरणारूपं गुरुनृपाद्यतिक्रमकारणं चित्तदोषविशेषं काममिष्टविषयाभिलाषं क्रोधमनिष्टविषयद्वेषं, चकारात्परगुणासहिष्णुत्वरूपं मात्सर्यम् । एवमन्यांश्च महतो दोषान्संश्रिताः ।

(३) एतादृशा अपि पतितास्तव भक्त्या पूताः सन्तो नरके न पतिष्यन्तीति चेन्नेत्याह—मामीश्वरं भगवन्तमात्मपरदेहेषु आत्मनां तेषामासुराणां परेषां च तत्पुत्रभार्यादीनां देहेषु प्रेमास्पदेषु तत्तद्बुद्धिकर्मसाक्षितया सन्तमतिप्रेमास्पदमपि दुर्दैवपरिपाकात्प्रद्विषन्त ईश्वरस्य मम शासनं श्रुतिस्मृतिरूपं तदुक्तार्थानुष्ठानपराङ्मुखतया तदतिवर्तनं मे प्रद्वेषस्तं कुर्वन्तः। नृपाद्याज्ञालङ्घनमेव हि तत्प्रद्वेष इति प्रसिद्धं लोके ।

---

(१) अब यह कहते हैं कि 'मैं यज्ञ करूँगा, धन दूँगा' इत्यादि दम्भ और अहंकारादिकी प्रधानतावाले संकल्पसे प्रवृत्त हुए आसुरी सम्पद्वाले पुरुषोंका तो यज्ञदानादि कर्मरूप बहिरंग साधन भी सिद्ध नहीं होता, उनके लिये अन्तरंग साधन ज्ञान वैराग्य और भगवद्भजनादि तो दूर ही रह जाता है—

[श्लोकार्थः—वे अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोधका ही आश्रय लिये रहते हैं, अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझसे अत्यन्त द्वेष करते हैं तथा वैदिक मार्गमें स्थित अपने गुरु आदिके गुणोंमें दोषोंका आरोप करते हैं ॥ १८ ॥]

(२) 'अहम्' (मैं) ऐसा अभिमानरूप जो अहंकार है वह तो सभीमें समान रूपसे रहता है । इन आरोपित गुणोंके कारण जो अपनी महत्ताका अभिमान है उस अहंकारको, बल—दूसरोंके पराभवके हेतुभूत देहगत सामर्थ्यविशेषको, दर्प—दूसरोंके तिरस्काररूप तथा गुरु और राजा आदिके भी अतिक्रमके हेतुभूत चित्तके दोषविशेषको-काम—इष्ट विषयकी अभिलाषाको और क्रोध—अनिष्टविषयक विद्वेषको तथा 'च' शब्दसे दूसरोंके गुणोंको सहन न करनारूप मात्सर्यको इसी प्रकार और भी बड़े-बड़े दोषोंको वे आश्रित किये रहते हैं ।

(३) 'ऐसे पतित होनेपर भी आपकी भक्तिसे पवित्र होकर वे नरकमें नहीं गिरेंगे' ऐसा यदि अर्जुन कहे तो कहते हैं—अपने और दूसरोंके देहोंमें—अपने अर्थात् उन आसुरी सम्पद्वालोंके और दूसरोंके—उनके पुत्र और पत्नी आदिके प्रेमके आश्रयभूत देहोंमें उन-उनके बुद्धि और कर्मोंके साक्षीरूपसे विद्यमान परम प्रेमास्पदरूप मुझ ईश्वरसे—भगवान्‌से वे अत्यन्त द्वेष करते हैं । मैं जो ईश्वर हूँ उसका श्रुति-स्मृतिरूप शासन है, उसमें कहे हुए अर्थके अनुष्ठानसे विमुख होकर उनका अतिक्रमण करना ही मुझसे द्वेष करना है, उसे वे कहते हैं, क्योंकि लोकमें यह प्रसिद्ध ही है कि राजा आदिकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना ही उससे द्वेष करना है ।

(१) ननु गुर्वादयः कथं तान्नानुशासति तत्राऽऽह—अभ्यसूयका गुर्वादीनां वैदिकमार्गस्थानां कारुण्यादिगुणेषु प्रतारणादिदोषारोपकाः । अतस्ते सर्वसाधनशून्या नरक एव पतन्तीत्यर्थः ।

(२) मामात्मपरदेहेष्वित्यस्यापरा व्याख्या—स्वदेहेषु परदेहेषु च चिदंशेन स्थितं मां प्रद्विषन्तो यजन्ते दम्भमयेषु श्रद्धाया अभावादीक्षादिनाऽऽत्मनो वृथैव पीडा भवति। तथा पश्वादीनामप्यविधिना हिंसया चैतन्यद्रोहमात्रमवशिष्यत इति ।

(३) अपरा व्याख्या—आत्मदेहे जीवानाविष्टे भगवल्लीलाविग्रहे वासुदेवादिसमाख्ये मनुष्यत्वादिभ्रमान्मां प्रद्विषन्तः । तथा परदेहेषु भक्तदेहेषु प्रह्लादादिसमाख्येषु सर्वदाऽऽविर्भूतं मां प्रद्विषन्त इति योजना । उक्तं हि नवमे—

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् । परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः । राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥' इति ।
'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः' इति चान्यत्र । तथा च भजनीये द्वेषान्न भक्त्या पूतता तेषां संभवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

(४) तेषां त्वत्कृपया कदाचिन्निस्तारः स्यादिति नेत्याह—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।

(१) 'तो गुरु आदि उसका अनुशासन क्यों नहीं करते ?' इसपर कहते हैं—'वे अभ्यसूयक होते हैं'—वैदिक मार्गमें स्थित गुरु आदिके करुणा आदि गुणोंमें प्रतारणा (ढ़ोंग) आदि दोषोंका आरोप करनेवाले होते हैं । अतः तात्पर्य यह है कि वे सम्पूर्ण साधनोंसे शून्य होकर नरकमें ही गिरते हैं ।

(२) 'मामात्मपरदेहेषु' इसकी दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—अपने देहमें और दूसरोंके देहोंमें चेतनांशरूपसे स्थित मुझसे द्वेष करते हुए वे यजन करते हैं । जो यज्ञ दम्भपूर्वक किये जाते हैं उनमें श्रद्धाका अभाव रहनेसे दीक्षादिके द्वारा आत्माको वृथा ही कष्ट होता है । तथा विना विधिके पशु आदिकी हिंसा करनेसे भी चैतन्यसे द्रोहमात्र करना ही शेष रह जाता है ।

(३) इसकी एक और व्याख्या इस प्रकार है—आत्मदेहमें अर्थात् जीवके आवेशसे रहित भगवान्‌के वासुदेवादि नामोंवाले लीला विग्रहमें मनुष्यत्वादिके भ्रमके कारण मुझसे द्वेष करते हैं तथा परदेहोंमें अर्थात् प्रह्लादादि नामोंवाले भक्तोंके शरीरमें सर्वदा आविर्भूत हुए मुझसे द्वेष करते हैं—ऐसी इसकी योजना करनी चाहिये । नवम अध्यायमें कहा भी है—'मेरे परम भावको न जाननेवाले अविवेकी पुरुष मानुषी शरीरको धारण करनेवाला सम्पूर्ण भूतोंका महेश्वर जो मैं हूँ उसका अनादर करते हैं । वे लोग व्यर्थ आशावाले, निष्फल कर्मोंवाले, दूषित ज्ञानवाले, विवेक और विज्ञानसे रहित तथा मोहमें डालनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृतिका आश्रय लिये होते हैं ।' 'बुद्धि हीन लोग अव्यक्तरूप मुझको व्यक्तत्वको प्राप्त हुआ समझते हैं' ऐसा एक दूसरी जगह (७।२४) भी कहा है । इस प्रकार तात्पर्य यह है कि भजनीय भगवान्‌में ही द्वेष रहनेके कारण भक्तिद्वारा उनकी पवित्रता होनी सम्भव नहीं है ॥ १८ ॥

(४) 'कदाचित् आपकी कृपासे ही उनका निस्तार हो जायगा' इसपर भी कहते हैं—नहीं,

[श्लोकार्थः—मेरेसे और साधुजनोंसे द्वेष करनेवाले उन क्रूर एवं निरन्तर अशुभ

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

(१) तान्सन्मार्गप्रतिपक्षभूतान्द्विषतः साधून्मा च क्रूरान्हिंसापरानतो नराधमानतिनिन्दितानजस्रं संततमशुभानशुभकर्मकारिणोऽहं सर्वकर्मफलदातेश्वरः संसारेष्वेव नरकसंसरणमार्गेषु क्षिपामि पातयामि । नरकगताश्चाऽऽसुरीष्वेवातिक्रूरासु व्याघ्रसर्पादियोनिषु तत्तत्कर्मवासनानुसारेण क्षिपामीत्यनुषज्यते । एतादृशेषु द्वेहिषु नास्ति ममेश्वरस्य कृपेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'अथ [य इह] कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा' इति । कपूयचरणाः कुत्सितकर्माणोऽभ्याशो ह शीघ्रमेव कपूयां कुत्सितां योनिमापद्यन्त इति श्रुतेरर्थः । अत एव पूर्वपूर्वकर्मानुसारित्वान्नेश्वरस्य वैषम्यं नैर्घृण्यं वा । तथा च पारमर्षं सूत्रं 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति' इति । एवं च पापकर्माण्येव तेषां कारयति भगवांस्तेषु तद्बीजसत्त्वात् । कारुणिकत्वेऽपि तानि न नाशयति तन्नाशकपुण्योपचयाभावात्पुण्योपचयं न कारयति तेषामयोग्यत्वात् । न हीश्वरः पाषाणेषु यवाङ्कुरान्करोति । ईश्वरत्वादयोग्यस्यापि योग्यतां संपादयितुं शक्नोतीति चेत्, शक्नोत्येव सत्यसंकल्पत्वात् यदि संकल्पयेत् । न तु संकल्पयति आज्ञालङ्घिषु स्वभक्तद्रोहिषु दुरात्मस्वप्रसन्नत्वात् । अत एव श्रूयते 'एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते, एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इति । येषु प्रसादकारणमस्त्याज्ञापालनादि तेषु प्रसीदति । येषु तु तद्वैपरीत्यं तेषु न प्रसीदति सति कारणे कार्यं कारणाभावे कार्याभाव इति किमत्र वैषम्यम् । 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इति न्यायाच्च । अन्ततो गत्वा किंचिद्वैषम्यापादने महामायत्वाददोषः ॥ १९ ॥

कर्म करनेवाले अधम पुरुषोंको मैं [नरकके मार्गरूप] संसारमें फेंकता हूँ और [नरकमें जानेपर] उन्हें आसुरी योनियोंमें ही पटकता हूँ ॥ १९ ॥]

(१) सन्मार्गके विघ्नरूप, साधुओंसे और मुझसे द्वेष करनेवाले, तथा अजस्र—निरन्तर अशुभ-अशुभ कर्म करनेवाले उन क्रूर—हिंसापरायण, अतः नराधमोंको—अत्यन्त निन्दित पुरुषोंको मैं समस्त कर्मफलोंका देनेवाला ईश्वर संसारोंमें अर्थात् नरक जानेवाले मार्गोंमें ही फेंकता यानी गिराता हूँ । तथा नरकमें गये हुए उन लोगोंको उनकी कर्मवासनाओंके अनुसार आसुरी अर्थात् अत्यन्त क्रूर व्याघ्र एवं सर्पादि योनियोंमें डालता हूँ—ऐसा इसका सम्बन्ध है । मैं जो ईश्वर हूँ उसकी ऐसे द्रोहियोंपर कृपा नहीं होती—ऐसा इसका तात्पर्य है । ऐसा ही यह श्रुति भी कहती है—'अथ कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा'[1] इत्यादि । 'कपूयचरणा'—कुत्सित कर्म करनेवाले 'अभ्याशो ह'—शीघ्र ही 'कपूयाम्'-कुत्सित योनिमें जाते हैं—ऐसा इस श्रुतिका अर्थ है । अतः पूर्व पूर्व कर्मोंका अनुसरण करनेवाला होनेसे ईश्वरमें विषमता अथवा क्रूरताका दोष नहीं होता । ऐसा ही महर्षि व्यासका सूत्र भी है—'ईश्वरमें विषमता और निर्दयताके दोष नहीं हैं, क्योंकि सृष्टिकी रचनामें वह जीवोंके धर्माधर्मकी अपेक्षा रखता है, ऐसा ही 'पुण्योवै पुण्येनकर्मणा' इत्यादि श्रुति भी दिखाती है ।' इस प्रकार उनमें पापका बीज रहनेके कारण भगवान् उनसे पापकर्म ही कराता है, कारुणिक होनेपर भी पापका नाश करनेवाले पुण्यका सञ्चय न होनेके कारण वह पापोंका नाश नहीं करता, तथा योग्यता न होनेके कारण पुण्यका सञ्चय भी नहीं कराता । ईश्वर पत्थरोंमें जौके अंकुर उत्पन्न नहीं करता । यदि कहो कि 'ईश्वर होनेके कारण वह अयोग्यमें भी तो योग्यता पैदा कर सकता है' तो इसका समाधान यह है कि सत्यसंकल्प होनेके कारण वह कर तो सकता है, किन्तु तभी जबकि वह संकल्प करे । परन्तु संकल्प वह करता नहीं है, क्योंकि आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले और अपने भक्तोंके द्रोही उन दुरात्माओंपर वह अप्रसन्न रहता है । इसीसे श्रुति कहती है—'जिसे यह ऊपर ले जाना चाहता है उससे यही शुभ कर्म कराता है और जिसे यह नीचेकी ओर ले जाना चाहता है उससे यही अशुभ कर्म कराता है ।' जिन पुरुषोंमें आज्ञापालनादि भगवान्‌की प्रसन्नताका कारण रहता है उन्हींपर वह प्रसन्न होता है, किन्तु जिनमें इससे विपरीतता रहती है उनसे प्रसन्न नहीं होता । कारण होनेपर ही कार्य होता है, कारण न रहनेपर कार्य भी नहीं होता, अतः इसमें विषमता कहाँ है ? 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इस इस न्यायसे अन्ततोगत्वा यदि उसमें कुछ विषमताका ही आरोपण किया जाय तो वह महामायाके कारण होनेसे दोष नहीं है ॥ १९ ॥

1. जो दूषित आचरणवाले होते हैं वे शीघ्र ही कुत्सित योनियोंमें अर्थात् कुत्तेकी योनिमें, शूकरकी योनिमें अथवा चाण्डालकी योनिमें जाते हैं ।

(१) ननु तेषामपि क्रमेण बहूनां जन्मनामन्ते श्रेयो भविष्यति नेत्याह—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैवकौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

(२) ये कदाचिदासुरीं योनिमापन्नास्ते जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्म मूढास्तमोबहुलत्वेनाविवेकिनस्ततस्तस्मादपि यान्त्यधमां गतिं निकृष्टतमां गतिम् । मामप्राप्येति न मत्प्राप्तौ काचिदाशङ्काऽप्यस्ति, अतो मदुपदिष्टं वेदमार्गमप्राप्येत्यर्थः । एवकारस्तिर्यक्स्थावरादिषु वेदमार्गप्राप्तिस्वरूपायोग्यतां दर्शयति । तेनात्यन्ततमोबहुलत्वेन वेदमार्गप्राप्तिस्वरूपायोग्या भूत्वा पूर्वपूर्वनिकृष्टयोनितो निकृष्टतमामधमां योनिमुत्तरोत्तरं गच्छन्तीत्यर्थः । हे कौन्तेयेति निजसंबन्धकथनेन त्वमितो निस्तीर्ण इति सूचयति । यस्मादेकदाऽऽसुरीं योनिमापन्नानामुत्तरोत्तरं निकृष्टतरनिकृष्टतमयोनिलाभो न तु

किया जाय तो वह महामायाके कारण होनेसे दोष नहीं है ॥ १९ ॥

(१) किन्तु क्रमशः अनेकों जन्मोंके पश्चात् उनका भी कल्याण हो ही जायगा—ऐसा यदि कहो तो कहते हैं—नहीं,

[श्लोकार्थ :—हे कुन्तिनन्दन ! वे मूर्ख जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको ही प्राप्त होते हुए मुझे न पाकर फिर अधम गतिमें ही पड़े रहते हैं ॥ २० ॥]

(२) जो किसी समय आसुरी योनिको प्राप्त हो गये हैं वे जन्म-जन्ममें मूढ—तमःप्रधान होनेके कारण विवेकशून्य रहकर उससे भी अधम—निकृष्टतम गतिको प्राप्त होते हैं । 'मामप्राप्य' इसका यह तात्पर्य है कि मेरी प्राप्तिकी तो कोई सम्भावना ही नहीं है अतः यह समझना चाहिये कि मेरे उपदेश किये हुए वेदमार्गको न पाकर ही । यहाँ 'एव' शब्द तिर्यक् एवं स्थावरादि योनियोंमें वेदमार्गप्राप्तिकी स्वरूपतः अयोग्यता प्रदर्शित करता है । अतः अत्यन्त तमःप्रधान होनेसे वे वेदमार्गकी अप्राप्तिरूप अयोग्यतासे युक्त होकर उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व निकृष्ट योनिसे निकृष्टतम—अधमाधम योनिको प्राप्त होते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है, 'हे कौन्तेय !' इस प्रकार अपना सम्बन्ध बताकर यह सूचित करते हैं कि तुम इस चक्रसे पार हो गये हो, क्योंकि जो एक बार आसुरी योनिमें पड़ जाते हैं उन्हें उत्तरोत्तर निकृष्टतर और निकृष्टतम योनियाँ मिलती रहती हैं; अत्यन्त

1. कर्मफल परमात्मासे ही प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसी श्रुति भी है ।

तत्प्रतीकारसामर्थ्यमत्यन्ततमोबहुलत्वात्, तस्माद्यावन्मनुष्यदेहलाभोऽस्ति तावन्महताऽपि प्रयत्नेनाऽऽसुर्याः संपदः परमकष्टतमायाः परिहाराय त्वरयैव यथाशक्ति दैवी संपदनुष्ठेया श्रेयोर्थिभिरन्यथा तिर्यगादिदेहप्राप्तौ साधनानुष्ठानायोग्यत्वान्न कदाऽपि निस्तारोऽस्तीति महत्संकटमापद्येतेति समुदायार्थः। तदुक्तम्—

'इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति॥' इति॥ २०॥

(१) नन्वासुरी संपदनन्तभेदवती कथं पुरुषायुषेणापि परिहर्तुं शक्यैतेत्याशङ्क्य तां संक्षिप्याऽऽह—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

(२) इदं त्रिविधं त्रिप्रकारं नरकस्य प्राप्तौ द्वारं साधनं सर्वस्या आसुर्याः संपदो मूलभूतमात्मनो नाशनं सर्वपुरुषार्थायोग्यतासंपादनेनात्यन्ताधमयोनिप्रापकम्। किं तदित्यत आह—कामः क्रोधस्तथा लोभ इति। प्राग्व्याख्यातम्। यस्मादेतत्त्रयमेव सर्वानर्थमूलं तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्। एतत्त्रयत्यागेनैव सर्वाऽप्यासुरी संपत्त्यक्ता भवति। एतत्त्रयत्यागश्चोत्पन्नस्य विवेकेन कार्यप्रतिबन्धः। ततः परं चानुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम्॥ २१॥

तमःप्रधान होनेके कारण उनमें उनके प्रतीकारका सामर्थ्य नहीं रहता। अतः जबतक मनुष्यदेह मिला हुआ है तभी तक कल्याणकामियोंको महान् प्रयत्नसे भी अत्यन्त कष्टमयी आसुरी सम्पद्के त्यागके लिये बड़ी तेजीसे यथाशक्ति दैवीसम्पद्का आचरण करना चाहिये; नहीं तो तिर्यगादि देह प्राप्त होनेपर साधनोंके अनुष्ठानकी योग्यता न रहनेसे कभी निस्तार नहीं होगा और महान् संकट आ पड़ेगा—यह इसका मिलाकर किया हुआ अर्थ है। ऐसा कहा भी है—'जो पुरुष यहीं पर नरकरूप रोगकी चिकित्सा नहीं करता वह रोग सहित औषधहीन स्थानमें जाकर क्या कर लेगा?'॥ २०॥

(१) 'किन्तु आसुरी सम्पद् तो अनन्त भेदोंवाली है उसे एक पुरुषकी आयुमें भी कैसे त्यागा जा सकता है?' ऐसी आशंका करके उसे संक्षेपमें कहते हैं—

[श्लोकार्धः—काम क्रोध और लोभ—यह तीन प्रकारका नरकका द्वार अपना नाश करनेवाला है, इसलिये इन तीनोंको त्याग देना चाहिये॥ २१॥]

(२) यह तीन प्रकारका नरकप्राप्तिका द्वार—साधन सारी आसुरी सम्पद्का मूलभूत और आत्माका नाश करनेवाला अर्थात् सब प्रकारके पुरुषार्थकी अयोग्यताके सम्पादनद्वारा अत्यन्त अधम योनिकी प्राप्ति करानेवाला है। वह क्या है? सो बताते हैं—काम क्रोध और लोभ जिसकी पहले व्याख्या की जा चुकी है। क्योंकि ये तीन ही सारे अनर्थकी जड़ हैं इसलिये इन तीनोंका ही त्याग करना चाहिये। इन तीनोंके त्यागसे ही सारी आसुरी सम्पद्का त्याग हो जायगा। उत्पन्न हुए काम क्रोध और लोभके कार्यको विवेकद्वारा रोक देना—यह इन तीनोंका त्याग है, इसके बाद इनकी उत्पत्ति ही नहीं होगी—ऐसा समझना चाहिये॥ २१॥

(१) एतत्त्रयं त्यजतः किं स्यादिति तत्राऽऽह—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

(२) एतैः कामक्रोधलोभैस्त्रिभिस्तमोद्वारैर्नरकसाधनैर्विमुक्तो विरहितः पुरुष आचरत्यात्मनः श्रेयो यद्धितं वेदबोधितं हे कौन्तेय, पूर्वं हि कामादिप्रतिबद्धः श्रेयो नाऽऽचरति येन पुरुषार्थः सिध्येत्। अश्रेयश्चाऽऽचरति येन निरपयातः स्यात्। अधुना तत्प्रतिबन्धरहितः सन्नश्रेयो नाऽऽचरति श्रेयश्चाऽऽचरति तत ऐहिकं सुखमनुभूय सम्यग्धीद्वारा याति परां गतिं मोक्षम्॥ २२॥

(३) यस्मादश्रेयोनाचरणस्य श्रेयआचरणस्य च शास्त्रमेव निमित्तं तयोः शास्त्रैकगम्यत्वात्तस्मात्—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

(४) शिष्यतेऽनुशिष्यतेऽपूर्वोऽर्थो बोध्यतेऽनेनेति शास्त्रं वेदस्तदुपजीविस्मृतिपुराणादि च, तत्संबन्धी विधिर्लिङादिशब्दः कुर्यान्न कुर्यादित्येवंप्रवर्तनानिवर्तनात्मकः कर्तव्याकर्तव्यज्ञानहेतुर्विधि-

---

(१) 'इन तीनोंका त्याग करनेवालेको क्या होगा?' इस पर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे कुन्तिनन्दन! नरकके द्वारभूत इन तीनोंसे मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है और उसके द्वारा परमगतिको प्राप्त होता है॥२२॥]

(२) हे कौन्तेय! इन काम क्रोध और लोभ नरकके तीन द्वारों अर्थात् नरकके तीन साधनोंसे मुक्त—रहित हुआ पुरुष अपने श्रेयका अर्थात् जो वेदका बताया हुआ उसके हितका साधन है उसका आचरण करता है। इससे पहले तो कामादिसे जकड़ा रहनेके कारण वह श्रेयका आचरण नहीं करता, जिससे कि उसका पुरुषार्थ सिद्ध हो, अश्रेयका ही आचरण करता है जिससे कि नरकमें गिरना पड़े। अब उस प्रतिबन्धसे रहित होकर वह अश्रेयका आचरण नहीं करता, श्रेयका ही आचरण करता है और उससे लौकिक सुखका अनुभव कर सम्यग्ज्ञानद्वारा परागति—मोक्षको प्राप्त हो जाता है॥ २२॥

(३) क्योंकि अश्रेयका आचरण न करनेका और श्रेयका आचरण करनेका शास्त्र ही निमित्त है, कारण कि शास्त्रसे ही उनका ज्ञान हो सकता है, इसलिये—

[श्लोकार्थ—जो पुरुष शास्त्रविधिको छोड़कर स्वेच्छानुसार आचरण करता है वह न तो सिद्धि प्राप्त करता है और न सुख एवं उत्तम गति ही पाता है॥ २३॥]

(४) शिष्यते—अनुशासन किया जाता है अर्थात् अपूर्व अर्थका बोध कराया जाता है इसके द्वारा इसलिये वेद, उसका आश्रय करनेवाले स्मृति एवं पुराणादि तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली विधि अर्थात् 'करे' 'न करे' इस प्रकार प्रवृत्त और निवृत्त करनेवाले तथा कर्तव्य और अकर्तव्यज्ञानके हेतुभूत विधि-निषेध-संज्ञक लिङ्शास्त्र हैं। उस शास्त्रविधिको—'विधि और निषेधसे अतिरिक्त ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाला भी

निषेधाख्यस्तं शास्त्रविधिं, विधिनिषेधातिरिक्तमपि ब्रह्मप्रतिपादकं शास्त्रमस्तीति सूचयितुं विधिशब्दः। उत्सृज्याश्रद्धया परित्यज्य कामकारतः स्वेच्छामात्रेण वर्तते विहितमपि नाऽऽचरति निषिद्धमप्याचरति यः स सिद्धिं पुरुषार्थप्राप्तियोग्यतामन्तःकरणशुद्धिं कर्माणि कुर्वन्नपि नाऽऽप्नोति, न सुखमैहिकं, नापि परां प्रकृष्टां गतिं स्वर्गं मोक्षं वा ॥ २३ ॥

(१) यस्मादेवम्—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

(२) यस्माच्छास्त्रविमुखतया कामाधीनप्रवृत्तिरैहिकपारत्रिकसर्वपुरुषार्थायोग्यस्तस्मात्ते तव श्रेयोर्थिनः कार्याकार्यव्यवस्थितौ किं कार्यं किमकार्यमिति विषये शास्त्रं वेदतदुपजीविस्मृतिपुराणादिकमेव प्रमाणं बोधकं नान्यस्स्वोत्प्रेक्षाबुद्धवाक्यादीत्यभिप्रायः। एवं चेह कर्माधिकारभूमौ शास्त्रविधानेन कुर्याच्च कुर्यादित्येवंप्रवर्तनानिवर्तनारूपेण वैदिकलिङ्गादिपदेनोक्तं कर्म विहितं प्रतिषिद्धं च ज्ञात्वा निषिद्धं वर्जयन्विहितं क्षत्रियस्य युद्धादिकर्म त्वं कर्तुमर्हसि सत्त्वशुद्धिपर्यन्तमित्यर्थः। तदेवमस्मिन्नध्याये सर्वस्या आसुर्याः संपदो मूलभूतान्सर्वाश्रेयःप्रापकान्सर्वश्रेयःप्रतिबन्धकान्महादोषान्काम-

---

शास्त्र है' यह सूचित करनेके लिये यहाँ 'विधि' शब्द दिया है—छोड़कर—अश्रद्धासे त्यागकर जो कामकारतः—स्वेच्छामात्रसे बर्तता है अर्थात् विहितका भी आचरण नहीं करता और निषिद्धका भी आचरण करता है वह कर्म करने पर भी संसिद्धि अर्थात् पुरुषार्थ-प्राप्ति-योग्य अन्तःकरणकी शुद्धिको प्राप्त नहीं करता। उसे न तो ऐहिक सुख मिलता है और न यश—प्रकृष्ट गति अर्थात् स्वर्ग या मोक्ष ही मिलता है ॥ २३ ॥

(१) क्योंकि ऐसा है—

[श्लोकार्थः—इसलिये कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य कर्मकी व्यवस्था करनेमें तुम्हारे लिये शास्त्र ही प्रमाण है, सो तुम्हें शास्त्रविधि द्वारा बताये हुए कर्मको जानकर ही इस लोकमें आचरण करना चाहिये ॥ २४ ॥]

(२) क्योंकि शास्त्रविमुख होनेसे कामनाके अधीन होनेवाली प्रवृत्ति इस लोक और परलोकके सभी पुरुषार्थोंके अयोग्य है इसलिये कल्याणकी इच्छावाले तुम्हारे लिये कार्य और अकार्यकी व्यवस्थामें—'क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये' इस विषयमें शास्त्र—वेद और उसके आश्रित स्मृति-पुराणादिक ही बोधक प्रमाण हैं, अपनी कल्पनासे जाने हुए वाक्यादि नहीं—ऐसा इसका अभिप्राय है। इस प्रकार यहाँ कर्माधिकारकी भूमिमें शास्त्रविधानके द्वारा 'यह करे, यह न करे' इस प्रकार प्रवर्तन और निवर्तनरूपसे वैदिक लिङ्गादि पदसे कहे हुए विहित और प्रतिषिद्ध कर्मको जानकर तुम्हे चित्तकी शुद्धि होनेतक निषिद्धको छोड़कर क्षत्रियके लिये विहित युद्धादि कर्म करना चाहिये—

क्रोधलोभानपहाय श्रेयोर्थिना श्रद्धानतया शास्त्रप्रवणेन तदुपदिष्टार्थानुष्ठानपरेण भवितव्यमिति संपद्द्वयविभागप्रदर्शनमुखेन निर्धारितम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

ऐसा इसका तात्पर्य है। इस प्रकार इस अध्यायमें दोनों सम्पदोंका विभाग दिखाकर यह निश्चय किया है कि सम्पूर्ण आसुरी सम्पद्के मूलभूत सब प्रकारके अकल्याणकी प्राप्ति करानेवाले सम्पूर्ण श्रेयके प्रतिबन्धक काम क्रोध और लोभरूप महान् दोषोंको त्यागकर कल्याणकामीको श्रद्धापूर्वक शास्त्रावलम्बी होकर उसीके उपदेश किये हुए अर्थका अनुष्ठान करनेमें तत्पर होना चाहिये ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका टीकाके हिन्दीभाषान्तरका दैवासुरसम्पद्विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

(१) त्रिविधाः कर्मानुष्ठातारो भवन्ति । केचिच्छास्त्रविधिं ज्ञात्वाऽप्यश्रद्धया तमुत्सृज्य कामकारमात्रेण यत्किंचिदनुतिष्ठन्ति ते सर्वपुरुषार्थायोग्यत्वादसुराः । केचित्तु शास्त्रविधिं ज्ञात्वा श्रद्दधानतया तदनुसारेणैव निषिद्धं वर्जयन्तो विहितमनुतिष्ठन्ति ते सर्वपुरुषार्थयोग्यत्वाद्देवा इति पूर्वाध्यायान्ते सिद्धम् । ये तु शास्त्रीयं विधिमालस्यादिवशादुपेक्ष्य श्रद्दधानतयैव वृद्धव्यवहारमात्रेण निषिद्धं वर्जयन्तो विहितमनुतिष्ठन्ति । ते शास्त्रीयविध्युपेक्षालक्षणेनासुरसाधर्म्येण श्रद्धापूर्वकानुष्ठानलक्षणेन च देवसाधर्म्येणान्विताः किमसुरेष्वन्तर्भवन्ति किं वा देवेष्विस्थुभयधर्मदर्शनादेककोटिनिश्चायकादर्शनाच्च संदिहानः—

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

(२) ये पूर्वाध्याये त निर्णीता न देववच्छास्त्रानुसारिणः किंतु शास्त्रविधिं श्रुतिस्मृतिचोदनामुत्सृज्याऽऽलस्यादिवशादनादृत्य नासुरवदश्रद्दधानाः किं तु वृद्धव्यवहारानुसारेण श्रद्धयाऽन्विता यजन्ते देवपूजादिकं कुर्वन्ति तेषां तु शास्त्रविध्युपेक्षाश्रद्धाभ्यां पूर्वनिश्चितदेवासुरविलक्षणानां निष्ठा का कीदृशी तेषां शास्त्रविध्यनपेक्षा श्रद्धापूर्विका च सा यजनादिक्रियाव्यवस्थितिर्हे कृष्ण भक्ताघकर्षण, किं सत्त्वं

[श्रद्धात्रयविभागयोग]

(१) कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले तीन प्रकारके होते हैं, कोई तो शास्त्रविधिको जानकर भी अश्रद्धासे उसे त्यागकर मनमाने ढंगसे चाहे जैसा आचरण करते रहते हैं, वे सब प्रकारके पुरुषार्थके अयोग्य होनेके कारण असुर हैं । और कोई शास्त्रविधिको जानकर उसमें श्रद्धा रखनेके कारण उसके अनुसार ही निषिद्धका त्याग करते हुए विहितका अनुष्ठान करते हैं, वे सब प्रकारके पुरुषार्थके योग्य होनेके कारण देव हैं--यह पिछले अध्यायके अन्तमें सिद्ध हो चुका है । किन्तु जो लोग आलस्यादिके कारण शास्त्रीय विधिकी उपेक्षा कर श्रद्धा रखनेके कारण ही वृद्धोंके व्यवहारमात्रसे निषिद्धका त्याग करते हुए विहितका अनुष्ठान करते हैं । वे शास्त्रीय विधिकी उपेक्षारूप आसुर धर्मकी समानतासे और श्रद्धापूर्वक अनुष्ठानरूप देवधर्मकी समानतासे युक्त होनेके कारण असुरोंके अन्तर्गत होते हैं अथवा देवताओंके—इस प्रकार उनमें दोनों प्रकारके धर्म देखे जानेसे और एक कोटि का निश्चय करानेवाला दिखायी न देनेसे सन्देह करते हुए—

[श्लोकार्थ :—अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण ! जो लोग शास्त्रविधिको छोड़कर श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं उनकी निष्ठा कौन-सी होती है ? सात्त्विकी राजसी या तामसी ? ॥ १ ॥]

(१) [अर्जुनने कहा—] पिछले अध्यायमें जिनके विषयमें कोई निर्णय नहीं किया वे दोनों कोटियोंसे विलक्षण पुरुष दैवी प्रकृतिके पुरुषोंके समान शास्त्रका अनुसरण करनेवाले तो होते नहीं हैं, बल्कि शास्त्रकी विधि अर्थात् श्रुति और स्मृतिकी आज्ञाको छोड़कर—आलस्यादिके कारण उसका अनादर कर असुरोंके मान अश्रद्धापूर्वक नहीं,

सात्त्विकी । तथा सति सात्त्विकत्वात्ते देवाः । आहो इति पक्षान्तरे । किं रजस्तमो राजसी तामसी च । तथा सति राजसतामसत्वादसुरास्ते सत्त्वमित्येका कोटिः, रजस्तम इत्यपरा कोटिरितिविभागज्ञापनायाऽऽहोशब्दः ॥ १ ॥

(१) ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य श्रद्धया यजन्ते ते श्रद्धाभेदाद्विद्यन्ते । तत्र ये सात्त्विक्या श्रद्धयाऽन्वितास्ते देवाः शास्त्रोक्तसाधनेऽधिक्रियन्ते तत्फलेन च युज्यन्ते । ये तु राजस्या तामस्या च श्रद्धयाऽन्वितास्तेऽसुरा न शास्त्रीयसाधनेऽधिक्रियन्ते न वा तत्फलेन युज्यन्त इति विवेकेनार्जुनस्य संदेहमपनिनीषुः श्रद्धाभेदम्—

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

(२) यया श्रद्धयाऽन्विताः शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते सा देहिनां स्वभावजा, जन्मान्तरकृतो धर्माधर्मादिशुभाशुभसंस्कार इदानींतनजन्मारम्भकः स्वभावः । स त्रिविधः सात्त्विको राजसस्तामसश्चेति । तेन जनिता श्रद्धा त्रिविधा भवति सात्त्विकी राजसी तामसी च, कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य । या त्वारब्धे जन्मनि शास्त्रसंस्कारमात्रजा विदुषां सा कारणैकरूपत्वादेकरूपा सात्त्विक्येव, न राजसी

अपितु बड़े-बूढ़ोंके व्यवहारके अनुसार श्रद्धायुक्त होकर यजन अर्थात् देवपूजनादि करते हैं । पहले जिनके विषयमें निश्चय किया है उन दैवी और आसुरी सम्पद्वालोंसे शास्त्रविधिकी उपेक्षा और श्रद्धाके कारण विलक्षण इन लोगोंकी शास्त्रकी अपेक्षासे रहित और श्रद्धापूर्विका निष्ठा क्या है—किस प्रकारकी है ? इनकी जो यह यजनादिक्रियाकी व्यवस्था है, हे कृष्ण ! —भक्तोंके पापोंको दूर करनेवाले ! क्या सात्त्विकी है ? तब तो सात्त्विक होनेके कारण वे देव ही हैं । 'आहो' पक्षान्तरमें, वह राजसी या तामसी है । ऐसा होनेपर तो राजस तामस होनेके कारण वे असुर ही हैं । इस प्रकार 'सत्त्व' यह एक पक्ष है और 'रज तथा तम' यह दूसरा पक्ष है । इस विभागको जतानेके लिये 'आहो' शब्द है ॥ १ ॥

(१) जो शास्त्रविधिको छोड़कर श्रद्धासे यजन करते हैं श्रद्धाके अनुसार ही उनके भेद होते हैं । उनमें जो सात्त्विकी श्रद्धासे युक्त होते हैं वे देव हैं, उनका शास्त्रोक्त साधनमें अधिकार है और वे उसीके फलसे युक्त होते हैं । और जो राजसी या तामसी श्रद्धासे युक्त होते हैं वे असुर हैं, उनका शास्त्रीय साधनमें अधिकार नहीं है और न वे उसके फलसे ही युक्त होते हैं—इस प्रकार विवेक द्वारा अर्जुनके सन्देहको निवृत्त करनेकी इच्छासे श्रद्धाके भेदोंको—

[श्लोकार्थ :—श्रीभगवान्‌ने कहा—देहधारियोंकी स्वभावसे उत्पन्न हुई वह श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी; सो तुम उसके विषयमें सुनो ॥२॥]

(२) [श्रीभगवान्‌ने कहा—] मनुष्य जिस श्रद्धासे सम्पन्न हो शास्त्रविधिका परित्याग करके यजन करते हैं वह देहधारियोंकी स्वाभाविकी श्रद्धा है । जन्मान्तरमें किये हुए धर्म और अधर्मादिका जो शुभाशुभ संस्कार वर्तमान जन्मका आरम्भ करनेवाला है उसे 'स्वभाव' कहते हैं । वह तीन प्रकारका होता है—सात्त्विक, राजस और तामस । उससे होनेवाली श्रद्धा भी सात्त्विकी राजसी और तामसी तीन प्रकारकी होती है, क्योंकि कार्य कारणके अनुरूप हुआ करता है । जन्मका आरम्भ होनेपर जो विद्वानोंको शास्त्रके

तामसी चेति प्रथमचकारार्थः । शास्त्रनिरपेक्षा तु प्राणिमात्रसाधारणी स्वभावजा । सैव स्वभावत्रैविध्यान्त्रिविधेत्येवकारार्थः । उक्तविधात्रयसमुच्चयार्थश्चरमश्चकारः । यतः प्राग्भवीयवासनाख्यस्वभावस्याभिभावकं शास्त्रीयं विवेकविज्ञानमनाहृतशास्त्राणां देहिनां नास्ति अतस्तेषां स्वभाववशात्त्रिधा भवन्तीं तां श्रद्धां शृणु । श्रुत्वा च देवासुरभावं स्वयमेवावधारयेत्यर्थः ॥ २ ॥

(१) प्राग्भवीयान्तःकरणगतवासनारूपनिमित्तकारणवैचित्र्येण श्रद्धावैचित्र्यमुक्त्वा तदुपादानकारणान्तःकरणवैचित्र्येणापि तद्वैचित्र्यमाह—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

(२) सत्त्वं प्रकाशशीलत्वात्सत्त्वप्रधानत्रिगुणापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतारब्धमन्तःकरणम् । तच्च क्वचिदुद्रिक्तसत्त्वमेव यथा देवानाम् । क्वचिद्रजसाऽभिभूतसत्त्वं यथा यक्षादीनाम् । क्वचित्तमसाऽभिभूतसत्त्वं यथा प्रेतभूतादीनाम् । मनुष्याणां तु प्रायेण व्यामिश्रमेव । तच्च शास्त्रीयविवेकज्ञानेनोद्भूतसत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय क्रियते । शास्त्रीयविवेकविज्ञानशून्यस्य तु सर्वस्य प्राणिजातस्य सत्त्वानुरूपा श्रद्धा सत्त्ववैचित्र्याद्विचित्रा भवति, सत्त्वप्रधानेऽन्तःकरणे सात्त्विकी, रजःप्रधाने तस्मिन्राजसी, तमः-

---

संस्कारमात्रसे उत्पन्न होती है वह कारणकी एकरूपताके कारण एकरूप अर्थात् सात्त्विकी ही होती है, राजसी और तामसी नहीं होती—यह पहले 'च' शब्दका अर्थ है । किन्तु जो शास्त्रकी अपेक्षासे रहित होती है वह प्राणिमात्रमें समान रूपसे रहनेवाली श्रद्धा स्वभावजनित है । वही तीन प्रकारका स्वभाव होनेके कारण तीन प्रकारकी है—यह 'एव' शब्दका अर्थ है । उक्त तीन प्रकारोंका समुच्चय करनेके लिये ही अन्तिम 'च' शब्द है । क्योंकि जो शास्त्रका आदर नहीं करते उन देहधारियोंमें पूर्वजन्मके वासनासंज्ञक स्वभावको दबानेवाला शास्त्रीय विवेक-विज्ञान नहीं होता, इसलिये उनके स्वभावके कारण तीन प्रकारकी हो जानेवाली उस श्रद्धाके विषयमें सुनो । तथा उसे सुनकर स्वयं ही उनके देवभाव और असुरभावके विषयमें निश्चय करो—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ २ ॥

(१) अन्तःकरणमें रहनेवाली पूर्वजन्मकी वासनारूप निमित्त कारणकी विचित्रतासे श्रद्धाकी विचित्रता बताकर उनके उपादानकारण अन्तःकरणकी विचित्रतासे भी उनकी त्रिविधताका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे भारत ! सबकी श्रद्धा उसके अन्तःकरणके अनुरूप होती है । यह कर्माधिकारी पुरुष श्रद्धामय है । अतः जिसकी जो श्रद्धा है वह वही है भी ॥ ३ ॥]

(२) प्रकाशशील होनेके कारण सत्त्वप्रधान तीनों गुणोंवाले अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतोंसे बना हुआ अन्तःकरण 'सत्त्व' कहलाता है । वह कहीं तो सत्त्वगुणकी वृद्धिवाला ही होता है, जैसे देवताओंका; कहीं रजोगुणसे दबे हुए सत्त्वगुणवाला होता है, जैसे यक्षादिका और कहीं तमोगुणसे दबे हुए सत्त्वगुणवाला होता है, जैसे प्रेत-भूतादिका । मनुष्योंका अन्तःकरण तो प्रायः तीनों गुणोंके मेलवाला ही होता है । शास्त्रीय विवेक-विज्ञानसे रजोगुण तमोगुणको दबाकर बढ़े हुए सत्त्वगुणवाला कर दिया जाता है । जो प्राणी शास्त्रीय विवेक-विज्ञानसे शून्य हैं उन सबकी अन्तःकरणके अनुसार रहनेवाली श्रद्धा तो अन्तःकरणकी विचित्रताके कारण तरह-तरहकी होती है । वह सत्त्वगुणप्रधान अन्तःकरणमें सात्त्विकी, रजोगुणप्रधान अन्तःकरणमें राजसी और तमोगुणप्रधान अन्तः-

प्रधाने तु तस्मिंस्तामसीति । हे भारत महाकुलप्रसूत ज्ञाननिरतेति वा शुद्धसात्त्विकत्वं द्योतयति । यत्त्वया पृष्टं तेषां निष्ठा केति तत्रोत्तरं शृणु—अयं शास्त्रीयज्ञानशून्यः कर्माधिकृतः पुरुषस्त्रिगुणान्तःकरणसंपिण्डितः श्रद्धामयः प्राचुर्येणास्मिन्श्रद्धा प्रकृतेति तत्प्रस्तु(कृ)तवचने मयट्, अन्नमयो यज्ञ इतिवत् । अतो यो यच्छ्रद्धो या सात्त्विकी राजसी तामसी वा श्रद्धा यस्य स एव श्रद्धानुरूप एव स सात्त्विको राजसस्तामसो वा । श्रद्धयैव निष्ठा व्याख्यातेत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

(१) श्रद्धा ज्ञाता सती निष्ठां ज्ञापयिष्यति, केनोपायेन सा ज्ञायतामित्यपेक्षिते देवपूजादिकार्यलिङ्गेनानुमेयेत्याह—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

(२) जनाः शास्त्रीयविवेकहीना ये स्वाभाविक्या श्रद्धया देवान्वसुरुद्रादीन्सात्त्विकान्यजन्ते तेऽन्ये सात्त्विका ज्ञेयाः । ये च यक्षान्कुबेरादीन्रक्षांसि च राक्षसान्निर्ऋतिप्रभृतीन्राजसान्यजन्ते तेऽन्ये राजसा ज्ञेयाः । ये च प्रेतान्विप्रादयः स्वधर्माच्च्युता देहपातादूर्ध्वं वायवीयं देहमापन्ना उल्कामुखकटपूतनादिसंज्ञाः प्रेता भवन्तीति मनूक्तान्पिशाचविशेषान्वा, भूतगणांश्च सप्तमातृकादींश्च तामसान्यजन्ते तेऽन्ये तामसा ज्ञेयाः । अन्य इति पदं त्रिष्वपि वैलक्षण्योद्योतनाय संबध्यते ॥ ४ ॥

करणमें तामसी होती है । 'हे भारत !' यह सम्बोधन 'हे महान् कुलमें उत्पन्न हुए !' 'हे ज्ञानमें आसक्त !' इस प्रकार अर्जुनकी शुद्ध सात्त्विकता प्रदर्शित करता है । तुमने जो पूछा कि उनकी क्या निष्ठा होती है, सो उसका उत्तर सुनो । यह शास्त्रीय ज्ञानसे शून्य और कर्मके अधिकारवाला त्रिगुणमय अन्तःकरणसे युक्त पुरुष श्रद्धामय होता है; इसमें श्रद्धा प्रचुरतासे प्रस्तुत—विद्यमान रहती है, अतः 'अन्नमयो यज्ञः' इस वाक्यके समान यहाँ श्रद्धाके साथ प्राचुर्य अर्थमें मयट् प्रत्ययका योग हुआ है । इसलिये जो जिस श्रद्धावाला है, अर्थात् जिसकी सात्त्विकी, राजसी या तामसी जैसी श्रद्धा है वह वही है अर्थात् अपनी श्रद्धाके अनुसार ही वह सात्त्विक राजस या तामस होता है । इस प्रकार श्रद्धासे ही निष्ठाकी व्याख्या की जाती है—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ ३ ॥

(१) श्रद्धाका ज्ञान होनेपर ही वह निष्ठाका भी ज्ञान करावेगी, सो उसे किस उपायसे जाना जाय ?—ऐसी अपेक्षा होनेपर कहते हैं कि देवपूजादि कार्यरूप लिंगसे ही उसका अनुमान किया जा सकता है—

[श्लोकार्थः—अन्य कोई सात्त्विक लोग देवताओंका पूजन करते हैं, दूसरे राजसी प्रकृतिके पुरुष यक्ष और राक्षसोंको पूजते हैं तथा अन्य तामसी लोग प्रेत और भूतोंकी पूजा करते हैं ॥ ४ ॥]

(२) जो कोई शास्त्रीय विवेकसे रहित अन्य पुरुष स्वाभाविकी श्रद्धाके कारण रुद्रादि देवताओंका पूजन करते हैं उन्हें सात्त्विक जानना चाहिये । और जो कुबेरादि यक्ष और निर्ऋति आदि राक्षसोंका यजन करते हैं उन्हें राजस समझना चाहिये । तथा जो प्रेतोंको—'ब्राह्मणादि वर्णोंके पुरुष अपने धर्मसे च्युत होकर देहपातके अनन्तर वायवीय देह धारण कर उल्कामुख कट और पूतनादि नामवाले प्रेत होते हैं' इस प्रकार मनुजीके बताये हुए प्रेतोंको अथवा विशेष प्रकारके पिशाचोंको और भूतगण अर्थात् सप्तमातृकादि तामसी योनियोंको पूजते हैं उन्हें तमोगुणी जानना चाहिये । 'अन्ये' यह पद तीनोंमें विभिन्नता दिखानेके लिये तीनोंहीके साथ सम्बन्ध रखता है ॥ ४ ॥

(१) एवमनादृतशास्त्राणां सत्त्वादिनिष्ठा कार्यतो निर्णीता। तत्र केचिद्राजसतामसा अपि प्राग्भवीयपुण्यपरिपाकात्सात्त्विका भूत्वा शास्त्रीयसाधनेऽधिक्रियन्ते। ये तु दुराग्रहेण दुर्दैवपरिपाकप्राप्तदुर्जनसङ्गादिदोषेण च राजसतामसतां न मुञ्चन्ति ते शास्त्रीयमार्गाद्भ्रष्टा असन्मार्गानुसरणेनेह लोके परत्र च दुःखभागिन एवेत्याह द्वाभ्याम्—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

(२) अशास्त्रविहितं शास्त्रेण वेदेन प्रत्यक्षेणानुमितेन वा न विहितमशास्त्रेण बुद्धाद्यागमेन वोधितं वा घोरं परस्याऽऽत्मनः पीडाकरं तपस्तप्तशिलारोहणादि तप्यन्ते कुर्वन्ति ये जनाः, दम्भो धार्मिकत्वख्यापनमहंकारोऽहमेव श्रेष्ठ इति दुरभिमानस्ताभ्यां सम्यग्युक्ताः, योगस्य सम्यक्त्वमनायासेन वियोगजननासामर्थ्यं कामे काम्यमानविषये यो रागस्तन्निमित्तं बलमत्युग्रदुःखसहनसामर्थ्यं तेनान्विताः, कामो विषयेऽभिलाषः, रागः सदातदभिनिविष्टत्वरूपोऽभिष्वङ्गः, बलमवश्यमिदं साधयिष्यामीत्याग्रहः, तैरन्विता इति वा। अत एव बलवद्दुःखदर्शनेऽप्यनिवर्तमानाः, कर्शयन्तः कृशीकुर्वन्तो वृथोपवासादिना शरीरस्थं भूतग्रामं देहेन्द्रियसंघातकारेण परिणतं पृथिव्यादिभूतसमुदाय-

---

(१) इस प्रकार शास्त्रका अनादर करनेवाले पुरुषोंकी सत्त्वादि निष्ठाका कार्यसे निर्णय किया गया। इनमें कोई राजसी और तामसी प्रकृतिके होनेपर भी अपने पूर्वजन्मके पुण्यका परिपाक होनेसे सात्त्विक होकर शास्त्रीय साधनमें अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु जो दुराग्रहसे अथवा दुर्दैवके परिणामवश प्राप्त हुए दुर्जनसंग आदि दोषके कारण राजसी-तामसी भावको नहीं छोड़ते वे शास्त्रीय मार्गसे पतित होकर असन्मार्गका अनुसरण करनेसे इस लोक और परलोकमें दुःखके ही भागी होते हैं—यह बात दो श्लोकोंसे कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—दम्भ और अहङ्कारसे युक्त, काम राग और बलसे सम्पन्न, अपने शरीरमें रहनेवाले भूतग्राम और अन्तःशरीरमें स्थित मुझको कृश करनेवाले जो अविवेकी पुरुष शास्त्रद्वारा अविहित घोर तप तपते हैं उन्हें तुम आसुरी निश्चयवाले जानो ॥ ५-६ ॥]

(२) जो लोग अशास्त्रविहित—शास्त्र अर्थात् वेदद्वारा प्रत्यक्ष या अनुमानसे विधान न किये हुए, अथवा अशास्त्र यानी बुद्धागमादिके द्वारा बताये हुए घोर—दूसरोंको और अपनेको पीडा पहुँचानेवाले तपी हुई शिलापर चढ़ना आदि तप तपते अर्थात् करते हैं। जो दम्भ—अपनी धार्मिकताको प्रकट करना और अहङ्कार—'मैं ही श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकारका दुरभिमान इनसे सम्यक् प्रकारसे युक्त हैं। युक्त होनेकी सम्यक्ता अनायास वियोग करनेकी असमर्थता ही है। तथा काममें—कामनाके विषयमें जो राग है उसके कारण जो बल—अत्यन्त उग्र दुःख सहन करनेका सामर्थ्य उससे युक्त हैं। अथवा काम—विषयकी अभिलाषा, राग—सर्वदा उसीमें अभिनिवेश रखनारूप आसक्ति तथा बल—'मैं इसे अवश्य सिद्ध कर लूँगा' ऐसा आग्रह इनसे युक्त हैं। इसलिये प्रबल दुःख दिखायी देनेपर भी पीछे न हटनेवाले। तथा शरीरस्थ भूतग्रामको—देह और इन्द्रियोंके संघात-

मचेतसो विवेकशून्याः, मां चान्तःशरीरस्थं भोक्तृरूपेण स्थितं भोग्यस्य शरीरस्य कृशीकरणेन कृशीकुर्वन्त एव, मामन्तर्यामिस्वेन शरीरान्तःस्थितं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिभूतमीश्वरमाज्ञालङ्घनेन कर्शयन्त इति वा। तानैहिकसर्वभोगविमुखान्परत्र चाधमगतिभागिनः सर्वपुरुषार्थभ्रष्टानासुरनिश्चयानासुरो विपर्यासरूपो वेदार्थविरोधी निश्चयो येषां तान्मनुष्यत्वेन प्रतीयमानानप्यसुरकार्यकारित्वादसुरान्विद्धि जानीहि परिहरणाय। निश्चयस्याऽऽसुरत्वात्तत्पूर्विकाणां सर्वासामन्तःकरणवृत्तीनामासुरत्वम्। असुरत्वजातिरहितानां च मनुष्याणां कर्मणैवासुरत्वात्तानसुरान्विद्धीति साक्षान्नोक्तमिति च द्रष्टव्यम् ॥५-६॥

(१) ये सात्त्विकास्ते देवा ये तु राजसास्तामसाश्च ते विपर्यस्तत्ववादसुरा इति स्थिते सात्त्विकानामादानाय राजसतामसानां हानाय चाऽऽहारयज्ञतपोदानानां त्रैविध्यमाह—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

(२) न केवलं श्रद्धैव त्रिविधा, आहारोऽपि सर्वस्य प्रियस्त्रिविध एव भवति सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वेन चतुर्थ्या विधाया असंभवात्। यथा दृष्टार्थ आहारस्त्रिविधस्तथा यज्ञतपोदानान्यदृष्टार्थान्यपि त्रिविधानि। तत्र 'यज्ञं व्याख्यास्यामो द्रव्यदेवतात्यागः' इति कल्पकारैर्दैवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यज्ञ इति निरुक्तः। स च यजतिना जुहोतिना च चोदितत्वेन यागो होमश्चेति द्विविध उत्तिष्ठद्धोमा

रूपमें परिणत पृथ्वी आदि भूतसमुदायको वृथा उपवासादिके द्वारा कृश करनेवाले हैं और अन्तःशरीरमें भोक्तारूपसे स्थित मुझको भोग्यरूप शरीरको कृश करनेसे कृश करनेवाले अथवा अन्तर्यामी रूपसे शरीरके भीतर स्थित बुद्धि और उसकी वृत्तियोंके साक्षीभूत मुझ ईश्वरको मेरी आज्ञाके उल्लङ्घन द्वारा कृश करनेवाले हैं ऐसे जो अचेता—विवेकहीन पुरुष हैं, सम्पूर्ण ऐहिक भोगोंसे विमुख और परलोकमें अधमगतिके भागी तथा सब प्रकारके पुरुषार्थोंसे गिरे हुए उन पुरुषोंको आसुरी निश्चयवाले जानो। जिनका आसुर अर्थात् वेदार्थसे विरोधी विपरीत भावानारूप निश्चय है ऐसे उन पुरुषोंको त्याग करनेके लिये मनुष्यरूपसे प्रतीत होनेपर भी असुरोंकासा कार्य करनेवाले होनेसे तुम असुर जानो। उन असुरत्वजातिशून्य मनुष्योंका निश्चय आसुरी होनेसे उसके द्वारा होनेवाली उनकी अन्तःकरणकी समस्त वृत्तियाँ भी आसुरी होती हैं। अतः कर्मसे ही असुर होनेके कारण 'उन्हें तुम असुर जानो' इस प्रकार साक्षात् रूपसे उन्हें असुर नहीं कहा गया—ऐसा समझ लेना चाहिये ॥ ५-६ ॥

(१) जो सात्त्विक हैं वे देव हैं और जो राजस-तामस हैं वे विपरीत बुद्धिवाले होनेके कारण असुर हैं—ऐसा निश्चय होनेपर सात्त्विक पदार्थोंके ग्रहण तथा राजस और तामस पदार्थोंके त्यागके लिये आहार यज्ञ तप और दान—इनकी त्रिविधताका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थ :—सबको प्रिय आहार भी तीन प्रकारका होता है, तथा यज्ञ तप और दानके भी तीन-तीन प्रकार हैं। ये उनके भेद सुनो ॥ ७ ॥]

(२) केवल श्रद्धा ही नहीं सबको प्रिय लगनेवाला आहार भी तीन प्रकारका होता है। सब पदार्थ त्रिगुणमय ही हैं, इसलिये कोई चौथा प्रकार होना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार दृष्ट प्रयोजनवाला आहार तीन प्रकार का है उसी प्रकार अदृष्ट प्रयोजनवाले यज्ञ तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके हैं। इनमें 'यज्ञं व्याख्यास्यामो द्रव्यदेवतात्यागः' इस प्रकार कल्पसूत्रकारोंने 'देवताओंके लिये द्रव्य-त्याग करना यज्ञ है' ऐसी यज्ञकी व्याख्या की है। वह यज्ञ ही 'यज्' और 'हु' धातुओंसे विधान किया गया है, इसलिये वह याग और

वषट्कारप्रयोगान्ता याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतय उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रयोगान्ता याज्यापुरोनुवाक्यारहिता जुहोतय इति कल्पकारैर्व्याख्यातो यज्ञशब्देनोक्तः । तपः कायेन्द्रियशोषणं कृच्छ्रचान्द्रायणादि । दानं परस्वत्वापत्तिफलकः स्वस्वत्वत्यागः । तेषामाहारयज्ञतपोदानानां सात्त्विकराजसतामसभेदं मया व्याख्यायमानमिमं शृणु ॥ ७ ॥

(१) आहारयज्ञतपोदानानां भेदः पञ्चदशभिर्व्याख्यायते । तत्राऽऽहारभेदस्त्रिभिः—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

(२) आयुश्चिरंजीवनं, सत्त्वं चित्तधैर्यं बलवति दुःखेऽपि निर्विकारत्वापादकं, बलं शरीरसामर्थ्यं स्वोचिते कार्ये श्रमाभावप्रयोजकम्, आरोग्यं व्याध्यभावः, सुखं भोजनानन्तराह्लादस्तृप्तिः, प्रीतिर्भोजनकालेऽनभिरुचिराहित्यमिच्छौत्कट्यं तेषां विवर्धना विशेषेण वृद्धिहेतवः, रस्या आस्वाद्या मधुररसप्रधानाः, स्निग्धाः सहजेनाऽऽगन्तुकेन वा स्नेहेन युक्ताः, स्थिरा रसाद्यंशेन शरीरे चिरकालस्थायिनः, हृद्या हृदयंगमा दुर्गन्धाशुचित्वादिदृष्टाऽदृष्टदोषशून्याः, आहाराश्चर्व्यचोष्यलेह्यपेयाः, सात्त्विकानां प्रियाः, एतैर्लिङ्गैः सात्त्विका ज्ञेयाः सात्त्विकस्वमभिलषद्भिश्चैत आदेया इत्यर्थः ॥ ८ ॥

होम रूपसे दो प्रकारका है। जिनमें खड़े होकर हवन किया जाता है और अन्तमें वषट्कारका प्रयोग होता है वे याग हैं और जिनमें बैठकर हवन किया जाता है, अन्तमें स्वाहाकार रहता है तथा जो याज्या और पुरोनुवाक्यसे रहित होते हैं वे होम हैं, इस प्रकार कल्पसूत्रकारोंने जिनकी व्याख्या की है वे यहाँ 'यज्ञ' शब्दसे कहे गये हैं। तप—शरीर और इन्द्रियोंको सुखानेवाले कृच्छ्र एवं चान्द्रायणादि। दान—दूसरोंका स्वामित्व करना जिसका परिणाम है ऐसा अपने स्वामित्वका त्याग। उन आहार, यज्ञ, तप और दानका मेरे द्वारा व्याख्या किया जाता हुआ यह सात्त्विक राजस और तामस तीन प्रकारका भेद सुनो ॥ ७ ॥

(१) अब पन्द्रह श्लोकोंद्वारा आहार यज्ञ तप और दानके भेदकी व्याख्या की जाती है। इन तीन श्लोकोंसे आहारके भेदकी व्याख्या करते हैं—

[श्लोकार्थः—जो आयु धैर्य बल आरोग्य सुख और प्रसन्नताकी वृद्धि करनेवाले सरस, चिकने, शरीरमें ठहरनेवाले, और हृदयग्राही आहार हैं वे सात्त्विक पुरुषोंको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥]

(२) आयु—चिरकालतक जीवित रहना, सत्त्व—प्रबल दुःखमें भी निर्विकार रखनेवाला चित्तका धैर्य, बल—शरीरका सामर्थ्य, जो अपने लिये उचित कार्यमें श्रमके अभावका प्रयोजक है, आरोग्य—व्याधिका अभाव, सुख—भोजनके पीछे आह्लाद या तृप्ति होना तथा प्रीति—भोजनके समय अरुचिका अभाव और इच्छाकी उत्कटता रहना हैं। इन सबको विवर्धित करनेवाले—विशेषरूपसे इनकी वृद्धिके हेतु। रस्य—आस्वादनके योग्य अर्थात् मधुररसप्रधान, स्निग्ध—स्वाभाविक अथवा आगन्तुक स्नेह (चिकनेपन)से युक्त, स्थिर—रसादि अंशरूपसे शरीरमें चिरकालतक ठहरनेवाले, हृद्य—हृदयङ्गम अर्थात् दुर्गन्ध एवं अपवित्रता आदि दृष्ट और अदृष्ट दोषोंसे रहित, ऐसे चर्व्य चोष्य लेह्य और पेय आहार सात्त्विक पुरुषोंको प्रिय होते हैं। इन लिंगोंसे आहारोंको सात्त्विक समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जिन्हें सात्त्विकताकी इच्छा हो उन्हें इन पदार्थोंको ग्रहण करना चाहिये ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

(१) अतिशब्दः कट्वादिषु सप्तस्वपि योजनीयः कटुस्तिक्तः कटुरसस्य तीक्ष्णशब्देनोक्तत्वात् । तत्रातिकटुर्निम्बादिः । अत्यम्लातिलवणास्त्युष्णाः प्रसिद्धाः । अतितीक्ष्णो मरीचादिः । अतिरूक्षः स्नेहशून्यः कङ्गुकोद्रवादिः । अतिविदाही संतापको राजिकादिः । दुःखं तात्कालिकीं पीडां, शोकं पश्चाद्भावि दौर्मनस्यम्, आमयं रोगं च धातुवैषम्यद्वारा प्रददतीति तथाविधा आहारा राजसस्येष्टाः । एतैर्लिङ्गै राजसा ज्ञेयाः सात्त्विकैश्चैत उपेक्षणीया इत्यर्थः ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

(२) यातयाममर्धपक्वं निर्वीर्यस्य गतरसपदेनोक्तत्वादिति भाष्यम् । गतरसं विरसतां प्राप्तं शुष्कम् । यातयामं पक्वं सत्प्रहरादिव्यवहितमोदनादि शैत्यं प्राप्तं, गतरसमुद्धृतसारं मथितदुग्धादीत्यन्ये । पूति दुर्गन्धम् । पर्युषितं पक्वं सद्राज्यन्तरितम् । चेन तत्कालोन्मादकरं धत्तूरादि समुच्चीयते । यदतिप्रसिद्धं दुष्टत्वेनोच्छिष्टं भुक्तावशिष्टम् । अमेध्यमयज्ञार्हमशुचि मांसादि । अपि चेति

[श्लोकार्थः—बहुत कड़वे, बहुत खट्टे, बहुत खारे, बहुत गर्म, बहुत तीखे, बहुत रूखे और बहुत दाह पैदा करनेवाले तथा दुःख शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले पदार्थ राजसी पुरुषोंको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥]

(१) 'अति' शब्दको कटु आदि सातों विशेषणोंके साथ लगाना चाहिये। कटु-कड़वा, क्योंकि कटु (तीखे) रसको 'तीक्ष्ण' शब्दसे कहा है। उनमें अत्यन्त कड़वे नीम आदि हैं, अत्यन्त खट्टे अत्यन्त खारे और अत्यन्त उष्ण पदार्थ तो प्रसिद्ध ही हैं। अत्यन्त तीक्ष्ण मिर्च आदि, अत्यन्त रूखे चिकनाईसे रहित काँगनी और बाजरा इत्यादि, अत्यन्त विदाही—जलन पैदा करनेवाले राई आदि तथा जो उसी समय पीड़ा और शोक तथा पीछे मानसिक ग्लानि और आमय—रोग उत्पन्न करनेवाले हैं ऐसे पदार्थ राजसी पुरुषोंको प्रिय होते हैं। इन लिंगोंसे राजस आहारोंको जान लेना चाहिये तथा सात्त्विक पुरुषोंको इनका त्याग करना चाहिये—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ९ ॥

[श्लोकार्थः—जिसे पकाये हुए एक प्रहर बीत गया हो तथा जो निःसार, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा, और अपवित्र हो वह भोजन तामसी पुरुषोंको प्रिय होता है ॥ १० ॥]

(२) 'यातयाम—आधा पका हुआ, क्योंकि निर्वीर्य पदार्थको 'गतरस' शब्दसे कहा है'—यह भाष्य है। गतरस—विरसताको प्राप्त अर्थात् सूखा हुआ। 'यातयाम—पकानेपर भी एक प्रहरादिका अन्तर पड़ जानेसे ठंडा पड़ा हुआ भात आदि। गतरस—जिसका सार निकल गया है वे मथे हुए दूध आदि'—यह दूसरे टीकाकारों का मत है। पूति—दुर्गन्धयुक्त। पर्युषित—पकाये जानेके पश्चात् जिसे एक रात बीत गयी है। 'च' शब्दसे चित्तमें तत्काल उन्माद पैदा करनेवाले धतूरा आदि पदार्थोंको सम्मिलित किया गया है, यत्—जो दूषित रूपसे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उच्छिष्ट—खानेपर बचा हुआ अन्न। अमेध्य—यज्ञके अयोग्य अपवित्र मांसादि। 'अपि च' इन पदोंसे वैद्यक शास्त्रोक्त अपथ्य पदार्थोंको सम्मिलित किया जाता है। ऐसा जो भोजन—भोज्य पदार्थ है वह तामसी

वैद्यकशास्त्रोक्तमपथ्यं समुच्चीयते। एतादृशं यद्भोजनं भोज्यं तत्तामसस्य प्रियं सात्त्विकैरतिदूरादुपेक्षणीयमित्यर्थः। एतादृशभोजनस्य दुःखशोकामयप्रदत्वमतिप्रसिद्धमिति कण्ठतो नोक्तम्।

(१) अत्र च क्रमेण रस्यादिवर्गः सात्त्विकः, कट्वादिवर्गो राजसः, यातयामादिवर्गस्तामस इत्युक्तमाहारवर्गत्रयम्। तत्र सात्त्विकवर्गविरोधित्वमितरवर्गद्वये द्रष्टव्यम्। तथा ह्यतिकटुत्वादिकं रस्यत्वविरोधि तादृशस्यानास्वाद्यत्वात्। रूक्षत्वं स्निग्धत्वविरोधि। तीक्ष्णत्वविदाहित्वे धातुपोषणविरोधित्वास्थिरत्वविरोधिनी। अत्युष्णत्वादिकं हृद्यत्वविरोधि। आमयप्रदत्वमायुःसत्त्वबलारोग्यविरोधि। दुःखशोकप्रदत्वं सुखप्रीतिविरोधि। एवं सात्त्विकवर्गविरोधित्वं राजसवर्गे स्पष्टम्। तथा तामसवर्गेऽपि गतरसत्वयातयामत्वपर्युषितत्वानि यथासंभवं रस्यत्वस्निग्धत्वस्थिरत्वविरोधीनि। पूतित्वोच्छिष्टत्वामेध्यत्वानि हृद्यत्वविरोधीनि। आयुःसत्त्वादिविरोधित्वं तु स्पष्टमेव। राजसवर्गे दृष्टविरोधमात्रं तामसवर्गे तु दृष्टादृष्टविरोध इत्यतिशयः॥ १०॥

(२) इदानीं क्रमप्राप्तं त्रिविधं यज्ञमाह त्रिभिः—

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

(३) अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुबन्धज्योतिष्टोमादिर्यज्ञो द्विविधः काम्यो नित्यश्च। फलसंयोगेन चोदितः काम्यः सर्वाङ्गोपसंहारेणैव मुख्यकल्पेनानुष्ठेयः। फलसंयोगं विना जीवनादिनिमित्तसंयोगेन चोदितः सर्वाङ्गोपसंहारासंभवे प्रतिनिध्याद्युपादानेनामुख्यकल्पेनाप्यनुष्ठेयो नित्यः।

पुरुषों को प्रिय होता है, सात्त्विकोंको तो उसकी बहुत दूरसे उपेक्षा कर देनी चाहिये—ऐसा इसका तात्पर्य है। ऐसे भोजनका दुःख शोक और रोग उत्पन्न करना तो अत्यन्त प्रसिद्ध है, इसलिये भगवान्‌ने उसे अपने मुखसे नहीं कहा।

(१) यहाँ क्रमशः रस्यादि वर्ग सात्त्विक है, कटु आदि वर्ग राजस है और यातयामादि वर्ग तामस है। इस प्रकार आहारके तीनों वर्ग कहे गये हैं। इनमें अन्य दो वर्गोंमें सात्त्विक वर्गका विरोधीपन समझना चाहिये। जैसे अति कटुत्वादि तो रस्यत्वका विरोधी है, क्योंकि वैसा पदार्थ स्वादिष्ट नहीं होता। रूक्षत्व स्निग्धत्वका विरोधी है। तीक्ष्णत्व और विदाहित्व धातुके पोषणके विरोधी होनेसे स्थिरत्वके विरोधी हैं। अतिउष्णत्वादि हृद्यत्वके विरोधी हैं तथा दुःख और शोकप्रदत्व सुख और प्रीतिके विरोधी हैं। इस प्रकार राजस वर्गमें सात्त्विक वर्गकी विरोधिता तो स्पष्ट ही है। इसी तरह तामसवर्गमें भी गतरसत्व यातयामत्व और पर्युषितत्व ये यथासम्भव रस्यत्व स्निग्धत्व और स्थिरत्वके विरोधी हैं, पूतित्व उच्छिष्टत्व और अमेध्यत्व हृद्यत्वके विरोधी हैं। इनका आयु और सत्त्वादिका विरोधी होना तो स्पष्ट ही है। राजस वर्गमें दृष्ट विरोध ही है, किन्तु तामस वर्गमें दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकारका विरोध है—इतनी उसमें विशेषता है॥ १०॥

(२) अब तीन श्लोकों द्वारा क्रमशः प्राप्त तीन प्रकारका यज्ञ बतलाते हैं—

[श्लोकार्थः—फलकी इच्छा न रखनेवाले पुरुषों द्वारा 'यज्ञ करना ही चाहिये' मनमें ऐसा निश्चय रखकर जो शास्त्रविधिके अनुसार यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक है॥११॥]

(३) अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ काम्य और नित्य दो प्रकारके हैं। जिस यज्ञका फलके निश्चयपूर्वक विधान किया जाता है उसे काम्य कहते हैं। उसका समस्त अंगोंके उपसंहारपूर्वक प्रधान विधिके अनुसार

तत्र सर्वाङ्गोपसंहारासंभवेऽपि प्रतिनिधिमुपादायावश्यं यष्टव्यमेव प्रत्यवायपरिहारायाऽऽवश्यकजीवनादिनिमित्तेन चोदितत्वादिति मनः समाधाय निश्चित्याफलाकाङ्क्षिभिरन्तःकरणशुद्ध्यर्थितया काम्यप्रयोगविमुखैर्विधिदृष्टो यथाशास्त्रं निश्चितो यो यज्ञ इज्यतेऽनुष्ठीयते स यथाशास्त्रमन्तःकरणशुद्ध्यर्थमनुष्ठीयमानो नित्यप्रयोगः सात्त्विको ज्ञेयः॥ ११॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

(१) फलं काम्यं स्वर्गादि अभिसंधायोद्दिश्य न स्वन्तःकरणशुद्धिं, तुर्नित्यप्रयोगवैलक्षण्यसूचनार्थः। दम्भो लोके धार्मिकत्वख्यापनं तदर्थम्। अपि चैवेति विकल्पसमुच्चयाभ्यां त्रैविध्यसूचनार्थम्। पारलौकिकं फलमभिसंधायैवादम्भार्थत्वेऽपि पारलौकिकफलानभिसंधानेऽपि दम्भार्थमेवेति विकल्पेन द्वौ पक्षौ। पारलौकिकफलार्थमप्यैहलौकिकदम्भार्थमपीति समुच्चयेनैकः पक्षः। एवं दृष्टादृष्टफलाभिसंधिनाऽन्तःकरणशुद्धिमनुद्दिश्य यदिज्यते यथाशास्त्रं यो यज्ञोऽनुष्ठीयते तं यज्ञं राजसं विद्धि हानाय, हे भरतश्रेष्ठेति योग्यत्वसूचनम्॥ १२॥

ही अनुष्ठान करना चाहिये। जिसका फलके संयोगके बिना, जीवनादिके संयोगरूप निमित्तसे [अर्थात् जीवनादिके रहते हुए अवश्य कर्त्तव्य होनेसे] शास्त्रोक्त समस्त अंगोंका उपसंहार सम्भव न होनेपर प्रतिनिधि आदिको लेकर गौण विधिसे भी अनुष्ठान किया जा सके वह नित्य यज्ञ है। उसमें सम्पूर्ण अंगोंका उपसंहार सम्भव न भी हो तो भी 'प्रतिनिधिको स्वीकार करके अवश्य यजन करना ही चाहिये' इस प्रकार प्रत्यवायोंकी निवृत्ति और आवश्यक प्राणयात्रादि निमित्तसे शास्त्र द्वारा विहित होनेके कारण शास्त्रानुसार निश्चय किया हुआ यज्ञ मनमें समाधान—निश्चय करके जो काम्य प्रयोगसे विमुख फलाकांक्षाशून्य पुरुषों द्वारा अन्तःकरणशुद्धिकी अभिलाषासे शास्त्रविधिके अनुसार यजन—अनुष्ठान किया जाता है, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये शास्त्रानुसार अनुष्ठान किये जानेवाले उस नित्य प्रयोगको सात्त्विक समझना चाहिये॥ ११॥

[श्लोकार्थः—हे भरतश्रेष्ठ! जिसका फलके उद्देश्यसे और दम्भके लिये भी यजन किया जाय उस यज्ञको तुम राजस समझो॥ १२॥]

(१) स्वर्गादि काम्य फलको सामने रखकर—उसीको उद्देश्य बनाकर, अन्तःकरणकी शुद्धिको नहीं, और दम्भ जो लोकमें अपनी धार्मिकता प्रकट करना है उसके लिये भी। यहाँ 'तु' नित्य कर्मके प्रयोगसे विलक्षणता सूचित करनेके लिये है तथा 'च' और 'एव' विकल्प और समुच्चयके द्वारा उनकी त्रिविधता सूचित करनेके लिये हैं। पारलौकिक फलकी ही इच्छा रखकर बिना दम्भके लिये तथा पारलौकिक फलकी इच्छा न होनेपर भी केवल दम्भके ही लिये—इस प्रकार दो पक्ष तो विकल्पसे हैं और पारलौकिक फल एवं ऐहिक दम्भ इन दोनों ही के लिये इस प्रकार एक पक्ष समुच्चयसे है। इस प्रकार दृष्ट और अदृष्ट फलकी इच्छासे तथा अन्तःकरणशुद्धिका उद्देश्य न रखकर जो यजन किया जाता है अर्थात् जिस यज्ञका शास्त्रानुसार अनुष्ठान किया जाता है उस यज्ञको तुम त्यागनेके लिये राजस समझो। 'हे भरतश्रेष्ठ!' इस सम्बोधनसे योग्यता सूचित की गयी है॥ १२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

(१) यथाशास्त्रबोधितविपरीतमन्नदानहीनं स्वरतो वर्णतश्च मन्त्रहीनं यथोक्तदक्षिणाहीनमृत्विग्द्वेषादिना श्रद्धारहितं तामसं यज्ञं परिचक्षते शिष्टाः । विधिहीनत्वाद्येकैकविशेषणः पञ्चविधः सर्वविशेषणसमुच्चयेन चैकविध इति षट् । द्वित्रिचतुर्विशेषणसमुच्चयेन च बहवो भेदास्तामसयज्ञस्य ज्ञेयाः । राजसे यज्ञेऽन्तःकरणशुद्धयभावेऽपि फलोत्पादकमपूर्वमस्ति यथाशास्त्रमनुष्ठानात् । तामसे त्वयथाशास्त्रानुष्ठानान्न किमप्यपूर्वमस्तीत्यतिशयः ॥ १३ ॥

(२) क्रमप्राप्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदं कथयितुं शारीरवाचिकमानसभेदेन तस्य त्रैविध्यमाह त्रिभिः—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

(३) देवा ब्रह्मविष्णुशिवसूर्याग्निदुर्गादयः, द्विजा द्विजोत्तमा ब्राह्मणाः, गुरवः पितृमात्राचार्यादयः, प्राज्ञाः पण्डिता विदितवेदतदुपकरणार्थाः, तेषां पूजनं प्रणामशुश्रूषादि यथाशास्त्रं, शौचं मृज्जलाभ्यां शरीरशोधनम्, आर्जवमकौटिल्यं भावसंशुद्धिशब्देन मानसे तपसि वक्ष्यति । शारीरं

[श्लोकार्थः—जो यज्ञ विधिहीन, अन्नदानसे रहित, मन्त्रहीन, दक्षिणाशून्य और श्रद्धाशून्य होता है उसे शिष्ट पुरुष तामसी कहते हैं ॥ १३ ॥]

(१) जैसा शास्त्रने बताया है उससे विपरीत, अन्नदानहीन, स्वर और वर्ण द्वारा मन्त्रहीन, यथोचित दक्षिणासे रहित, ऋत्विगोंसे द्वेषादि होनेके कारण श्रद्धारहित यज्ञको शिष्ट पुरुष तामस यज्ञ बताते हैं । विधिहीनत्वादि एक-एक विशेषणयुक्त होनेपर तामस यज्ञ पाँच प्रकारका है तथा सब विशेषणोंका समुच्चय करनेपर वह एक प्रकारका है । इस तरह छः प्रकारका तामस यज्ञ है । तथा दो तीन या चार विशेषणोंका समुच्चय करनेपर तो तामस यज्ञके अनेकों भेद समझने चाहिये । राजस यज्ञमें अन्तःकरणकी शुद्धि न होनेपर भी उसका शास्त्रानुसार अनुष्ठान किया जानेके कारण फलकी उत्पत्ति करनेवाला अपूर्व तो रहता ही है, किन्तु तामस यज्ञका शास्त्रानुसार अनुष्ठान न होनेके कारण उसमें कोई अपूर्व नहीं रहता—इतना इसका उससे भेद है ॥ १३ ॥

(२) क्रमप्राप्त तपके सात्त्विकादि भेद बतानेके लिये तीन श्लोकोंद्वारा शारीरिक वाचिक और मानसिक भेदसे उसकी त्रिविधताका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—देवता ब्राह्मण गुरु और विद्वान्का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप कहा जाता है ॥ १४ ॥]

(३) देवता—ब्रह्मा विष्णु शिव सूर्य अग्नि और दुर्गा आदि, द्विज—द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, गुरु—पिता-माता और आचार्य इत्यादि, प्राज्ञ—पण्डित अर्थात् वेद और उसके उपकरणभूत स्मृति आदिका अर्थ जाननेवाले, उनका पूजन अर्थात् शास्त्रानुसार प्रणाम और शुश्रूषादि । शौच—मृत्तिका और जल आदिसे शरीरको शुद्ध करना । आर्जव—अकुटिलता, इसे मानस तपमें 'भावसंशुद्धि' शब्दसे कहा जायगा; शारीरिक आर्जव तो विहित और प्रतिषिद्धमें एक रूपसे प्रवृत्ति और निवृत्तियुक्त होना है । ब्रह्मचर्य—निषिद्ध मैथुनसे दूर रहना । अहिंसा—अशास्त्रीय प्राणिपीडनका अभाव, 'च' शब्दसे अस्तेय और

त्वार्जवं विहितप्रतिषिद्धयोरेकरूपप्रवृत्तिनिवृत्तिशालित्वं, ब्रह्मचर्यं निषिद्धमैथुननिवृत्तिः । अहिंसाऽशास्त्रीयप्राणिपीडनाभावः । चकारादस्तेयापरिग्रहावपि । शारीरं शरीरप्रधानैः कर्त्रादिभिः साध्यं न तु केवलेन शरीरेण । पञ्चैते तस्य हेतव इति हि वक्ष्यति । इत्थं शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

(१) अनुद्वेगकरं न कस्यचिद्दुःखकरं, सत्यं प्रमाणमूलमबाधितार्थं, प्रियं श्रोतुस्तत्कालश्रुतिसुखं हितं परिणामे सुखकरम् । चकारो विशेषणानां समुच्चयार्थः । अनुद्वेगकरत्वादिविशेषणचतुष्टयेन विशिष्टं न त्वेकेनापि विशेषणेन न्यूनं, यद्वाक्यं यथा शान्तो भव वत्स स्वाध्यायं योगं चानुतिष्ठ तथा ते श्रेयो भविष्यतीत्यादि तद्वाङ्मयं वाचिकं तपः शारीरवत्, स्वाध्यायाभ्यसनं च यथाविधि वेदाभ्यासश्च वाङ्मयं तप उच्यते । एवकारः प्राग्विशेषणसमुच्चयावधारणे व्याख्यातव्यः ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

(२) मनसः प्रसादः स्वच्छता विषयचिन्ताव्याकुलत्वराहित्यं, सौम्यत्वं सौमनस्यं सर्वलोकहितैषित्वं प्रतिषिद्धाचिन्तनं च, मौनं मुनिभाव एकाग्रतयाऽऽत्मचिन्तनं निदिध्यासनाख्यं, वाक्संयमहेतुर्मनःसंयमो मौनमिति भाष्यम् । आत्मविनिग्रह आत्मनो मनसो विशेषेण सर्ववृत्तिनिग्रहो निरो-

अपरिग्रहका भी ग्रहण होता है । शारीर—शरीरप्रधान कर्तादिसे साध्य, केवल शरीरसे ही नहीं । यह बात 'पञ्चैते तस्य हेतवः' इस श्लोकसे कहेंगे । इस प्रकार शारीरिक तप कहा जाता है ॥ १४ ॥

[श्लोकार्थः—जो उद्वेग न करनेवाला, सत्य, प्रिय, और हितकारी वाक्य है और स्वाध्यायका अभ्यास करना है वह वाङ्मयतप कहा जाता है ॥ १५ ॥]

(१) अनुद्वेगकर—किसीको भी दुःख न करनेवाला, सत्य—प्रमाणमूलक अर्थात् जिसके अर्थका बाध न हो, प्रिय—श्रोताको तत्काल श्रवणसुख देनेवाला, हित—परिणाममें सुखकारी, 'च' शब्द विशेषणों के समुच्चयके लिये है । इन अनुद्वेगकरत्वादि चारों विशेषणोंसे युक्त, किसी एक विशेषणकी भी न्यूनतासे रहित जो वाक्य है; जैसे—'बेटा ! शान्त रहो, स्वाध्याय और योगका अनुष्ठान करो, इस प्रकार तुम्हारा कल्याण होगा' इत्यादि वाक्य है । यह वाङ्मय—वाचिक तप है । शारीरिक तपके समान स्वाध्यायका अभ्यास—विधिवत् वेदका अभ्यास भी वाङ्मय तप कहा जाता है । 'एव' शब्दकी पहले विशेषणोंके समुच्चयका निश्चय करनेमें व्याख्या की गयी है ॥ १५ ॥

[श्लोकार्थः—मनकी स्वच्छता, सौम्यता, मौन, मनका निग्रह और हृदयकी सम्यक् शुद्धि—यह मानसिक तप कहा जाता है ॥ १६ ॥]

(२) मनका प्रसाद—स्वच्छता अर्थात् विषयचिन्ताकी व्याकुलतासे रहित होना, सौम्यत्व—सुन्दर मनवाला होना—सम्पूर्ण लोकोंका हितैषी होना अर्थात् निषिद्ध विषयोंका चिन्तन न करना । मौन—मुनिभाव—एकाग्रतापूर्वक आत्मचिन्तन करना, जिसे निदिध्यासन कहते हैं; 'वाक्यसंयमका हेतुभूत मनका निग्रह मौन है' यह भाष्य है । आत्मविनिग्रह—आत्मा—मनकी विशेषरूपसे समस्त वृत्तियोंका निग्रह—निरोध अर्थात् सम्प्र-

धसमाधिरसंप्रज्ञातः। भावस्य हृदयस्य शुद्धिः कामक्रोधलोभादिमलनिवृत्तिः, पुनरशुद्ध्युत्पादराहित्येन सम्यक्त्वेन विशिष्टा सा भावशुद्धिः। परैः सह व्यवहारकाले मायाराहित्यं सेति भाष्यम्। इत्येतदेवंप्रकारं तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

(१) शारीरवाचिकमानसभेदेन त्रिविधस्योक्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमिदानीं दर्शयति त्रिभिः—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

(२) तत्पूर्वोक्तं त्रिविधं शारीरं वाचिकं मानसं च तपः श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्धया परया प्रकृष्टयाऽप्रामाण्यशङ्काकलङ्कशून्यया फलाभिसंधिशून्यैर्युक्तैः समाहितैः सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारैर्नरैरधिकारिभिस्तप्तमनुष्ठितं सात्त्विकं परिचक्षते शिष्टाः ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

(३) सत्कारः साधुरयं तपस्वी ब्राह्मण इत्येवमविवेकिभिः क्रियमाणा स्तुतिः, मानः प्रत्युत्थानाभिवादनादिः, पूजा पादप्रक्षालनार्चनधनदानादिः, तदर्थं दम्भेनैव च केवलं धर्मध्वजित्वेनैव

ज्ञात समाधि। भाव यानी हृदयकी शुद्धि—काम क्रोध एवं लोभ आदि मलोंकी निवृत्ति, वह जिस समय पुनः अशुद्धिकी उत्पत्तिसे रहित होनेके कारण सम्यक्तासे युक्त होती है उस समय 'भावसंशुद्धि' कही जाती है। 'दूसरोंके साथ व्यवहार करते समय कपटहीन होना भावसंशुद्धि है' यह भाष्य है। इस तरह इस प्रकारका तप मानस कहा जाता है ॥ १६ ॥

(१) अब शारीरिक वाचिक मानस भेदसे तीन प्रकारके कहे हुए तपकी तीन श्लोकों द्वारा सात्त्विकादि भेदसे त्रिविधता दिखाते हैं—

[श्लोकार्थः—फलकी इच्छासे रहित तथा योगयुक्त पुरुषोंद्वारा अत्यन्त श्रद्धासे तपे हुए उस तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं ॥ १७ ॥]

(२) उस पूर्वोक्त शारीरिक वाचिक और मानसिक तीन प्रकारके तपको परम—प्रकृष्ट अर्थात् अप्रामाण्यरूप शंकाके कलंकसे शून्य श्रद्धा—आस्तिकबुद्धिपूर्वक फलाभिसन्धिशून्य और युक्त—समाहित अर्थात् सिद्धि और असिद्धिमें निर्विकार रहनेवाले अधिकारी पुरुषों द्वारा तपे जानेपर—अनुष्ठान किये जानेपर शिष्ट पुरुष 'सात्त्विक' कहते हैं ॥ १७ ॥

[श्लोकार्थः—जो तप सत्कार मान और पूजाके लिये तथा दम्भपूर्वक किया जाता है वह राजस कहलाता है। वह ऐहिक, चल और अध्रुव होता है ॥ १८ ॥]

(३) सत्कार—'यह तपस्वी ब्राह्मण साधु है' इस प्रकार अविवेकियों द्वारा की जानेवाली स्तुति, मान—प्रत्युत्थान और अभिवादनादि, पूजा—चरण धोना पूजन करना और धन देना आदि, इनके लिये जो तप दम्भसे ही—केवल धर्मध्वजीपनसे ही, आस्तिक बुद्धिसे नहीं—किया जाता है वह शिष्ट पुरुषोंद्वारा राजस कहा जाता है। वह इह—इस लोकमें ही फल देनेवाला होता है, पारलौकिक फल देनेवाला नहीं तथा

च न त्वास्तिक्यबुद्धया यत्तपः क्रियते तद्राजसं प्रोक्तं शिष्टैः, इहास्मिन्नेव लोके फलदं न पारलौकिकं, चलमत्यल्पकालस्थायिफलम्, अध्रुवं फलजनकतानियमशून्यम् ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणाऽऽत्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

(१) मूढग्राहेणाविवेकातिशयकृतेन दुराग्रहेणाऽऽत्मनो देहेन्द्रियसंघातस्य पीडया यत्तपः क्रियते परस्योत्सादनार्थं वाऽन्यस्य विनाशार्थमभिचाररूपं वा तत्तामसमुदाहृतं शिष्टैः ॥ १९ ॥

(२) इदानीं क्रमप्राप्तस्य दानस्य त्रैविध्यं दर्शयति त्रिभिः—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

(३) दातव्यमेव शास्त्रचोदनावशादित्येवं निश्चयेन न तु फलाभिसंधिना यद्दानं तुलापुरुषादि दीयतेऽनुपकारिणे प्रत्युपकाराजनकाय देशे पुण्ये कुरुक्षेत्रादौ काले च पुण्ये सूर्योपरागादौ। पात्रे चेति चतुर्थ्यर्थे सप्तमी। कीदृशायानुपकारिणे दीयते पात्राय च विद्यातपोयुक्ताय। पात्रे रक्षकायेति वा। विद्यातपोभ्यामात्मनो दातुश्च पालनक्षम एव प्रतिगृह्णीयादिति शास्त्रात्। तदेवंभूतं दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

चल—बहुत थोड़े समय टिकनेवाले फलवाला, और अध्रुव—फलजनकताके नियम से शून्य होता है ॥ १८ ॥

[श्लोकार्थः—जो तप अत्यन्त अविवेकजनित दुराग्रहसे देह और इन्द्रियोंके सङ्घातको पीडित करनेके लिये अथवा दूसरोंका नाश करनेके लिये किया जाता है वह तामस कहा गया है ॥ १९ ॥]

(१) मूढग्राहसे—अविवेककी अधिकताके कारण होनेवाले दुराग्रहसे आत्मा—देह और इन्द्रियोंके संघातकी पीडाके लिये जो तप किया जाता है, अथवा जो दूसरोंके उत्सादन—विनाशके लिये अभिचाररूप तप किया जाता है वह शिष्टपुरुषोंद्वारा तामस कहा गया है ॥ १९ ॥

(२) अब तीन श्लोकोंद्वारा क्रमप्राप्त दानकी त्रिविधता दिखाते हैं—

[श्लोकार्थः—'देना चाहिये' इस बुद्धिसे जो दान उचित देश और कालमें प्रत्युपकार न करनेवाले पात्रको दिया जाता है वह सात्त्विक कहा गया है ॥ २० ॥]

(३) 'शास्त्राज्ञाके कारण देना ही चाहिये' इस प्रकारके निश्चयसे, फलाभिसन्धिसे नहीं, जो तुलापुरुषादि दान अनुपकारी—प्रत्युपकार न करनेवाले पात्रको कुरुक्षेत्रादि पवित्र देशमें और सूर्यग्रहणादि पवित्र कालमें दिया जाता है। यहाँ 'पात्रे' इस शब्दमें चतुर्थीके अर्थमें सप्तमी विभक्ति है। कैसे पात्रको विद्या और तपसे युक्त अनुपकारी पात्रको। अथवा पात्र यानी रक्षकको, क्योंकि जो विद्या और तपके द्वारा अपना और दाताका पालन करनेमें समर्थ हो वही दान ले—ऐसा शास्त्रका वचन है, वह ऐसा दान सात्त्विक माना गया है ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

(१) प्रत्युपकारार्थं कालान्तरे मामयमुपकरिष्यतीत्येवं दृष्टार्थं फलं वा स्वर्गादिकमुद्दिश्य यत्पुनर्दानं सात्त्विकविलक्षणं दीयते परिक्लिष्टं च कथमेतावद्व्ययितमितिपश्चात्तापयुक्तं यथा भवत्येवं च यद्दीयते तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

(२) अदेशे स्वतो दुर्जनसंसर्गाद्वा पापहेतावशुचिस्थाने, अकाले पुण्यहेतुत्वेनाप्रसिद्धे यस्मिन्कस्मिंश्चित्, अशौचकाले वा, अपात्रेभ्यश्च विद्यातपोरहितेभ्यो नटविटादिभ्यो यद्दानं दीयते देशकालपात्रसंपत्तावपि असत्कृतं प्रियभाषणपादप्रक्षालनपूजादिसत्कारशून्यमवज्ञातं पात्रपरिभवयुक्तं च तद्दानं तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

(३) तदेवमाहारयज्ञतपोदानानां त्रैविध्यकथनेन सात्त्विकानि तान्यादेयानि राजसतामसानि तु परिहर्तव्यानीत्युक्तम् । तत्राऽऽहारस्य दृष्टार्थत्वेन नास्त्यङ्गवैगुण्येन फलाभावशङ्का । यज्ञतपोदानानां त्वदृष्टार्थानामङ्गवैगुण्यादपूर्वानुत्पत्तौ फलाभावः स्यादिति सात्त्विकानामपि तेषामानर्थक्यं प्राप्तं प्रमाद-

[श्लोकार्थः—जो दान बहुत क्लेश मानकर प्रत्युपकारके लिये अथवा फलके उद्देश्यसे दिया जाता है वह राजस माना गया है ॥ २१ ॥]

(१) प्रत्युपकारके लिये अर्थात् कालान्तरमें यह मेरा उपकार करेगा इस प्रकार दृष्ट प्रयोजनसे तथा स्वर्गादि फलके उद्देश्यसे जो सात्त्विकसे भिन्न प्रकारका दान परिक्लिष्टतासे—'इतना खर्च कैसे कर डाला' इस प्रकारके पश्चात्तापपूर्वक दिया जाता है वह राजस माना गया है ॥ २१ ॥

[श्लोकार्थः—जो दान अपवित्र देश और कालमें अपात्रोंको दिया जाता है तथा जो असत्कार और पात्रके तिरस्कारसे युक्त होता है वह तामस कहा गया है ॥ २२ ॥]

(२) अदेशमें—स्वतः अथवा दुर्जनोंके संसर्गवश पापके हेतुभूत अपवित्र स्थानमें, अथवा अकालमें—पुण्यके हेतुरूपसे अप्रसिद्ध जिस-तिस अपवित्र कालमें अपात्रोंको—विद्या और तपसे रहित नट और विदूषकादिको जो दान दिया जाता है। तथा देश काल और पात्र होनेपर भी जो असत्कृत—प्रियभाषण पादप्रक्षालन एवं पूजादि सत्कारसे शून्य एवं अवज्ञात—पात्रके तिरस्कारसे युक्त होता है वह दान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

(३) सो इस प्रकार आहार, यज्ञ, तप और दानकी त्रिविधता कहकर यह बताया है कि ये सात्त्विक आहारादि ग्रहण करने योग्य हैं और राजस-तामस त्यागने योग्य हैं। इनमें आहारका प्रयोजन दृष्ट (प्रत्यक्ष) है, इसलिये इसके किसी अंगमें न्यूनता रह जानेसे पुण्यमें फल न मिलनेकी आशंका नहीं है। यज्ञ तप और दानका प्रयोजन तो अदृष्ट है, इसलिये इनके अंगमें त्रुटि रह जानेसे अपूर्व उत्पन्न न होनेके कारण फल न मिलना सम्भव है। अतः सात्त्विक होनेपर भी उनका अनुष्ठान करनेवालोंके प्रमादबहुल होनेपर उनकी व्यर्थता हो सकती है; सो उस दोषकी निवृत्तिके लिये श्रीभगवान् परम

बहुलत्वादनुष्ठातृणामतस्तद्वैगुण्यपरिहारायेतत्सदितिभगवन्नामोच्चारणरूपं सामान्यप्रायश्चित्तं परमकारुणिकतयोपदिशति भगवान्—

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

(१) ॐतत्सदित्येवंरूपो ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशो निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशः प्रतिपादकशब्दो नामेति यावत् । त्रिविधस्तिस्रो विधा अवयवा यस्य स त्रिविधः स्मृतो वेदान्तविद्भिः । एकवचनात्त्र्यवयवमेकं नाम प्रणववत् । यस्मात्पूर्वैर्महर्षिभिरयं ब्रह्मणो निर्देशः स्मृतस्तस्मादिदानींतनैरपि स्मर्तव्य इति विधिरत्र कल्प्यते । वषट्कर्तुः प्रथममभक्ष इत्यादिष्विव वचनानि स्वपूर्वत्वादिति न्यायात् । यज्ञदानतपःक्रियासंयोगाच्चास्य तदवैगुण्यमेव फलं नष्टाश्वदग्धरथवत्परस्पराकाङ्क्षया कल्प्यते ।

'प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् । स्मरणादेव तद्विष्णोः संपूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥'
इति स्मृतेस्तथैव शिष्टाचाराच्च । ब्रह्मणो निर्देशः स्तूयते कर्मवैगुण्यपरिहारसामर्थ्यकथनाय ।

(२) ब्राह्मणा इति त्रैवर्णिकोपलक्षणम् । ब्राह्मणाद्याः कर्तारो वेदाः करणानि यज्ञाः कर्माणि

कारुणिक होनेके कारण 'ॐ तत्सत्' इस भगवन्नामोच्चारणरूप सामान्य प्रायश्चित्तका उपदेश करते हैं—

[श्लोकार्थः—'ॐ तत् सत्' यह ब्रह्मका तीन प्रकारका नाम माना गया है। पूर्वकालमें प्रजापतिने इस नामसे ब्राह्मण, वेद और यज्ञोंकी रचना की थी ॥ २३ ॥]

(१) 'ॐ तत् सत्' इस प्रकारका ब्रह्म—परमात्माका निर्देश है। जिसके द्वारा निर्देश किया जाय उसे निर्देश—प्रतिपादक शब्द अर्थात् नाम कहते हैं। इस निर्देशको वेदान्तवेत्ताओंने त्रिविध—जिसके तीन विध अर्थात् अवयव हों ऐसा तीन प्रकारका माना है। एकवचन होनेके कारण यह प्रणवके समान तीन अवयवोंवाला एक नाम है। 'क्योंकि पूर्व महर्षियोंने इसे ब्रह्मका निर्देश माना है इसलिये आज-कलके विद्वानोंको भी यहाँ 'ॐ तत्सत्' इत्यादि श्लोकमें 'भगवन्नाम स्मर्त्तव्य है' ऐसी विधि माननी चाहिये, जैसे कि 'वषट्कर्ताको [हविशेष] पहले भक्षण करना चाहिये' इस श्रुतिमें 'अपूर्व होनेके कारण प्राथम्यविशिष्ट भक्षणका कथन है' इस जैमिनीय सूत्रोक्त न्यायसे विधि मानी गयी है। तथा यज्ञ दान तप और क्रियाके साथ इस ब्रह्मनिर्देशका संयोग होनेसे नष्टाश्वदग्धरथ न्यायसे[1] परस्पर आकांक्षा होनेके कारण उन यज्ञादिमें वैगुण्य न आने देना ही इसका फल है। इस प्रकार कर्म करनेवालोंके प्रमादसे यज्ञोंमें जो त्रुटि रह जाय तो वह विष्णु भगवान्के स्मरणसे पूर्ण हो जाती है—ऐसी श्रुति है' इस स्मृतिसे तथा शिष्ट पुरुषोंके आचरणसे यहाँ कर्मवैगुण्यके परिहारका सामर्थ्य बतानेके लिये इस ब्रह्मके निर्देशकी स्तुति की जाती है।

(२) 'ब्राह्मणाः' यह पद तीनों वर्णोंके पुरुषोंका उपलक्षण करानेके लिये है। ब्राह्मणादि कर्ता, वेद करण और यज्ञ कर्म—इन तीनोंको पूर्वकालमें प्रजापतिने इस करण-

1. जिस प्रकार कि दो मनुष्योंमेंसे यदि एकके घोड़े मर जायँ और दूसरेका रथ जल जाय तो उन दोनोंको आपसमें एक दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा रहती है।

तेन ब्रह्मणो निर्देशेन करणभूतेन पुरा विहिताः प्रजापतिना । तस्माद्यज्ञादिसृष्टिहेतुत्वेन तद्वैगुण्यपरिहारसमर्थो महाप्रभावोऽयं निर्देश इत्यर्थः ॥ २३ ॥

(१) इदानीमकारोकारमकारव्याख्यानेन तत्समुदायोंकारव्याख्यानवदोंकारतच्छब्दसच्छब्दव्याख्यानेन तत्समुदायरूपं ब्रह्मणो निर्देशं स्तुत्यतिशयाय व्याख्यातुमारभते चतुर्भिः । तत्र प्रथममोंकारं व्याचष्टे—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

(२) यस्मात् 'ओमिति ब्रह्म' इत्यादिषु श्रुतिष्वोमिति ब्रह्मणो नाम प्रसिद्धं तस्मादोमित्युदाहृत्योंकारोच्चारणानन्तरं विधानोक्ता विधिशास्त्रबोधिता ब्रह्मवादिनां वेदवादिनां यज्ञदानतपःक्रियाः सततं प्रवर्तन्ते प्रकृष्टतया वैगुण्यराहित्येन वर्तन्ते । यस्यैकावयवोच्चारणादप्यवैगुण्यं किं पुनस्तस्य सर्वस्योच्चारणादिति स्तुत्यतिशयः ॥ २४ ॥

(३) द्वितीयं तच्छब्दं व्याचष्टे—

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥

(४) 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं तदिति ब्रह्मणो नामोदाहृत्य फलमनभिसंधायान्तःकरणशुद्धयर्थं यज्ञतपःक्रिया दानक्रियाश्च विविधा मोक्षकाङ्क्षिभिः क्रियन्ते तस्मादतिप्रशस्तमेतत् ॥२५॥

भूत ब्रह्मके निर्देशद्वारा रचा था । अतः तात्पर्य यह है कि यज्ञादिकी सृष्टिका हेतु होनेसे यह महान् प्रभाववाला ब्रह्मका नाम उनकी न्यूनताको निवृत्त करनेमें समर्थ है ॥ २३ ॥

(१) अब अकार उकार और मकारकी व्याख्याद्वारा उनके समुदाय ॐकारकी व्याख्याके समान 'ॐकार' 'तत्' शब्द और 'सत्' शब्दकी व्याख्या द्वारा इनके समुदायरूप ब्रह्मके निर्देशकी, उसकी विशेष स्तुतिके लिये चार श्लोकों द्वारा व्याख्या करनी आरम्भ करते हैं । उनमें पहले ॐकारकी व्याख्या करते हैं—

[श्लोकार्थः—इसलिये 'ॐ' ऐसा उच्चारण करके वेदवादियोंकी यज्ञ दान और तपरूप वेदोक्त क्रियाएँ निरन्तर प्रवृत्त होती हैं ॥ २४ ॥]

(२) क्योंकि 'ॐ यह ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियोंमें ॐ यह ब्रह्मका नाम प्रसिद्ध है, इसलिये 'ॐ' ऐसा उच्चारण करनेके अनन्तर ब्रह्मवादियोंकी—वेदवेत्ताओंकी विधानोक्त—विधिशास्त्रद्वारा प्रतिपादित यज्ञ दान और तपरूप क्रियाएँ निरन्तर प्रवृत्त—प्रकृष्टतया अर्थात् न्यूनतासे रहित रहकर वर्तमान होती हैं । इस प्रकार जिसके एक अवयवके उच्चारणसे ही न्यूनता नहीं रहती उस सबके उच्चारणसे न्यूनता न रहे—इसमें तो कहना ही क्या है ? यह इसकी विशेष स्तुति है ॥ २४ ॥

(३) दूसरे 'तत्' शब्दकी व्याख्या करते हैं—

[श्लोकार्थः—'तत्' इस शब्दका उच्चारण करके मुमुक्षुओंद्वारा फलका अनुसन्धान न करते हुए तरह-तरहकी यज्ञ और तपरूप क्रियाएँ तथा दानक्रियाएँ की जाती हैं ॥ २५ ॥]

(४) 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध 'तत्' इस ब्रह्मके नामका उच्चारण करके मुमुक्षुओंद्वारा फलका अनुसन्धान न करते हुए विविध प्रकारकी यज्ञ और तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ की जाती हैं । इसलिये यह अत्यन्त श्रेष्ठ है । २५ ॥

(१) तृतीयं सच्छब्दं व्याचष्टे द्वाभ्याम्—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

(२) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं सदित्येतद्ब्रह्मणो नाम सद्भावेऽविद्यमानत्वशङ्कायां विद्यमानत्वे साधुभावे चासाधुत्वशङ्कायां साधुत्वे च प्रयुज्यते शिष्टैः । तस्माद्वैगुण्यपरिहारेण यज्ञादेः साधुत्वं तत्फलस्य च विद्यमानत्वं कर्तुं क्षममेतदित्यर्थः । तथा सद्भावसाधुभावयोरिव प्रशस्तेऽप्रतिबन्धेनाऽऽशुसुखजनके माङ्गलिके कर्मणि विवाहादौ सच्छब्दो हे पार्थ युज्यते प्रयुज्यते । तस्मादप्रतिबन्धेनाऽऽशुफलजनकत्वं वैगुण्यपरिहारेण यज्ञादेः समर्थमेतन्नामेति प्रशस्ततरमेतदित्यर्थः ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

(३) यज्ञे तपसि दाने च या स्थितिस्तत्परतयाऽवस्थितिर्निष्ठा साऽपि सदित्युच्यते विद्वद्भिः । कर्म चैव तदर्थीयं तेषु यज्ञदानतपोरूपेष्वर्थेषु भवं तदनुकूलमेव च कर्म । अथवा यस्य ब्रह्मणो नामेदं प्रस्तुतं तदेवार्थो विषयो यस्य तत्तदर्थं शुद्धब्रह्मज्ञानं तदनुकूलं कर्म तदर्थीयं, भगवदर्पणबुद्धया क्रियमाणं कर्म वा तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते । तस्मात्सदिति नाम कर्मवैगुण्यापनोदन-

(१) दो श्लोकोंद्वारा तीसरे 'सत्' शब्दकी व्याख्या करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! 'सत्' इस शब्दका प्रयोग वर्तमानता और साधुताके अर्थमें होता है तथा मांगलिक कर्मोंमें भी सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥]

(२) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध ब्रह्मका 'सत्' यह नाम शिष्ट पुरुषोंद्वारा सद्भावमें—अविद्यमानताकी शंका होनेपर विद्यमानताके अर्थमें तथा साधुभावमें—असाधुताकी शंका होनेपर साधुताके अर्थमें प्रयोग किया जाता है । अतः तात्पर्य यह है कि यह न्यूनताकी निवृत्ति करके यज्ञादिकी साधुता और उसके फलकी विद्यमानता करनेमें समर्थ है । तथा हे पार्थ ! सद्भाव और साधुभावके समान प्रशस्त—बिना प्रतिबन्धके सुख उत्पन्न करनेवाले विवाहादि माङ्गलिक कर्ममें भी सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है । इसलिये यह नाम यज्ञादिकी न्यूनताको निवृत्त करके प्रतिबन्धके बिना शीघ्र ही उसका फल उत्पन्न करनेमें समर्थ है । अतः तात्पर्य यह है कि यह बहुत ही श्रेष्ठ है ॥ २६ ॥

[श्लोकार्थः—यज्ञ तप और दानमें स्थिति होना 'सत्' ऐसा कहा जाता है । तथा उन यज्ञादिके अनुकूल कर्म भी 'सत्' ही कहलाता है ॥ २७ ॥]

(३) यज्ञ तप और दानमें जो स्थिति—तत्परतासे स्थिति अर्थात् निष्ठा है वह विद्वानोंद्वारा 'सत्' इस नामसे कही जाती है । तथा तदर्थीय—उन यज्ञ दान और तपरूप अर्थोंसे उत्पन्न होनेवाला अर्थात् उन्हींके अनुकूल, अथवा जिस ब्रह्मके नामका यह प्रसंग है वही जिसका अर्थ या विषय है वह शुद्ध ब्रह्मका ज्ञान ही तदर्थ है, उसके अनुकूल जो कर्म हो वह तदर्थीय है । अथवा भगवदर्पणबुद्धिसे किया जानेवाला कर्म तदर्थीय है, वह 'सत्' ऐसा कहा जाता है । इसलिये कर्मकी न्यूनताको निवृत्त करनेमें समर्थ 'सत्'

समर्थं प्रशस्ततरम् । यस्यैकैकोऽवयवोऽप्येतादृशः किं वक्तव्यं तत्समुदायस्योंतत्सदिति निर्देशस्य माहात्म्यमिति संपिण्डितार्थः ॥ २७ ॥

(१) यद्यालस्यादिना शास्त्रीयं विधिमुत्सृज्य श्रद्दधानतयैव वृद्धव्यवहारमात्रेण यज्ञतपोदानादि कुर्वतां प्रमादाद्वैगुण्ये प्राप्त ओंतत्सदिति ब्रह्मनिर्देशेन तत्परिहारस्तद्ध्यश्रद्दधानतया शास्त्रीयं विधिमुत्सृज्य कामकारेण यत्किंचिद्यज्ञादि कुर्वतामसुराणामपि तेनैव वैगुण्यपरिहारः स्यादिति कृतं श्रद्धया सात्त्विकत्वहेतुभूतयेत्यत आह—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

(२) अश्रद्धया यद्धुतं हवनं कृतमग्नौ दत्तं यद्ब्राह्मणेभ्यो यत्तप्तप्तं यच्चान्यत्कर्म कृतं स्तुतिनमस्कारादि तत्सर्वमश्रद्धया कृतमसदसाधित्युच्यते । अत ओंतत्सदितिनिर्देशेन न तस्य साधुभावः शक्यते कर्तुं सर्वथा तदयोग्यत्वाच्छिलाया इवाङ्कुरः ।

(३) तत्कस्मादसदित्युच्यते शृणु हे पार्थ । चो हेतौ । यस्मात्तदश्रद्धाकृतं न प्रेत्य परलोके फलति विगुणत्वेनापूर्वाजनकत्वात्, नो इह नापीह लोके यशः साधुभिर्निन्दितत्वात्, अत ऐहिकामुष्मि-

यह नाम श्रेष्ठतर है । जिसका एक-एक अवयव भी ऐसा है उस समुदाय रूप 'ॐ तत्सत्' इस ब्रह्मके निर्देशके माहात्म्यका तो कहना ही क्या है—यह इनका संयुक्त अर्थ है ॥ २७ ॥

(१) 'यदि आलस्यादिके कारण शास्त्रीय विधिको त्यागकर श्रद्धापूर्वक ही वृद्धव्यवहारमात्रसे यज्ञ तप और दानादि करनेवालोंके कर्ममें न्यूनता आनेपर उसकी 'ॐ तत्सत्' इस ब्रह्मके नामसे निवृत्ति हो सकती है तो अश्रद्धालु होकर शास्त्रीय विधिका परित्याग कर स्वेच्छासे चाहे-जो यज्ञादि कर्म करनेवाले आसुरी पुरुषोंके कर्मकी न्यूनताका भी उसीसे परिहार हो जायगा । अतः सात्त्विकत्वकी हेतुभूता श्रद्धाकी कोई आवश्यकता नहीं है' ऐसा यदि कोई कहे तो कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! अश्रद्धापूर्वक जो कुछ हवन किया जाता है, जो कुछ दिया जाता है, जो कुछ तप किया जाता है और जो कुछ कोई दूसरा कर्म किया जाता है वह 'असत्' कहलाता है । वह न मरनेपर और न इस लोकमें ही कोई फल देनेवाला होता है ॥ २८ ॥]

(२) अश्रद्धासे जो हुत अर्थात् अग्निमें हवन किया जाता है, जो कुछ ब्राह्मणोंको दिया जाता है और जो तप किया जाता है, इनके सिवा जो कोई स्तुति-नमस्कारादि दूसरा कर्म किया जाता है वह सब अश्रद्धासे किया हुआ असत् अर्थात् असाधु कहा जाता है । इसलिये 'ॐ तत्सत्' इस निर्देशसे उसकी साधुता नहीं की जा सकती, क्योंकि शिलासे अङ्कुर होनेके समान वह सर्वथा साधु होनेके अयोग्य है ।

(३) वह 'असत्' क्यों कहलाता है, सो हे पार्थ ! सुनो । यह 'च' शब्द हेतु अर्थमें है । क्योंकि वह अश्रद्धासे किया हुआ होता है इसलिये कर्मवैगुण्यके कारण अपूर्वका जनक न होनेसे वह मरनेपर परलोकमें फल नहीं देता और साधुओंसे निन्दित

कफलविकलत्वादश्रद्धाकृतस्य सात्त्विक्या श्रद्धयैव सात्त्विकं यज्ञादि कुर्यादन्तःकरणशुद्धये । तादृशस्यैव श्रद्धापूर्वकस्य सात्त्विकस्य यज्ञादेर्देवाद्वैगुण्यशङ्कायां ब्रह्मणो नामनिर्देशेन सादगुण्यं संपादनीयमिति परमार्थः । श्रद्धापूर्वकमसात्त्विकमपि यज्ञादि विगुणं ब्रह्मणो नामनिर्देशेन सात्त्विकं सगुणं च संपादितं भवतीति भाष्यम् ।

(१) तदेवमस्मिन्नध्याय आलस्यादिनाऽनादृतशास्त्राणां श्रद्धापूर्वकं वृद्धव्यवहारमात्रेण प्रवर्तमानानां शास्त्रानादरेणासुरसाधर्म्येण श्रद्धापूर्वकानुष्ठानेन च देवसाधर्म्येण किमसुरा अमी देवा वेत्यर्जुनसंशयविषयाणां राजसतामसश्रद्धापूर्वकं राजसतामसयज्ञादिकारिणोऽसुराः शास्त्रीयज्ञानसाधनानधिकारिणः सात्त्विकश्रद्धापूर्वकं सात्त्विकयज्ञादिकारिणस्तु देवाः शास्त्रीयज्ञानसाधनाधिकारिण इति श्रद्धात्रैविध्यपदर्शनमुखेनाऽऽहारादित्रैविध्यप्रदर्शनेन भगवता निर्णयः कृत इति सिद्धम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां श्रद्धात्रयविभागयोगविवरणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

होनेके कारण इस लोकमें भी यश नहीं देता । अतः अश्रद्धापूर्वक किया हुआ कर्म लौकिक और पारलौकिक फलसे रहित होनेके कारण यज्ञादि सात्त्विक कर्मोंको अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये सात्त्विकी श्रद्धासे सम्पन्न होकर ही करना चाहिये । ऐसे श्रद्धापूर्वक किये हुए सात्त्विक यज्ञादिकी ही, उसमें वैगुण्यकी आशंका होनेपर, ब्रह्मके नामनिर्देशद्वारा साधुता सम्पादन करनी चाहिये—यह इसका वास्तविक चरम तात्पर्य है । 'श्रद्धापूर्वक किया हुआ असात्त्विक और न्यूनतायुक्त यज्ञादि भी ब्रह्मके नामनिर्देशद्वारा सात्त्विक और सगुण कर दिया जाता है' यह भाष्य है ।

(१) इस प्रकार जो पुरुष आलस्यादिके कारण शास्त्रका अनादर करनेवाले एवं श्रद्धापूर्वक वृद्धव्यवहारमात्रसे कर्ममें प्रवृत्त होनेवाले हैं तथा शास्त्रके अनादररूप आसुरी धर्मकी समानता और श्रद्धापूर्वक कर्मानुष्ठानरूप देवधर्मकी समानतासे युक्त होनेके कारण 'ये असुर हैं या देव' इस प्रकार अर्जुनकी शंकाके विषय बने हुए हैं उनके विषयमें इस अध्यायमें भगवान्‌ने श्रद्धाकी त्रिविधताके प्रदर्शन द्वारा आहारादिमें त्रिविधताका प्रदर्शन करते हुए यह निर्णय किया है कि राजस-तामस श्रद्धापूर्वक राजस-तामस यज्ञादि करनेवाले तो असुर हैं, वे शास्त्रीय ज्ञानके साधनोंके अधिकारी नहीं हैं और जो सात्त्विकी श्रद्धापूर्वक सात्त्विक यज्ञोंके अधिकारी हैं वे देव हैं । उन्हें शास्त्रीय ज्ञानके साधनोंका भी अधिकार है—यह इससे सिद्ध होता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती-विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका टीकाके हिन्दीभाषान्तरका श्रद्धात्रय-विभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

(१) पूर्वाध्याये श्रद्धात्रैविध्येनाऽऽहारयज्ञतपोदानत्रैविध्येन च कर्मिणां त्रैविध्यमुक्तं सात्त्विकानामादानाय राजसतामसानां च हानाय। इदानीं तु संन्यासत्रैविध्यकथनेन संन्यासिनामपि त्रैविध्यं वक्तव्यम्। तत्र तत्त्वबोधानन्तरं यः फलभूतः सर्वकर्मसंन्यासः स चतुर्दशेऽध्याये गुणातीतत्वेन व्याख्यातत्वान्न सात्त्विकराजसतामसभेदमर्हति। योऽपि तत्त्वबोधात्प्राक्तदर्थं सर्वकर्मसंन्यासस्तत्त्वबुभुत्सया वेदान्तवाक्यविचाराय भवति सोऽपि 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यादिना निर्गुणत्वेन व्याख्यातः। यस्त्वनुत्पन्नतत्त्वबोधानामनुत्पन्नतत्त्वबुभुत्सानां च कर्मसंन्यासः 'स संन्यासी च योगी च' इत्यादिना गौणो व्याख्यातस्तस्य त्रैविध्यसंभवात्तद्विशेषं बुभुत्सुः—

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

(२) अविदुषामनुपजातविविदिषाणां च कर्माधिकृतानामेव किंचित्कर्मपरिग्रहेण किंचित्कर्मपरित्यागो यः स त्यागांशगुणयोगात्संन्यासशब्देनोच्यते। एतादृशस्यान्तःकरणशुद्ध्यर्थमविद्वत्कर्माधि-

(मोक्षसंन्यासयोग)

(१) पिछले अध्यायमें सात्त्विकोंके ग्रहण और राजस-तामसोंके त्यागके लिये श्रद्धाकी त्रिविधता तथा आहार यज्ञ तप और दानकी त्रिविधताके द्वारा कर्मियोंकी त्रिविधताका वर्णन किया गया है। अब संन्यासकी त्रिविधता बताकर संन्यासियोंकी त्रिविधताका भी वर्णन करना है। उसमें जो तत्त्वबोधके अनन्तर उसका फलभूत सर्वकर्मसंन्यास होता है, जिसकी कि चौदहवें अध्यायमें गुणातीत रूपसे व्याख्या की गयी है वह सात्त्विक राजस तामस भेदके योग्य नहीं है। तत्त्वबोधके पूर्व उसीके लिये जो सर्वकर्मसंन्यास तत्त्वकी जिज्ञासासे वेदान्तवाक्यके विचारके लिये किया जाता है उसे भी 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यादि श्लोक द्वारा निर्गुणरूपसे व्याख्यात किया गया है। किन्तु जिन्हें न तो तत्त्वबोध हुआ है और न तत्त्वजिज्ञासा ही उत्पन्न हुई है उन पुरुषोंके जिस गौण कर्मसंन्यासकी 'स संन्यासी च योगी च' इत्यादि श्लोकसे व्याख्या की गयी है उसीकी त्रिविधता सम्भव होनेसे उसकी विशेषता जाननेकी इच्छासे—

[श्लोकार्थः—अर्जुनने कहा—हे महाबाहो ! हे इन्द्रियोंके नियन्ता ! हे केशीदैत्यका वध करनेवाले ! मैं संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥]

(२) [अर्जुनने कहा—] जिन्हें ज्ञान नहीं हुआ है और न जिज्ञासा ही उत्पन्न हुई है उन कर्माधिकारियोंका ही जो किसी कर्मके ग्रहणपूर्वक किसी कर्मका परित्याग किया जाता है उसके साथ त्यागांशरूप गुणका सम्बन्ध रहनेसे उसे 'संन्यास' शब्दसे कहा जाता है। ऐसे अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये किये जानेवाले ज्ञानहीन कर्माधिकारियोंके किये हुए संन्यासका—किसी रूपसे किये हुए कर्मत्यागका तत्त्व—स्वरूप मैं अलग-अलग

कारिकर्तृकस्य संन्यासस्य केनचिद्रूपेण कर्मत्यागस्य तत्त्वं स्वरूपं पृथक्सात्त्विकराजसतामसभेदेन वेदितुमिच्छामि। त्यागस्य च तत्त्वं वेदितुमिच्छामि।

(१) किं संन्यासत्यागशब्दौ घटपटशब्दाविव भिन्नजातीयार्थौ किं वा ब्राह्मणपरिव्राजकशब्दाविवैकजातीयार्थौ। यद्याद्यस्तर्हि त्यागस्य तत्त्वं संन्यासात्पृथग्वेदितुमिच्छामि। यदि द्वितीयस्तर्ह्यवान्तरोपाधिभेदमात्रं वक्तव्यम्। एकव्याख्यानेनैवोभयं व्याख्यातं भविष्यति।

(२) महाबाहो केशिनिषूदनेति संबोधनाभ्यां बाह्योपद्रवनिवारणस्वरूपयोग्यताफलोपधाने प्रदर्शिते। हृषीकेशेत्यन्तरुपद्रवनिवारणसामर्थ्यमिति भेदः। अत्यनुरागात्संबोधनत्रयम्। अत्रार्जुनस्य द्वौ प्रश्नौ। कर्माधिकारिकर्तृकत्वेन पूर्वोक्तयज्ञादिसाधर्म्येण संन्यासशब्दप्रतिपाद्यत्वेन च गुणातीतसंन्यासद्वयसाधर्म्येण त्रैगुण्यसंभवासंभवाभ्यां संशयः प्रथमस्य प्रश्नस्य बीजम्। द्वितीयस्य तु संन्यासत्यागशब्दयोः पर्यायत्वात्कर्मफलत्यागरूपेण च वैलक्षण्योक्तेः संशयो बीजम् ॥ १ ॥

(३) तत्रान्तिमस्य सूचिकटाहन्यायेन निराकरणायोत्तरम्—

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।

अर्थात् सात्त्विक राजस तामस भेदसे जानना चाहता हूँ तथा त्यागका तत्त्व भी जानना चाहता हूँ।

(१) संन्यास और त्याग शब्द घट-पट शब्दोंके समान भिन्नजातीय अर्थोंके बोधक हैं या ब्राह्मण परिव्राजक आदि शब्दोंके समान एक ही जातिके अर्थका ज्ञान कराते हैं ? यदि पहला पक्ष है तब तो मैं संन्याससे पृथक् त्यागका तत्त्व जानना चाहता हूँ और यदि दूसरा पक्ष है तो इनके अवान्तर उपाधिभेदमात्रोंका ही वर्णन कीजिये। तब तो एक की व्याख्या करनेसे ही दोनोंकी व्याख्या हो जायगी।

(२) 'महाबाहो' और 'केशिनिषूदन' इन दो सम्बोधनोंद्वारा बाह्य उपद्रवोंके निवारणकी स्वरूपतः योग्यता और फलकी समीपता प्रदर्शित की हैं तथा 'हृषीकेश' इस सम्बोधनसे आन्तर उपद्रवोंके निवारणका सामर्थ्य प्रकट किया है—यह इनमें भेद है। अत्यन्त अनुरागके कारण ये तीन सम्बोधन दिये गये हैं। यहाँ अर्जुनके दो प्रश्न हैं। इनमें प्रथम प्रश्नका बीज तो यह संशय है कि कर्माधिकारीद्वारा किया जानेके कारण इसका पूर्वोक्त यज्ञादि कर्मोंसे साधर्म्य होनेसे इसकी त्रिगुणता सम्भव है, किन्तु 'संन्यास' शब्दसे प्रतिपाद्य होनेसे दो प्रकारके निर्गुण संन्याससे साधर्म्य होनेके कारण इसकी त्रिगुणता सम्भव है नहीं। तथा द्वितीय प्रश्नका बीज यह संशय है कि 'संन्यास' और 'त्याग' शब्द हैं तो पर्यायवाची किन्तु कर्मत्याग और कर्मफलत्यागरूपसे उनकी विलक्षणता बतलायी गयी है ॥ १ ॥

(३) इनमेंसे अन्तिम प्रश्नका सूची-कटाहन्यायसे[1] निराकरण करनेके लिये श्रीभगवान्‌ने उत्तर दिया—

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान्‌ने कहा—सूक्ष्मदर्शी पुरुष काम्यकर्मोंके त्यागको संन्यास

१. जिस प्रकार लुहारको यदि सूई और कड़ाही बनानेको दिये जायँ तो जल्दी बनायी जा सकनेके कारण वह पहले सूई बनाता है और पीछे कड़ाही, इसी तरह सुगम होनेके कारण यहाँ पहले अन्तिम प्रश्नका उत्तर दिया जाता है।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

(१) काम्यानां फलकामनया चोदितानामन्तःकरणशुद्धावनुपयुक्तानां कर्मणामिष्टिपशुसोमादीनां न्यासं त्यागं संन्यासं विदुर्जानन्ति कवयः सूक्ष्मदर्शिनः केचित्। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति वाक्येन वेदानुवचनशब्दोपलक्षितस्य ब्रह्मचारिधर्मस्य यज्ञदानशब्दाभ्यामुपलक्षितस्य गृहस्थधर्मस्य तपोनाशकशब्दाभ्यामुपलक्षितस्य वानप्रस्थधर्मस्य नित्यस्य नित्येन हि पापक्षयेण द्वारेणाऽऽत्मज्ञानार्थत्वं बोध्यते। न च विनियोगवैयर्थ्यं 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इत्यनेनैव लब्धत्वादिति वाच्यं, विनियोगाभावे हि सत्यपि नित्यकर्मानुष्ठाने ज्ञानं स्याद्वा न वा स्यात्, सति तु विनियोगे ज्ञानमवश्यं भवेदेवेति नियमार्थत्वात्। तस्मान्नित्यकर्मणामेव वेदने विविदिषायां वा विनियोगात्सत्त्वशुद्धिविविदिषोत्पत्तिपूर्वकवेदनार्थिना नित्यान्येव कर्माणि भगवदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठेयानि। काम्यानि तु सर्वाणि सफलानि परित्याज्यानीत्येकं मतम्।

(२) अपरं मतं सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः, सर्वेषां काम्यानां नित्यानां च प्रतिपादोक्तफलत्यागं सत्त्वशुद्ध्यर्थितया विविदिषासंयोगेनानुष्ठानं विचक्षणा विचारकुशलास्त्यागं प्राहुः। 'खादिरो यूपो भवति' 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं करोति' इत्यत्र यथैकस्य खादिरत्वस्य क्रतुप्रकरणपाठात्फलसंयोगाच्च क्रत्वर्थत्वं पुरुषार्थत्वं च प्रमाणभेदात्तथाऽग्निहोत्रेष्टिपशुसोमानां सर्वेषामपि

मानते हैं तथा विचारशील पुरुषोंने समस्त कर्मोंके फलत्यागको त्याग कहा है ॥ २ ॥]

(१) कवि—सूक्ष्मदर्शी पुरुष काम्य—फलकामनासे विहित तथा अन्तःकरणकी शुद्धिमें अनुपयुक्त इष्टि पशु एवं सोमादि कर्मोंके न्यास—त्यागको संन्यास जानते हैं। किन्हींका मत है कि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इस श्रुतिद्वारा वेदानुवचनसे उपलक्षित ब्रह्मचारीके धर्मकी, यज्ञ और दान शब्दोंसे उपलक्षित गृहस्थधर्मकी और तप एवं अनाशक शब्दोंसे उपलक्षित वानप्रस्थधर्मकी नित्यके द्वारा अर्थात् नित्य पापक्षयके द्वारा आत्मज्ञानार्थता बोधित की गयी है। नित्य कर्मोंका ज्ञानके लिये विनियोग करना व्यर्थ है—ऐसा कहना नहीं चाहिये, क्योंकि 'पुरुषोंको पापकर्मोंका क्षय होनेसे ज्ञान उत्पन्न होता है' इस श्रुतिसे यही बात प्राप्त होती है। विनियोग न करनेपर तो नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेपर ज्ञान हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता, किन्तु विनियोग होनेपर तो ज्ञान अवश्य होगा ही—इस प्रकार नित्य कर्मोंका विनियोग नियमविधिके लिये है; अतः ज्ञान और जिज्ञासामें नित्यकर्मोंका ही विनियोग विहित होनेके कारण जिसे अन्तःकरणकी शुद्धि और जिज्ञासाकी उत्पत्तिपूर्वक बोधप्राप्तिकी इच्छा है उसे भगवदर्पणबुद्धिपूर्वक नित्य कर्मोंका ही अनुष्ठान करना चाहिये, सम्पूर्ण काम्य कर्मोंका तो उनके फलके सहित परित्याग कर देना चाहिये—ऐसा एक मत है।

(२) दूसरा मत यह है—'विचारशील पुरुष समस्त कर्मोंके फलत्यागको त्याग कहते हैं।' अर्थात् समस्त काम्य और नित्य कर्मोंके पृथक्-पृथक् कहे हुए फलोंके त्यागको यानी अन्तःकरणशुद्धिरूप प्रयोजनवाले होकर जिज्ञासाके संयोगपूर्वक उनका अनुष्ठान करनेको विचक्षण—विचार-कुशल पुरुष त्याग कहते हैं। 'खदिर (खैरकी लकड़ी)का यूप होता है' 'वीर्यकामीके लिये खदिरका यूप बनाता है' इन विधियोंमें जैसे एक ही खदिरताका यज्ञके प्रकरणमें पाठ और फलका संयोग होनेसे प्रमाणभेदसे यज्ञार्थत्व और पुरुषार्थत्व

शतपथपठितानां स्वोत्पत्तिविधिसिद्धानां तत्तत्फलसंयोगः प्रत्येकवाक्येन विविदिषासंयोगश्च यज्ञादिवाक्येन क्रियत इत्युपपन्नमेकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमिति न्यायात्। तदुक्तं संक्षेपशारीरके—

'यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा
स्वोत्पत्त्याज्ञातसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति ॥' इति।

तस्मात्काम्यान्यपि फलाभिसंधिमकृत्वाऽन्तःकरणशुद्धये कर्तव्यानि। न ह्यग्निहोत्रादिकर्मणां स्वतः काम्यत्वनित्यत्वरूपो विशेषोऽस्ति। पुरुषाभिप्रायभेदकृतस्तु विशेषः फलाभिसंधित्यागे कृतस्थः। नित्यकर्मणां च प्रातिस्विकफलसद्भावम् 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्' इत्यत्र वक्ष्यति।

(१) नित्यानामेव विविदिषासंयोगेन काम्यानां कर्मणां फलेन सह स्वरूपतोऽपि परित्यागः पूर्वार्धस्यार्थः। काम्यानां नित्यानां च संयोगपृथक्त्वेन विविदिषासंयोगात्तदर्थं स्वरूपतोऽनुष्ठानेऽपि प्रातिस्विकफलाभिसंधिमात्रपरित्याग इत्युत्तरार्धस्यार्थः। तदेतदाहुर्वार्तिककृतः—

'वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने। तमेतमिति वाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥
यद्वा विविदिषार्थत्वं सर्वेषामपि कर्मणाम्। तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ॥' इति।

तदेवं सफलकाम्यकर्मत्यागः संन्यासशब्दार्थः। सर्वेषामपि कर्मणां फलाभिसंधित्यागस्त्याग-

---

दोनों सिद्ध होते हैं उसी प्रकार शतपथमें पठित और अपनी उत्पत्तिकी विधिसे सिद्ध अग्निहोत्र, इष्टि, पशु, और सोम सभीका (उनके फलका प्रतिपादन करनेवाले) प्रत्येक वाक्यद्वारा उस-उस फलसे संयोग तथा 'यज्ञेन दानेन' इत्यादि वाक्य द्वारा विविदिषासे संयोग कर दिया जाता है—सो उचित ही है। इस विषयमें 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्'[1] यह भट्टोक्त न्याय प्रमाण है। संक्षेपशारीरकमें भी ऐसा कहा है—'यज्ञेन' इत्यादि वाक्य शतपथमें विहित एवं अपनी उत्पत्तिके उल्लेखमात्रसे सिद्ध कर्मसमूहको लेकर पुरुषको जिज्ञासामात्र साध्यमें नियुक्त करता है।' अतः काम्य कर्मोंको भी फलकी इच्छा न रखकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये करना चाहिये। अग्निहोत्रादि कर्मोंमें स्वयं काम्यत्व और नित्यत्वरूप कोई विशेष नहीं है। पुरुषोंके अभिप्रायके भेदसे हुआ विशेष तो फलाकांक्षाका त्याग होनेपर रह ही कहाँ सकता है ? नित्य कर्मोंके अपने-अपने फलकी सत्ताका निरूपण 'अनिष्टमिष्टमिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्' इस स्थानपर किया जायगा।

(१) इस प्रकार नित्यकर्मोंका ही विविदिषासे संयोग होनेके कारण काम्य कर्मोंका उनके फलके सहित स्वरूपतः परित्याग करना—यह पूर्वार्धका अर्थ है तथा संयोगपृथक्त्वन्यायसे काम्य और नित्य दोनों प्रकारके कर्मोंका विविदिषासे संयोग हो सकनेके कारण उनका स्वरूपतः अनुष्ठान करते रहनेपर भी उनके अपने-अपने फलकी आकांक्षामात्रका परित्याग करना—यह उत्तरार्धका तात्पर्य है। यही बात वार्तिककारोंने भी कही है—'तमेतं ब्राह्मणा वेदानुवचनेन' इत्यादि वाक्यद्वारा वेदानुवचनादि नित्य कर्मोंकी ऐकात्म्यज्ञानकी उत्पत्तिमें विधि की गयी है। अथवा संयोगकी पृथक्ताके कारण 'तमेतं' इत्यादि वाक्यसे सभी कर्मोंको विविदिषाके लिये बताया गया है।' इस प्रकार 'संन्यास' शब्दका अर्थ तो फलसहित काम्य कर्मोंका त्याग है तथा 'त्याग' शब्दका अर्थ सभी प्रकारके कर्मोंकी फलाशाका त्याग है। अतः 'घट' और 'पट' शब्दोंके समान 'संन्यास'

---

१. जहाँ एक पदार्थके दो प्रयोजन होते हैं वहाँ उन प्रयोजनोंके साथ उसके अलग-अलग संयोग मानने चाहिये। जिस प्रकार एक ही नित्यकर्म यज्ञके लिये और पुरुषार्थके लिये माना जाय तो उसके द्वारा होनेवाले फलके संयोग और जिज्ञासाके संयोगको अलग-अलग समझना चाहिये।

शब्दार्थ इति न घटपटशब्दयोरिव संन्यासत्यागशब्दयोर्भिन्नजातीयार्थत्वं किं त्वन्तःकरणशुद्ध्यर्थकर्मानुष्ठाने फलाभिसंधित्याग इत्येक एवार्थ उभयोरिति निर्णीत एकः प्रश्नोऽर्जुनस्य ॥ २ ॥

(१) अधुना द्वितीयप्रश्नप्रतिवचनाय संन्यासत्यागशब्दार्थस्य त्रैविध्यं निरूपयितुं तत्र विप्रतिपत्तिमाह—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

(२) सर्वं कर्म बन्धहेतुत्वाद्दोषवद्दुष्टमतः कर्माधिकृतैरपि कर्म त्याज्यमेवेत्येके मनीषिणः प्राहुः । यद्वा दोषवदोष इव, यथा दोषो रागादिस्त्यज्यते तद्वत्कर्म त्याज्यमनुत्पन्नबोधैरनुत्पन्नविविदिषैः कर्माधिकारिभिरपीत्येकः पक्षः । अत्र द्वितीयः पक्षः कर्माधिकारिभिरन्तःकरणशुद्धिद्वारा विविदिषोत्पत्त्यर्थं यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे मनीषिणः प्राहुः ॥ ३ ॥

(३) एवं विप्रतिपत्तौ—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

(४) तत्र त्वया पृष्टे कर्माधिकारिकर्तृके संन्यासत्यागशब्दाभ्यां प्रतिपादिते त्यागे फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागे मे मम वचनान्निश्चयं पूर्वाचार्यैः कृतं शृणु हे भरतसत्तम । किं तत्र दुर्ज्ञेयमस्तीत्यत

और 'त्याग' शब्दोंकी भिन्नजातीयार्थता नहीं है, अपितु अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्मानुष्ठानमें फलाकांक्षाका त्याग—यह दोनोंका एक ही अर्थ है—इस तरह अर्जुनके एक प्रश्नका निर्णय हुआ ॥ २ ॥

(१) अब दूसरे प्रश्नका उत्तर देनेके लिये संन्यास और त्याग शब्दोंके अर्थकी त्रिविधताका निरूपण करनेके विचारसे इस विषयमें मतभेदोंका उल्लेख करते हैं—

[श्लोकार्थः—कुछ बुद्धिमान् लोगोंका तो कथन है कि दोषयुक्त होनेके कारण सभी कर्मोंको त्याग देना चाहिये; किन्तु दूसरे लोग कहते हैं कि यज्ञ दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥]

(२) 'समस्त कर्म बन्धनके हेतु होनेसे दोषयुक्त हैं, अतः कर्मके अधिकारियोंको भी कर्मोंका त्याग ही करना चाहिये' ऐसा कुछ बुद्धिमान् कहते हैं। अथवा 'दोषवत्—दोषके समान अर्थात् जिस प्रकार रागादि दोषका त्याग किया जाता है उसी प्रकार जिन्हें ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है और न जिज्ञासा ही उत्पन्न हुई है उन कर्मके अधिकारियोंको भी कर्मोंका त्याग करना चाहिये' यह एक पक्ष है। इस विषयमें दूसरा पक्ष यह है—'कर्माधिकारियोंको अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा जिज्ञासाकी उत्पत्तिके लिये यज्ञ, दान और तप इन कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये'—ऐसा दूसरे बुद्धिमानोंका कथन है ॥ ३ ॥

(३) इस प्रकार मतभेद होनेपर—

[श्लोकार्थः—हे भरतश्रेष्ठ ! उस त्यागके विषयमें तुम मेरा निश्चय सुनो। हे पुरुषसिंह ! त्याग तीन प्रकारका बताया गया है ॥ ४ ॥]

(४) हे भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे द्वारा पूछे हुए कर्माधिकारियों द्वारा किये जानेवाले तथा 'संन्यास' और 'त्याग' शब्दोंसे प्रतिपादित त्यागके अर्थात् फलाकांक्षापूर्वक कर्म-

आह—हे पुरुषव्याघ्र पुरुषश्रेष्ठ हि यस्मात्यागः कर्माधिकारिकर्तृकः फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागस्त्रिविधस्त्रिप्रकारस्तामसादिभेदेन संप्रकीर्तितः । अथवा विशिष्टाभावरूपस्त्यागो विशेषणाभावाद्विशेष्याभावादुभयाभावाच्च त्रिविधः संप्रकर्तितीः । तथाहि—फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागः सत्यपि कर्मणि फलाभिसंधित्यागादेकः, सत्यपि फलाभिसंधौ कर्मत्यागाद्द्वितीयः, फलाभिसंधेः कर्मणश्च त्यागात्तृतीयः । तत्र प्रथमः सात्त्विक आदेयः । द्वितीयस्तु हेयो द्विविधः, दुःखबुद्ध्या कृतो राजसः, विपर्यासेन कृतस्तामसः । एतावान्कर्माधिकारिकर्तृकस्त्यागोऽर्जुनस्य प्रश्नविषयः । तृतीयस्तु कर्मानधिकारिकर्तृको नैर्गुण्यरूपो नार्जुनप्रश्नविषयः । सोऽपि साधनफलभेदेन द्विविधः । तत्र सात्त्विकेन फलाभिसंधित्यागपूर्वककर्मानुष्ठानरूपेण त्यागेन शुद्धान्तःकरणस्योत्पन्नविविदिषस्याऽऽत्मज्ञानसाधनश्रवणाख्यवेदान्तविचाराय फलाभिसंधिरहितस्यान्तःकरणशुद्धौ सत्यां तत्साधनस्य कर्मणो वैतुष्ण्ये जात इवावहनस्य परित्यागः । स एकः साधनभूतो विविदिषासंन्यास उच्यते । तमग्रे नैष्कर्म्यसिद्धिं परमामिति वक्ष्यति । द्वितीयस्तु जन्मान्तरकृतसाधनाभ्यासपरिपाकादस्मिञ्जन्मन्यादावेवोत्पन्नात्मबोधस्य कृतकृत्यस्य स्वत एव फलाभिसंधेः कर्मणश्च परित्यागः फलभूतः । स विद्वत्संन्यास इत्युच्यते । स तु यस्त्वात्मरतिरेव स्यादित्यादिश्लोकाभ्यां प्राग्व्याख्यातः । स्थितप्रज्ञलक्षणादिभिश्च बहुधा प्रपञ्चितः ।

त्यागके विषयमें पूर्वाचार्योंके किये हुए निश्चयको मेरे वचनद्वारा सुनो। 'उसमें कठिनतासे जानी जा सके, ऐसी क्या बात है ?' इसपर कहते हैं—हे पुरुषव्याघ्र—हे पुरुषश्रेष्ठ ! 'हि'—क्योंकि कर्माधिकारीका किया हुआ फलानुसन्धानपूर्वक कर्मत्याग त्रिविध—तामसादि भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है। अथवा विशिष्टाभावरूप त्याग त्रिशेषण, विशेष्य तथा इन दोनोंके अभावके कारण तीन प्रकारका कहा गया है; जिस प्रकार कि फलाभिसन्धिपूर्वक कर्मत्याग ही कर्मके रहते हुए भी फलाभिसन्धिके त्यागसे एक प्रकारका, फलाभिसन्धिके रहते हुए भी कर्मत्याग करनेपर दूसरे प्रकारका तथा फलाभिसन्धि और कर्म दोनोंका त्याग करनेपर तीसरे प्रकारका है। इनमें पहला सात्त्विक त्याग तो ग्रहण करने योग्य है, किन्तु दूसरा त्याज्य है। वह दो प्रकारका है—दुःख बुद्धिसे किया हुआ त्याग राजस तथा मोहवश किया हुआ तामस। इतना कर्माधिकारीके द्वारा किया जानेवाला त्याग ही अर्जुनके प्रश्नका विषय है, तीसरा जो कर्मके अनधिकारीद्वारा किया हुआ निर्गुणतारूप त्याग है वह अर्जुनके प्रश्नका विषय नहीं है। वह भी साधन और फल इस प्रकारका भेद होनेसे दो प्रकारका है। जो पुरुष फलाभिसन्धिके त्यागपूर्वक कर्मोंके अनुष्ठानरूप सात्त्विक त्यागसे शुद्धचित्त हो गया है और जिसे जिज्ञासा तथा आत्मज्ञानका साधन श्रवणरूप वेदान्तविचार उत्पन्न हो गया है उस फलाशाशून्य पुरुषके अन्तःकरणकी शुद्धि हो जानेपर, तुष उतर जानेपर धान कूटनेकी क्रियाके त्यागके समान, जो कर्मका त्याग होता है वह तो पहला साधनभूत 'विविदिषासंन्यास' कहलाता है। इसका आगे 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमाम्' इत्यादि श्लोकसे वर्णन करेंगे। किन्तु जिसे जन्मान्तरमें किये हुए साधनोंके अभ्यासके परिपाकसे इस जन्मके आरम्भमें ही आत्मज्ञान हो गया है और जो कृतकृत्य है उसका जो स्वयं ही फलाभिसन्धि और कर्मका फलभूत परित्याग होता है वह दूसरा विद्वत्संन्यास कहलाता है। इसकी 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' इत्यादि दो श्लोकोंसे पहले व्याख्या की जा चुकी है तथा स्थितप्रज्ञके लक्षणादिसे इसका अनेक प्रकारसे विवेचन किया जा चुका है। क्योंकि इस प्रकार त्यागका तत्त्व दुर्विज्ञेय है और तुमने कहा है कि मैं उस तत्त्वको जानना चाहता हूँ, इसलिये मुझ सर्वज्ञके वचनद्वारा उसे जानो—ऐसा इसका अभिप्राय है। यहाँ अर्जुनकी योग्यताकी विशेषता सूचित करनेके

यस्मादेवं त्यागस्य तत्त्वं दुर्ज्ञेयं त्वया चोक्तं तत्त्वं वेदितुमिच्छामीति, अतो मम सर्वज्ञस्य वचनाद्विधीत्यभिप्रायः । संबोधनद्वयेन कुलनिमित्तोत्कर्षः पौरुषनिमित्तोत्कर्षश्च योग्यतातिशयसूचनायोक्तः ॥ ४ ॥

(१) कोऽसौ निश्चयो विप्रतिपत्तिकोटिभूतयोः पक्षयोर्द्वितीयः पक्ष इत्याह द्वाभ्याम्—

यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

(२) चो हेतौ । यस्माद्यज्ञदानतपांसि मनीषिणामकृतफलाभिसंधीनां पावनानि ज्ञानप्रतिबन्धकपापमलक्षालनेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपपुण्यगुणाधानेन च शोधकानि । अकृतफलाभिसंधीनामेव यज्ञदानतपांस्येव शोधकानि भवन्त्येव । उपाधिशुद्धयैवोपहितशुद्धिरत्राभिप्रेता । तस्मादन्तःकरणशुद्धयर्थिभिः कर्माधिकृतैर्यज्ञो दानं तप इति यत्फलाभिसंधिरहितं कर्म तन्न त्याज्यं किं तु कार्यमेव तत् । अत्याज्यत्वेन कार्यत्वे लब्धेऽप्यत्यादरार्थं पुनः कार्यमेवेत्युक्तम् । यस्मात्कार्यं कर्तव्यतया विहितं तस्मान्न त्याज्यमेवेति वा ॥ ५ ॥

(३) यदि यज्ञदानतपसामन्तःकरणशोधने सामर्थ्यमस्ति तर्हि फलाभिसंधिना कृतान्यपि तानि तच्छोधकानि भविष्यन्ति कृतं फलाभिसंधित्यागेनेत्यत आह—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

लिये दो सम्बोधनोंद्वारा उसके कुलनिमित्तक उत्कर्ष और पुरुषार्थनिमित्तक उत्कर्षका उल्लेख किया है ॥ ४ ॥

(१) आपका वह निश्चय क्या है ? इसपर दो श्लोकोंद्वारा यह बताते हैं कि मतभेदकी कोटिरूप पक्षोंमेंसे दूसरा पक्ष ही मेरा निश्चय है—

[श्लोकार्थः—यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं, उन्हें करना ही चाहिये, क्योंकि यज्ञ, दान और तप ये बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥]

(२) यहाँ 'च' शब्द हेतु-अर्थमें है । क्योंकि यज्ञ दान और तप—ये मनीषियों—फलानुसन्धान न करनेवालोंको पवित्र करनेवाले—ज्ञानके प्रतिबन्धक पापरूप मलको धोकर और ज्ञानोत्पत्तिकी योग्यतारूप पवित्र गुणको देकर शुद्ध करनेवाले हैं—जो लोग फलानुसन्धान नहीं करते उनके यज्ञ, दान और तप ही शुद्धि करनेवाले भी होते हैं, यहाँ अन्तःकरणरूप उपाधिकी शुद्धिसे ही उपहितकी शुद्धि अभिप्रेत है, अतः अन्तःकरणशुद्धिके इच्छुक कर्माधिकारियोंको जो यज्ञ दान और तपरूप फलाशाशून्य कर्म हैं उसका त्याग नहीं करना चाहिये, किन्तु उसे करना ही चाहिये । 'त्याग नहीं करना चाहिये' इतनेसे ही उसकी कर्तव्यता प्राप्त हो जानेपर भी अत्यन्त आदरके लिये 'करना ही चाहिये' ऐसा पुनः कहा है । अथवा ऐसा समझना चाहिये कि शास्त्रविहित कर्म कर्तव्य होनेके कारण करना ही चाहिये इसलिये वह त्याज्य है ही नहीं ॥ ५ ॥

(३) 'यदि यज्ञ दान और तपमें अन्तःकरणको शुद्ध करनेका सामर्थ्य है तो फलानुसन्धानपूर्वक करनेपर भी वे उसे शुद्ध करनेवाले होंगे ही, इसलिये फलाशाके त्यागकी कोई आवश्यकता नहीं है ?' ऐसी शंका हो तो कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! इन कर्मोंको तो आसक्ति और फलका त्याग करके करना ही चाहिये । यह मेरा निश्चित और श्रेष्ठ मत है ॥ ६ ॥]

(१) तुशब्दः शङ्कानिराकरणार्थः । यद्यपि काम्यान्यपि शुद्धिमादधति धर्मस्वाभाव्यात्तथापि सा तत्फलभोगोपयोगिन्येव न ज्ञानोपयोगिनी । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—

'काम्येऽपि शुद्धिरस्येव भोगसिद्ध्यर्थमेव सा । विड्वराहादिदेहेन न ह्यैन्द्रं भुज्यते फलम् ॥' इति ।

ज्ञानोपयोगिनीं तु शुद्धिमादधति यानि यज्ञादीनि कर्माणि एतानि फलाभिसंधिपूर्वकत्वेन बन्धनहेतुभूतान्यपि मुमुक्षुभिः सङ्गमहमेवं करोमीति कर्तृत्वाभिनिवेशं फलानि चाभिसंधीयमानानि त्यक्त्वाऽन्तःकरणशुद्धये कर्तव्यानीति मे मम निश्चितम् । अत एव हे पार्थ कर्माधिकृतैः कर्माणि त्याज्यानि न त्याज्यानि वेति द्वयोर्मतयोर्न त्याज्यानीति मम निश्चितं मतमुत्तमं श्रेष्ठम् । यदुक्तं निश्चयं शृणु मे तत्रेति सोऽयं निश्चय उपसंहृतः ।

भगवत्पूज्यपादानामभिप्रायोऽयमीरितः । अनिष्णाततया भाष्ये दुरापो मन्दबुद्धिभिः ॥ ६ ॥

(२) तदेवं 'यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे' इति स्वपक्षः स्थापितः । इदानीं 'त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः' इति परपक्षस्य पूर्वोक्तत्यागत्रैविध्यव्याख्यानेन निराकरणमारभते—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

(३) काम्यस्य कर्मणोऽन्तःकरणशुद्धिहेतुत्वाभावेन बन्धहेतुत्वेन च दोषवत्त्वाद्बन्धनिवृत्तिहेतुबोधार्थिना क्रियमाणस्त्याग उपपद्यत एव । नियतस्य तु नित्यस्य कर्मणः शुद्धिहेतुत्वेनादोषस्य

(१) यहाँ 'तु' शब्द शंकाका निराकरण करनेके लिये है । यद्यपि धर्मरूप होनेके कारण काम्य होनेपर भी ये शुद्धि करते हैं तथापि वह उस कर्मके फलका ही उपभोग करानेवाली होती है, ज्ञानमें उपयोगिनी नहीं होती । वार्त्तिककारोंने भी ऐसा ही कहा है—'काम्य कर्ममें भी शुद्धि है, किन्तु वह भोगकी सिद्धिके लिये ही होती है, क्योंकि इन्द्ररूपसे भोगे जानेवाले फलका शूकरादि शरीरोंसे भोग नहीं किया जा सकता । फलभिसन्धिपूर्वक किये जानेपर बन्धनके हेतु होनेपर भी जो-जो यज्ञादि कर्म मुमुक्षुओंद्वारा सङ्ग—'मैं ऐसा करता हूँ' इस प्रकारके अभिनिवेश और जिनकी इच्छा की जाती है उन फलोंको त्यागकर 'मुझे अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये करना चाहिये' इस विचारसे किये जाते हैं वे ज्ञानोपयोगिनी शुद्धि करते हैं—यह मेरा निश्चय है । इसलिये हे पार्थ ! कर्माधिकारियोंको कर्मोंका त्याग करना चाहिये या नहीं—इन दो मतोंमेंसे मेरा निश्चित और श्रेष्ठ मत तो यही है कि उन्हें उनका त्याग नहीं करना चाहिये । पहले जो कहा था कि ' इस विषयमें मेरा निर्णय सुनो' सो वहाँ उस निश्चयका उपसंहार कर दिया ।

यह भगवत्पूज्यपाद भगवान् शंकराचार्यका अभिप्राय कहा गया है । मन्दबुद्धियोंकी अकुशलताके कारण उन्हें भाष्यमें इसका मिलना कठिन है ॥ ६ ॥

(२) इस प्रकार 'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे' यह अपना पक्ष तो स्थापित कर दिया । अब भगवान् 'त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः' इस दूसरे पक्षका पूर्वोक्त त्यागकी त्रिविधताकी व्याख्या द्वारा निराकरण करना आरम्भ करते हैं—

[श्लोकार्थः—नित्य कर्मका त्याग करना [अन्तःकरणकी शुद्धिकी इच्छावाले मुमुक्षु पुरुषको] उचित नहीं है । मोहवश उसका परित्याग करना तामस कहा गया है ॥ ७ ॥]

(३) काम्य कर्म अन्तःकरण-शुद्धिका हेतु न होनेसे तथा बन्धनका हेतु होनेके कारण दोषरूप होनेसे, जो बन्ध निवृत्तिका हेतु जाननेकी इच्छावाला है उसके द्वारा

संन्यासस्यागो मुमुक्षूणामन्तःकरणशुद्ध्यर्थिनां नोपपद्यते शास्त्रयुक्तिभ्यां तस्यान्तःकरणशुद्ध्यर्थमव-श्यानुष्ठेयत्वात्। तथाचोक्तं प्राक्—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' इति।

(१) ननु दोषवत्त्वं काम्यस्येव नित्यस्यापि दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादेर्व्रीहिपश्वादिहिंसामि-श्रितत्वेन सांख्यैरभिहितम्। न च 'व्रीहीनवहन्ति' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते' इत्यादिविशेषविधि-गोचरत्वात्कत्वङ्गहिंसाया 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति सामान्यनिषेधस्य तदितरपरत्वमिति सांप्रतं भिन्नविषयत्वेन विधिनिषेधयोरबाधेनैव समावेशसंभवात्। निषेधेन हि पुरुषस्यानर्थहेतुर्हिंसेत्यभिहितं न त्वक्रत्वर्था सेति, विधिना च क्रत्वर्था सेत्यभिहितं न त्वनर्थहेतुर्नेति। तथा च क्रतूपकारकत्व-पुरुषानर्थहेतुत्वयोरेकत्र संभवात्क्रत्वर्थाऽपि हिंसा निषिद्धैवेति हिंसायुक्तं दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादि सर्वं दुष्टमेव। विहितस्यापि निषिद्धत्वं निषिद्धस्यापि च विहितत्वं श्येनादिवदुपपन्नमेव। यथा हि 'श्येनेनाभिचरन्यजेत' इत्याद्यभिचारविधिना विहितोऽपि श्येनादिर्न हिंस्यात्सर्वा भूतानीतिनिषेध-विषयत्वादनर्थहेतुरेव तद्दोषसहिष्णोरेव च रागद्वेषादिवशीकृतस्य तत्राधिकार एवं ज्योतिष्टोमादावपि। तथा चोक्तं महाभारते—

'जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमो धर्म उच्यते। अहिंसया हि भूतानां जपयज्ञः प्रवर्तते॥' इति।

उसका किया जानेवाला त्याग उचित ही है; किन्तु शुद्धिका हेतु होनेसे जो निर्दोष है उस नियत—नित्य कर्मका संन्यास—त्याग अन्तःकरणशुद्धिकी इच्छावाले मुमुक्षुके लिये उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्र और युक्तिके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये उसका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये। ऐसा ही पहले कहा भी है—'योगपर आरूढ होनेकी इच्छावाले मुनिके लिये कर्म कारण कहा जाता है' इत्यादि।

(१) पूर्वपक्षी सांख्यवादियोंने तो काम्य कर्मके समान दर्श, पूर्णमास और ज्योतिष्टोमादि नित्यकर्मको भी धान और पशु आदिकी हिंसासे मिला होनेके कारण दोषयुक्त बताया है। ऐसा भी कहना ठीक नहीं है कि 'धान कूटता है' 'अग्नि और सोम जिसके देवता हैं ऐसे पशुकी हिंसा करे' इत्यादि यज्ञकी अङ्गभूता हिंसा विशेष विधियोंकी विषय होनेके कारण 'सभी प्राणियोंकी हिंसा न करे' इस सामान्य निषेधका इससे भिन्न हिंसासे सम्बन्ध है; क्योंकि भिन्न-भिन्नविषयक होनेके कारण एक-दूसरेका बाध न करनेपर ही विधि और निषेधका समावेश होना सम्भव है। यहाँ निषेधसे तो यही कहा गया है कि हिंसा पुरुषके अनर्थकी हेतु है, 'वह यज्ञार्थ नहीं है' ऐसा नहीं कहा गया। तथा विधिद्वारा यह कहा गया है कि वह यज्ञार्थ है, 'वह अनर्थकी हेतु नहीं है' ऐसा नहीं कहा गया। इस प्रकार यज्ञमें उपकारी होना तथा पुरुषके अनर्थका हेतु होना—ये दोनों धर्म एक वस्तुमें रहने सम्भव होनेके कारण यज्ञार्थ हिंसा भी निषिद्ध ही है; इसलिये हिंसायुक्त दर्श पूर्णमास और ज्योतिष्टोमादि समस्त नित्य कर्म दूषित ही हैं। विहितका भी निषिद्ध होना और निषिद्धका भी विहित होना—ये श्येनयागादिके समान सम्भव हैं ही। जिस प्रकार कि 'श्येनयागद्वारा अभिचार करता हुआ यजन करे' इस प्रकार अभिचार विधिसे विहित होनेपर भी श्येनयागादि 'सभी जीवोंकी हिंसा न करे' इस निषेधका विषय होनेके कारण अनर्थका हेतु ही है और जो उस दोषको सहन कर सकता है उस रागद्वेषादि दोषोंके अधीन पुरुषका ही उसमें अधिकार है उसी प्रकार ज्योतिष्टोमादिमें भी समझना चाहिये। ऐसा ही महाभारतमें कहा भी है—'सब धर्मोंकी अपेक्षा जप ही श्रेष्ठ धर्म कहा जाता है, क्योंकि जपयज्ञ जीवोंकी अहिंसापूर्वक प्रवृत्त होता है।' मनुजीने भी 'इसमें सन्देह नहीं, ब्राह्मण जपके द्वारा ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर

मनुनाऽपि—

'जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥'

इति वदता मैत्रीमहिंसां प्रशंसता हिंसाया दुष्टत्वमेव प्रतिपादितम्। अन्तःकरणशुद्धिश्चेद्दृशेन गायत्रीजपादिना सुतरामुपपद्यत इति हिंसादिदोषदुष्टं ज्योतिष्टोमादि नित्यं कर्म दोषासहिष्णुना श्येनादिकमिव कर्माधिकारिणाऽपि त्याज्यम्।

(१) इति प्राप्ते ब्रूमः—न क्रत्वर्था हिंसाऽनर्थहेतुः, विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशात्। तथाहि—विधिना बलवदिच्छाविषयसाधनताबोधरूपां प्रवर्तनां कुर्वताऽनर्थसाधने तदनुपपत्तेः स्वविषयस्य प्रवर्तनागोचरस्यानर्थसाधनत्वाभावोऽप्यर्थादाक्षिप्यते। तेन विधिविषयस्य नानर्थहेतुत्वं युज्यते। न हि क्रत्वर्थत्वं साक्षाद्विध्यर्थः। येन विरोधो न स्यात्किंतु प्रवर्तनैव। प्रवर्तनाकर्मभूता तु पुरुषप्रवृत्तिः पुरुषार्थमेव विषयीकुर्वती क्वचित्क्रतुमपि पुरुषार्थसाधनत्वेन पुरुषार्थभावमापन्नं विषयी करोतीत्यन्यत्। पुरुषप्रवृत्तिश्च बलवदिच्छोपधानदशायां जायमाना न भाव्यस्यार्थहेतुतामाक्षिपति न वाऽनर्थहेतुतां प्रतिक्षिपति। किंतु यथाप्राप्तमेवावलम्बते बलवदिच्छाविषये स्वत एव प्रवृत्तेः स्वर्गादौ विध्यनपेक्षणात्। अत एव विहितश्येनफलस्यापि शत्रुवधरूपस्याभिचारस्यानर्थहेतुत्वमुपपद्यत एव

लेता है, वह कोई दूसरा कर्म करे अथवा न करे, क्योंकि ब्राह्मण जगत्का मित्र कहा जाता है' इस प्रकार कहकर मैत्री और अहिंसाकी प्रशंसा करते हुए हिंसाकी दुष्टता ही प्रतिपादित की है। अन्तःकरणकी शुद्धि तो इस प्रकारके गायत्रीजप आदि कर्मोंसे बहुत अच्छी तरह हो सकती है; अतः जो किसी दोषको सहन नहीं कर सकता उस कर्माधिकारीको भी श्येनयागादिके समान हिंसादोषसे दूषित ज्योतिष्टोमादि नित्यकर्मका त्याग कर देना चाहिये।

(१) सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—जो हिंसा यज्ञके लिये होती है वह अनर्थकी हेतु नहीं होती, क्योंकि जहाँ विधिका स्पर्श होता है वहाँ निषेधके लिये अवकाश नहीं होता। सो, बलवती इच्छाके विषयकी साधनताकी ज्ञानरूपा प्रेरणाको करनेवाली विधिके द्वारा किसी अनर्थके साधनमें प्रवृत्त किया जाना सम्भव नहीं है। इसलिये अपने विषय अर्थात् प्रेरणाके विषयकी अनर्थसाधनताका अभाव भी अर्थतः प्राप्त हो जाता है।[1] अतः जो विधिका विषय है वह अनर्थका हेतु नहीं हो सकता। यज्ञार्थता साक्षात् विधिका विषय नहीं है, जिससे कि उसका विरोध न हो, किन्तु प्रवर्तना ही साक्षात् विध्यर्थ है। यह बात दूसरी है कि प्रवर्तनाकी कर्मभूता पुरुषकी प्रवृत्ति पुरुषार्थको ही विषय करती हुई कभी पुरुषार्थभावको प्राप्त हुए यज्ञको भी पुरुषार्थके साधनरूपसे विषय करती है। प्रबल इच्छाकी प्राप्तिकी दशामें उत्पन्न होनेवाली पुरुषकी प्रवृत्ति अपने कार्यकी न तो अर्थ(शुभ)हेतुताका ज्ञान कराती है और न अनर्थहेतुताका निराकरण करती है, वह तो कार्यपदार्थ जिस रूपमें उपस्थित होता है उसी रूपमें उसका आश्रय ले लेती है, क्योंकि उत्कट इच्छाके विषयमें स्वतः ही प्रवृत्ति होनेके कारण स्वर्गादिमें भी

१. जीवकी बलवती इच्छाके विषय स्वर्गादि हैं, और यागादि क्रिया ही उनकी प्राप्तिका साधन या उपाय है। इस बातका ज्ञान विधिवाक्योंसे होता है और इस ज्ञानका नाम ही प्रवर्तना है। अतः जिस विधिवाक्यसे इन यज्ञादिको इष्टसाधनताका ज्ञान होता है उससे यह बोध नहीं हो सकता कि ये अनिष्टके भी कारण हैं। अतः यह बात अर्थतः प्राप्त होती है कि प्रवर्तनाके विषयभूत जो यागादि हैं उनमें अनर्थसाधनताका अभाव है।

फलस्य विधिजन्यप्रवृत्तिविषयत्वाभावात्। विधिजन्यप्रवृत्तिविषयं तु धात्वर्थरूपं करणं प्रवर्तनाऽवलम्बते। सा चानर्थहेतुं न विषयी करोतीति विशेषविधिबाधितं सामान्यनिषेधवाक्यं रागद्वेषादिमूलाक्रत्वर्थलौकिकहिंसाविषयम्। तेन श्येनाग्नीषोमीययोर्वैषम्यादुपपन्नमदुष्टत्वं ज्योतिष्टोमादेः। विधिस्पृष्टस्यापि निषेधविषयत्वे षोडशिग्रहणस्यात्यनर्थहेतुत्वापत्तिर्नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति निषेधात्। तस्मान्न किंचिदेतदिति भाट्टं दर्शनम्। प्राभाकरं तु दर्शनं फलसाधने रागत एव प्रवृत्तिसिद्धेर्न नियोगस्य प्रवर्तकत्वं, तेन श्येनस्य रागजन्यप्रवृत्तिविषयत्वेन विधेरौदासीन्यान्न तस्यानर्थहेतुत्वं विधिना प्रतिक्षिप्यते। अग्नीषोमीयहिंसायां तु क्रत्वङ्गभूतायां फलसाधनत्वाभावेन रागाभावाद्विधिरेव प्रवर्तकः। स च स्वविषयस्यानर्थहेतुतां प्रतिक्षिपतीति प्रधानभूता हिंसाऽनर्थं जनयति न क्रत्वर्थेति न हिंसामिश्रत्वेन ज्योतिष्टोमादेर्दुष्टत्वमिति सममेव। एतावन्मात्रे तु विशेषः, 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यत्रार्थपदव्यावर्त्यत्वेनाधर्मत्वं श्येनादेः प्राभाकरमते। भाट्टमते तु श्येनफलस्यैवाभिचारस्यानर्थहेतुत्वादधर्मत्वं, श्येनस्य तु विहितस्य समीहितसाधनस्य धर्मत्वमेव। अर्थपदव्यावर्त्यत्वं तु कलञ्जभक्षणादेर्निषिद्धस्यैवेति फलतोऽनर्थहेतुत्वेन तु शिष्टानां श्येनादौ न धर्मत्वेन व्यवहारः। तदुक्तं—

विधिकी अपेक्षा नहीं है। इसीसे विहित श्येनयागके फल शत्रुवधरूप अभिचारकी अनर्थहेतुता भी उपपन्न ही है, क्योंकि फलमें विधिजन्य प्रवृत्तिकी विषयता नहीं होती। विधिजन्य प्रवृत्तिके विषय धातुके अर्थरूप करणको तो प्रवर्तना विषय करती है और वह अनर्थके हेतुको विषय नहीं करती। विशेष विधिसे बाधित जो सामान्य निषेधवाक्य है वह रागद्वेषमूलक और यज्ञके लिये न होनेवाली लौकिकी हिंसासे सम्बन्ध रखता है। अतः श्येनयाग और अग्निषोमीय यागमें अन्तर होनेके कारण ज्योतिष्टोमादिका निर्दोष होना उचित ही है। यदि विधिसे स्पर्श किया हुआ कर्म भी निषेधका विषय हो सकता है तो षोडशिग्रहणकी भी अनर्थहेतुता प्राप्त होगी, क्योंकि 'अतिरात्र यज्ञमें षोडशीका ग्रहण नहीं करता' इस प्रकार इसका निषेध भी किया है। अतः भाट्टदर्शनोंका तो मत है कि यह सांख्यमत कुछ भी मूल्य नहीं रखता। प्राभाकर दर्शन तो कहता है कि फलके साधनमें रागसे ही प्रवृत्ति सिद्ध है, इसलिये विधि उसमें प्रवृत्ति करानेवाली नहीं है। अतः श्येनयाग रागजन्य प्रवृत्तिका विषय होनेके कारण और विधिकी उदासीनताके कारण विधिके द्वारा उसकी अनर्थहेतुताका निराकरण नहीं होता। यज्ञकी अंगभूता जो अग्निषोमीय हिंसा है उसमें तो फलसाधनताका अभाव और रागका अभाव है, अतः विधि ही उसमें प्रवृत्ति करानेवाली है और वह विधि अपने विषयकी अनर्थहेतुताका निराकरण कर देती है; इसलिये प्रधानरूपसे की जानेवाली हिंसा ही अनर्थ पैदा करती है, यज्ञके लिये की जानेवाली नहीं। सो हिंसामिश्रित होनेके कारण ज्योतिष्टोमादि याग दोषयुक्त नहीं हैं—यह बात भी ऐसी ही है। प्राभाकर और भाट्ट मतमें केवल इतने अंशमें अन्तर है कि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (प्रवर्तनारूप अर्थ धर्म है) इस लक्षणके अनुसार 'अर्थ' पदसे व्यावृत्त (बहिष्कृत) होनेके कारण प्राभाकरमतमें श्येनादि याग अधर्म हैं, किन्तु भाट्टमतमें श्येनयागका फल अभिचार ही अनर्थका कारण होनेसे अधर्म है, शास्त्रविहित और अभीष्ट अर्थका साधन होनेसे श्येनयाग तो धर्म ही है तथा अर्थपदसे व्यावृत्त होना तो कलञ्जभक्षण आदि निषिद्ध कर्मोंमें ही है। फलदृष्टिसे अनर्थके

१. विषसे बुझे हुए शस्त्रसे मारे हुए पशुका मांस।

'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते। केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते॥' इति।

(१) तार्किकाणां तु दर्शनं कृतिसाध्यत्वमर्थहेतुत्वमनर्थाहेतुत्वं चेति त्रयं विध्यर्थः। तत्र क्रत्वर्थहिंसायां साक्षान्निषेधाभावात्प्रायश्चित्तानुपदेशाच्च कृतिसाध्यत्वार्थहेतुत्ववदनर्थाहेतुत्वमपि विधिना बोध्यत इति न तस्या अनर्थहेतुत्वम्। श्येनादेस्त्वभिचारस्य साक्षादेव निषेधात्प्रायश्चित्तोपदेशाच्चानर्थहेतुत्वावगमात्तावन्मात्रं तत्र विधिना न बोध्यत इत्युपपन्नं श्येनाग्नीषोमीययोर्वैलक्षण्यम्।

(२) औपनिषदैस्तु भाट्टमेव दर्शनं व्यवहारे प्रायेणावलम्बितम्। तथा च भगवद्बादरायणप्रणीतं सूत्रम्—'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इति। ज्योतिष्टोमादिकर्माग्नीषोमीयहिंसादिमिश्रितत्वेन दुष्टमिति चेत्, न, 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादिविधिशब्दादित्यक्षरार्थः। जपप्रशंसापरं तु वाक्यं न क्रत्वर्थहिंसाया अधर्मत्वबोधकं तस्य तत्रातात्पर्यात्। तथाच सांख्यानां विहिते निषिद्धत्वज्ञानमनर्थाहेतावनर्थहेतुत्वज्ञानं धर्मे चाधर्मत्वज्ञानमनुष्ठेये चाननुष्ठेयत्वज्ञानं विपर्यासरूपो मोहस्तस्मान्मोहान्नित्यस्य कर्मणो यः परित्यागः स तामसः परिकीर्तितः। मोहो हि तमः॥ ७॥

(३) पूर्वोक्तमोहाभावेऽपि—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।

हेतु होनेके कारण ही शिष्ट पुरुषोंमें श्येनयागादिका धर्मरूपसे व्यवहार नहीं होता। ऐसा ही कहा भी है—'जो कर्म फलदृष्टिसे भी अनर्थके साथ नहीं बाँधता वही केवल प्रीतिका हेतु होनेके कारण 'धर्म' कहा जाता है।'

(१) तार्किकोंके दर्शनका तो कथन है कि क्रियाद्वारा साध्य होना, अर्थका हेतु होना और अनर्थका हेतु न होना—ये तीन विधिके प्रयोजन हैं। सो साक्षात् निषेधका अभाव होनेसे और प्रायश्चित्तका उपदेश न होनेसे यज्ञार्थ हिंसामें कृतिसाध्यत्व और अर्थहेतुत्वके समान अनर्थहेतुताका अभाव भी प्रतीत होता ही है, इसलिये वह अनर्थकी हेतु नहीं हो सकती। श्येनयागादि अभिचारका तो साक्षात् रूपसे ही निषेध किया गया है तथा उसके प्रायश्चित्तका भी उपदेश है, इसलिये उसकी अनर्थहेतुता प्रतीत होनेसे विधिके द्वारा उसकी अनर्थशून्यताका ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार श्येनयाग और अग्निषोमीय यागोंका भेद मानना उचित ही है।

(२) वेदान्तियोंने तो व्यवहारमें प्रायः भाट्टदर्शनका ही आश्रय लिया है। ऐसा ही भगवान् बादरायणका रचा हुआ सूत्र भी है—'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' अर्थात् अग्निषोमीय हिंसादिसे मिला होनेके कारण ज्योतिष्टोमादि कर्म अशुद्ध है—ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि 'अग्नि और सोमसम्बन्धी पशुका आलभन करे' ऐसा विधिपरक शब्द प्रमाण है—यह इसका अक्षरार्थ है। जपकी प्रशंसा करनेवाला वाक्य भी यज्ञार्थ हिंसाके अधर्मत्वका बोधक नहीं है, क्योंकि उसमें उसका तात्पर्य ही नहीं है। इस प्रकार सांख्यवादियोंका जो विहितमें निषिद्धत्वज्ञान, अर्थके हेतुमें अनर्थहेतुताका ज्ञान, धर्ममें अधर्मत्वका ज्ञान और अनुष्ठानयोग्यमें अनुष्ठानकी अयोग्यताका ज्ञान है वह उनका विपरीत ज्ञानरूप मोह ही है। उस मोहके कारण जो नित्य कर्मका त्याग है वह तामस कहा गया है; कारण कि मोह ही तम है॥ ७॥

(३) पूर्वोक्त मोह न होनेपर भी—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष 'यह दुःखरूप है' इस विचारसे शारीरिक क्लेशके भयसे

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

(१) अनुपजातान्तःकरणशुद्धितया कर्माधिकृतोऽपि दुःखमेवेदमिति मत्वा कायक्लेशभयाद्यित्यं कर्म त्यजेदिति यस्य त्यागो राजसः । दुःखं हि रजः । अतः स मोहरहितोऽपि राजसः पुरुषस्तादृशं राजसं त्यागं कृत्वा नैव त्यागफलं सात्त्विकत्यागस्य फलं ज्ञाननिष्ठालक्षणं नैव लभेताभते ॥

(२) कर्मत्यागस्तामसो राजसश्च हेयो दर्शितः । कीदृशः पुनरुपादेयः सात्त्विकस्त्याग इत्युच्यते—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

(३) विध्युद्देशे फलाश्रवणेऽपि कार्यं कर्तव्यमेवेति बुद्ध्वा नियतं नित्यं कर्म सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं फलं च त्यक्त्वैव यत्क्रियतेऽन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तं स त्यागः सात्त्विकः सत्त्वनिर्वृत्तो मत आदेयत्वेन संमतः शिष्टानाम् ।

(४) ननु नित्यानां फलमेव नास्ति कथं फलं त्यक्त्वेत्युक्तम् ।

(५) उच्यते—अस्मादेव भगवद्वचनाच्चित्यानां फलमस्तीति गम्यते निष्फलस्यानुष्ठानासंभवात् । तथा चाऽऽपस्तम्बः—'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते' इत्यानुषङ्गिकं फलं नित्यानां दर्शयति । अकरणे प्रत्यवायस्मृतिश्च नित्यानां

कर्मको छोड़ बैठता है वह राजस त्याग करके त्यागके फलको प्राप्त नहीं करता ॥ ८ ॥]

(१) अन्तःकरणकी शुद्धि न होनेके कारण कर्मका ही अधिकारी होनेपर भी जो 'यह दुःखरूप ही है' ऐसा मानकर शारीरिक क्लेशके भयसे नित्यकर्मको त्याग देता है वह राजस त्याग कहलाता है । दुःख ही रजोगुण है, अतः मोहरहित होनेपर भी वह रजोगुणी पुरुष ऐसा राजस त्याग करके त्यागफल—ज्ञाननिष्ठारूप सात्त्विक त्यागका फल प्राप्त नहीं करते ॥ ८ ॥

(२) राजस और तामस हेय कर्मत्याग तो दिखा दिया, तो फिर सात्त्विक एवं उपादेय त्याग कैसा होता है—सो बतलाया जाता है—

[श्लोकार्थः—हे अर्जुन ! 'करना चाहिये' ऐसी बुद्धिसे संग और फलका त्याग करके जो नित्यकर्मका अनुष्ठान किया जाता है वह सात्त्विक त्याग माना गया है ॥ ९ ॥]

(३) विधिका उपदेश सुननेके समय फलका श्रवण न करनेपर भी 'यह कर्तव्य ही है' ऐसा समझकर जो नियत—नित्य कर्म सङ्ग—कर्तृत्वाभिनिवेश और फलको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धि होने तक किया जाता है वह त्याग सात्त्विक—सत्त्व गुणसे होनेवाला माना गया है—शिष्ट पुरुषोंको वही ग्राह्यरूपसे अभिमत है ।

(४) शंका—किन्तु नित्य कर्मोंका तो फल ही नहीं होता, फिर 'फल त्यागकर' ऐसा क्यों कहा ?

(५) समाधान—इसका उत्तर दिया जाता है । भगवान्‌के इसी वाक्यसे यह ज्ञात होता है कि नित्य कर्मोंका भी फल होता है, क्योंकि फलहीन कर्मका तो अनुष्ठान ही सम्भव नहीं है । आपस्तम्बजी भी 'जिस प्रकार फलके लिये लगाये हुए आमके वृक्षके साथ-साथ छाया और गन्ध भी पैदा हो जाते हैं उसी प्रकार धर्मका आचरण करनेके साथ ही अर्थ उत्पन्न हो जाते हैं ।' इस प्रकार नित्य कर्मोंका आनुषङ्गिक फल

प्रत्यवायपरिहारं फलं दर्शयति । 'धर्मेण पापमपनुदति । तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति' । 'येन केन च यजेतापि वा दर्विहोमेनानुपहतमना एव भवति । तदाहुर्देवयाजी श्रेयानात्मयाजीत्यात्मयाजीति ह ब्रूयात्स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गꣳ सꣳस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते' इत्यादिश्रुतयश्च ज्ञानप्रतिबन्धकपापक्षयलक्षणं ज्ञानयोग्यतारूपपुण्योत्पत्तिलक्षणं चाऽऽत्मसंस्कारं नित्यानां कर्मणां फलं दर्शयन्ति । तदभिसंधिं त्यक्त्वा तान्यनुष्ठेयानीत्यर्थः ।

(१) यदुक्तं त्यागसंन्यासशब्दौ घटपटशब्दाविव न भिन्नजातीयार्थौ किंतु फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्याग एव तयोरर्थ इति तन्न विस्मर्तव्यम् । तत्र सत्यपि फलाभिसंधौ मोहाद्वा कायक्लेशभयाद्वा यः कर्मत्यागः स विशेष्याभावकृतो विशिष्टाभावस्तामसत्वेन राजसत्वेन च निन्दितः । यस्तु सत्यपि कर्मणि फलाभिसंधित्यागः स विशेषणाभावकृतो विशिष्टाभावः सात्त्विकत्वेन स्तूयत इति विशेष्याभावकृते विशेषणाभावकृते च विशिष्टाभावत्वस्य समानत्वान्न पूर्वापरविरोधः । उभयाभावकृतस्तु निर्गुणत्वान्न त्रिविधमध्ये गणनीय इति चावोचाम । एतेन 'त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः' इति प्रतिज्ञाय कर्मत्यागलक्षणे द्वे विधे दर्शयित्वा प्रतिज्ञाननुरूपां कर्मानुष्ठानलक्षणां तृतीयां विधां दर्शयतो भगवतः प्रकटमकौशलमापतितम् न हि भवति त्रयो ब्राह्मणा भोजयितव्या द्वौ कठकौण्डिन्यौ तृतीयः क्षत्रिय इति तद्विदिति परास्तम् । तिसृणामपि विधानां विशिष्टाभाव-

दिखाते हैं । इन्हें न करनेपर प्रत्यवाय बतानेवाली स्मृति भी नित्य कर्मोंका प्रत्यवायनिवृत्तिरूप फल दिखाती है । 'धर्मसे पाप दूर होता है, इसलिये धर्मको श्रेष्ठ कहते हैं ।' 'किसी भी वस्तुसे यजन करे; स्रुवासे होम करनेसे पुरुष उपघातहीन मनवाला हो जाता है', 'यदि कोई कहे कि देवयाजी श्रेष्ठ है या आत्मयाजी तो 'आत्मयाजी श्रेष्ठ है' ऐसा ही कहे, और आत्मयाजी वही है जो ऐसा जानता है कि इस कर्मसे मेरे अंगका संस्कार होता है और इससे उपघात (ह्रास) होता है' इत्यादि श्रुतियाँ भी नित्य कर्मोंका ज्ञानके प्रतिबन्धक पापका क्षय और ज्ञानकी योग्यतारूप पुण्यकी उत्पत्ति—इस प्रकारके आत्मसंस्कारको नित्यकर्मोंका फल प्रदर्शित करती हैं । इसलिये तात्पर्य यह है कि इस फलकी आशाको छोड़कर उनका अनुष्ठान करना चाहिये ।

(१) पहले जो कहा गया है कि 'घट' और 'पट' शब्दोंके समान 'त्याग' और 'संन्यास' शब्द भिन्नजातीय अर्थके द्योतक नहीं हैं, किन्तु फलाकांक्षापूर्वक कर्मका त्याग ही उन दोनोंका अर्थ है—उसे भूल नहीं जाना चाहिये । सो फलाशाके रहते हुए भी मोह या कायक्लेशके भयसे जो कर्मत्याग किया जाता है वह विशेष्यके अभावद्वारा किया हुआ विशिष्टका अभाव तामस और राजस होनेके कारण निन्दित है और जो कर्मके रहते हुए भी फलाशाका त्याग है वह विशेषणके अभावद्वारा किया हुआ विशिष्टका अभाव सात्त्विक होनेके कारण स्तुतिके योग्य है । इस प्रकार विशेष्यके अभावसे तथा विशेषणके अभावसे किये हुए विशिष्टके अभावोंमें विशिष्टाभावत्व समान रूपसे रहनेके कारण इनमें पहले और पिछले अभावोंमें कोई विरोध नहीं है । विशेषण और विशेष्य दोनोंके अभावसे किया हुआ जो विशिष्टाभाव है वह तो निर्गुण होनेके कारण विरोधके मध्यमें गिना जानेयोग्य ही नहीं है—यह हम कह चुके हैं । इस कथनसे 'हे पुरुषश्रेष्ठ ! त्याग तीन प्रकारका कहा गया है ।' ऐसी पहले प्रतिज्ञा करके अब दो प्रकारके कर्मत्यागके लक्षण दिखाकर अपनी प्रतिज्ञाके विरुद्ध तीसरी कर्मानुष्ठानरूपा विधि दिखानेवाले भगवान्‌की जो 'तीन ब्राह्मणोंको भोजन कराना है, कठ और कौण्डिन्य शाखाके दो और तीसरा क्षत्रिय' इस प्रकारकी जो प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली अकुशलता प्राप्त होती है उसका निरास

रूपेण त्यागसामान्येनैकजातीयतया प्राग्व्याख्यातत्वात्। तस्माद्भगवदकौशलोद्भावनमेव महदकौशलमिति द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

(१) सात्त्विकस्य त्यागस्याऽऽदानाय सत्त्वशुद्धिद्वारेण ज्ञाननिष्ठां फलमाह—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

(२) यस्त्यागी सात्त्विकेन त्यागेन युक्तः पूर्वोक्तेन प्रकारेण कर्तृत्वाभिनिवेशं फलाभिसंधिं च त्यक्त्वाऽन्तःकरणशुद्ध्यर्थं विहितकर्मानुष्ठायी स यदा सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वेनाऽऽत्मानात्मविवेकज्ञानहेतुना चित्तगतेनातिशयेन सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धकरजस्तमोमलराहित्येनाऽऽसमन्तात्फलाव्यभिचारेणाऽऽविष्टो व्याप्तो भवति भगवदर्पितनित्यकर्मानुष्ठानात्पापमलापकर्षकलक्षणेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपपुण्यगुणाधानलक्षणेन च संस्कारेण संस्कृतमन्तःकरणं यदा भवतीत्यर्थः। तदा मेधावी शमदमसर्वकर्मोपरमगुरूपसदनादिसामवायिकाङ्गयुक्तेन मनननिदिध्यासनाख्यफलोपकार्यङ्गयुक्तेन च श्रवणाख्यवेदान्तवाक्यविचारेण परिनिष्पन्नं वेदान्तमहावाक्यकरणकं निरस्तसमस्तप्रामाण्याशङ्कं चिदन्याविषयकमहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मात्मैक्यज्ञानमेव मेधा तया नित्यं युक्तो मेधावी स्थितप्रज्ञो भवति। तदा छिन्नसंशयोऽहं ब्रह्मास्मीतिविद्यारूपया मेधया तदविद्योच्छेदे तत्कार्यसंशयविपर्ययशून्यो भवति। तदा

कर दिया गया है, क्योंकि विशिष्टाभावरूपसे तीनों ही विधियों की त्यागमें समानता होनेके कारण पहले एकजातीयरूपसे व्याख्या की गई है। अतः भगवान्‌में अकुशलताकी भावना करना ही बड़ी भारी अकुशलता है—ऐसा समझना चाहिये ॥ ९ ॥

(१) अब ग्रहण करनेके लिये सात्त्विक त्यागका अन्तःकरणशुद्धिके द्वारा ज्ञाननिष्ठारूप फल बताते हैं—

[श्लोकार्थः—सात्त्विक त्याग करनेवाला पुरुष जब सत्त्वसे सम्यक् प्रकारसे व्याप्त, मेधासे युक्त तथा संशय-विपर्ययसे रहित हो जाता है तो वह अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता ॥ १० ॥]

(२) जो त्यागी—सात्त्विक त्यागसे युक्त अर्थात् पूर्वोक्त प्रकारसे कर्तृत्वाभिनिवेश और फलाभिसन्धिको त्यागकर अन्तःकरणशुद्धिके लिये विहित कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला है वह जिस समय सत्त्वसमाविष्ट—सत्त्वसे यानी आत्मा और अनात्माके विवेकज्ञानके हेतुभूत चित्तगत अतिशयसे अर्थात् सम्यक् ज्ञानके प्रतिबन्धक रजोगुण-तमोगुणरूप मलके राहित्यसे सब प्रकार—फलके अव्यभिचारपूर्वक आविष्ट—व्याप्त होता है; तात्पर्य यह है कि भगवदर्पित नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेसे जब पापरूप मलके ह्रास और ज्ञानोत्पत्तिकी योग्यतारूप पवित्र गुणोंके आधानरूप संस्कारसे संस्कृत अन्तःकरणवाला होता है तब वह मेधावी—शम, दम, समस्त कर्मोंसे उपरति और गुरूपसत्ति इत्यादि समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले और मनन-निदिध्यासनादि फलमें उपकारी अंगोंसे युक्त श्रवणसंज्ञक वेदान्तवाक्योंके विचारसे होनेवाला तथा वेदान्तके महावाक्यरूप करणवाला जो सब प्रकारके अप्रामाण्यकी आशंकासे रहित तथा चेतनके सिवा किसी औरको विषय न करनेवाला 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान है वही मेधा है, उससे नित्ययुक्त मेधावी अर्थात् स्थितप्रज्ञ हो जाता है। उस समय वह छिन्नसंशय—'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी ज्ञानरूपा मेधासे अज्ञानका उच्छेद हो जानेपर वह अविद्याके कार्य संशय और विपर्ययसे शून्य हो जाता है। तब क्षीणकर्मा हो जानेसे वह अकुशल कर्म—अशुभ यानी

च क्षीणकर्मत्वाद्य द्वेष्टयकुशलं कर्माशोभनं काम्यं निषिद्धं वा कर्म न प्रतिकूलतया मन्यते, कुशले शोभने नित्ये कर्मणि नानुषज्जते न प्रीतिं करोति कर्तृत्वाद्यभिमानरहितत्वेन कृतकृत्यत्वात्। तथा च श्रुतिः—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥' इति।

यस्मादेवं सात्त्विकस्य त्यागस्य फलं तस्मान्महताऽपि प्रयत्नेन स एवोपादेय इत्यर्थः ॥ १० ॥

(१) तदेवमात्मज्ञानवतः सर्वकर्मत्यागः संभाव्यते कर्मप्रवृत्तिहेत्वो रागद्वेषयोरभावादित्युक्तं, संप्रत्यज्ञस्य कर्मत्यागासंभवे हेतुरुच्यते—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

(२) मनुष्योऽहं ब्राह्मणोऽहं गृहस्थोऽहमित्याद्यभिमानेनाऽधिक्षेत्रेन देहं कर्माधिकारहेतुवर्णाश्रमादिरूपं कर्तृभोक्तृत्वाद्याश्रयं स्थूलसूक्ष्मशरीरेन्द्रियसंघातं बिभर्ति अनाद्यविद्यावासनावशाद्व्यवहारयोग्यत्वेन कल्पितमसत्यमपि सत्यतया स्वभिन्नमपि स्वाभिन्नतया पश्यन्धारयति पोषयति चेति देहभृद्बाधितकर्माधिकारहेतुदेहाभिमानस्तेन विवेकज्ञानशून्येन देहभृता कर्मप्रवृत्तिहेतुरागद्वेषपौष्कल्येन सततं कर्मसु प्रवर्तमानेन कर्माण्यशेषतो निःशेषेण त्यक्तुं हि यस्माच्च शक्यं न शक्यानि सत्यां कारणसामग्र्यां कार्यत्यागस्याशक्यत्वात्। तस्माद्यस्त्वज्ञोऽधिकारी सत्त्वशुद्ध्यर्थं कर्माणि कुर्वन्नपि

काम्य या निषिद्ध कर्मों से द्वेष नहीं करता—उन्हें प्रतिकूल रूपसे नहीं मानता और कुशल—शुभ अर्थात् नित्य कर्मों में आसक्ति—प्रीति नहीं करता, क्योंकि कर्तृत्वाभिमानशून्य हो जानेसे वह कृतकृत्य हो जाता है। ऐसी ही यह श्रुति भी है—'उस कार्य-कारणरूप ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर इसके हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय कट जाते हैं और सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं।' क्योंकि सात्त्विक त्यागका ऐसा फल है इसलिये तात्पर्य यह है कि अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक उसीको स्वीकार करना चाहिये ॥ १० ॥

(१) 'इस प्रकार कर्ममें प्रवृत्तिके हेतुभूत राग-द्वेषका अभाव हो जानेसे आत्मज्ञानवान्‌के सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग होना सम्भव है' यह बात कही गयी; अब अज्ञानीके कर्मोंका त्याग असम्भव होनेमें हेतु बताया जाता है—

[श्लोकार्थः—देहाभिमानी पुरुषके द्वारा कर्मोंका सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता, अतः जो कर्मके फलका त्याग करनेवाला है वही 'त्यागी' कहा जाता है ॥ ११ ॥]

(२) 'मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, गृहस्थ हूँ' इत्यादि अबाधित अभिमानसे जो अनादि अविद्याकी वासनाके कारण व्यवहारके योग्य कल्पित देहको—कर्माधिकारके हेतुभूत वर्णाश्रमादिरूप एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिके आश्रय स्थूल-सूक्ष्म देह और इन्द्रियोंके संघातको असत्य होनेपर भी सत्यरूपसे तथा अपनेसे भिन्न होनेपर भी अभिन्नरूपसे देखता हुआ धारण-पोषण करता है वह देहभृत अर्थात् जिसका कर्माधिकारका हेतुभूत देहाभिमान बाधित नहीं हुआ है ऐसा है। उस विवेकज्ञानशून्य देहभृत (देहधारी) के द्वारा, जो कर्ममें प्रवृत्ति के हेतुभूत रागद्वेषकी पुष्कलताके कारण निरन्तर कर्मोंमें ही प्रवृत्त रहता है, क्योंकि कर्मोंका अशेषतः—निःशेषरूपसे त्याग नहीं किया जा सकता, कारण कि कारणसामग्रीके रहते हुए कार्यरूप त्याग होना सम्भव नहीं है, इसलिये जो अज्ञानी—कर्माधिकारी अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्मोंको करते हुए भी भगवान्‌की कृपासे उसके फलका त्याग कर देनेवाला है वह त्यागी न होनेपर भी गौणीवृत्तिसे स्तुतिके लिये 'त्यागी'

भगवदनुकम्पया तत्फलत्यागी । तुशब्दस्तस्य दुर्लभत्वद्योतनार्थः । स त्यागीत्यभिधीयते गौण्या वृत्त्या स्तुत्यर्थमत्याग्यपि सन् । अशेषकर्मसंन्यासस्तु परमार्थदर्शिनैव देहभृता शक्यते कर्तुमिति स एव मुख्यया वृत्त्या त्यागीत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

(१) ननु देहभृतः परमात्मज्ञानशून्यस्य कर्मिणोऽपि कर्मफलाभिसंधित्यागित्वेन गौण-संन्यासिनः परमात्मज्ञानवतो देहाभिमानरहितस्य सर्वकर्मत्यागिनो मुख्यसंन्यासिनश्च कः फले विशेषो यदल्पाभेन गौणत्वमेकस्य यज्ञाभेन च मुख्यत्वमन्यस्य, कर्मफलत्यागित्वं तु द्वयोरपि तुल्यमित्यन्यो विशेषो वाच्यः ।

(२) उच्यते—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य नतु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

(३) अत्यागिनां कर्मफलत्यागित्वेऽपि कर्मानुष्ठायिनामज्ञानां गौणसंन्यासिनां प्रेत्य विविदिषापर्यन्तसत्त्वशुद्धेः प्रागेव मृतानां पूर्वकृतस्य कर्मणः फलं शरीरग्रहणं भवति मायामयं फल्गुतया लयमदर्शनं गच्छतीति निरुक्तेः । कर्मण इति जात्यभिप्रायमेकवचनमेकस्य त्रिविधफलत्वानुपपत्तेः । तच्च फलं कर्मणस्त्रिविधत्वात्त्रिविधं पापस्यानिष्टं प्रतिकूलवेदनीयं नारकतिर्यगादिलक्षणं, पुण्यस्येष्टम-

कहा जाता है । यहाँ 'तु' शब्द उसकी दुर्लभता प्रकट करनेके लिये है । सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग तो देहधारीद्वारा परमार्थदर्शी होनेपर ही किया जा सकता है । अतः अभिप्राय यह है कि मुख्यवृत्तिसे तो वही त्यागी है ॥ ११ ॥

(१) शंका—देहधारी—परमात्मज्ञानशून्य कर्मी होनेपर भी कर्मफलकी इच्छाका त्याग करनेके कारण जो गौणसंन्यासी है और जो परमात्मज्ञानवान् देहाभिमानशून्य समस्त कर्मोंका त्याग करनेवाला मुख्य संन्यासी है इन्हें प्राप्त होनेवाले फलमें क्या अन्तर है ? जिसके प्राप्त न होनेसे एककी तो गौणता है और जिसे प्राप्त कर लेनेसे दूसरेकी मुख्यता है । कर्मफलत्यागी होना तो दोनों ही का समान है, इसलिये कोई दूसरी विशेषता बतानी चाहिये ।

(२) समाधान—इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—अत्यागियोंको (गौण संन्यासियोंको) मरनेके पश्चात् अनिष्ट इष्ट और मिश्र तीन प्रकारका कर्मफल प्राप्त होता है किन्तु संन्यासियोंको कभी ऐसा फल नहीं मिलता ॥ १२ ॥]

(३) अत्यागियोंको—कर्मफलत्यागी होनेपर भी कर्मका अनुष्ठान करनेवाले अज्ञानी गौण संन्यासियोंको मरनेपर—जिज्ञासापर्यन्त अन्तःकरणकी शुद्धि होनेसे पहले ही मरनेपर पहले किये हुए कर्मका फलरूप मायामय शरीरग्रहण होता है, क्योंकि 'जो फल्गु (तुच्छ) होनेके कारण लयको प्राप्त हो जाय' ऐसी 'फल' शब्दकी व्युत्पत्ति है । 'कर्मणः' यह एकवचन जातिके अभिप्रायसे है, क्योंकि एक ही कर्म तीन प्रकारके फलवाला नहीं हो सकता । कर्म तीन प्रकारका है, इसलिये वह फल भी तीन प्रकारका है । पापकर्मका अनिष्ट अर्थात् प्रतिकूल जान पड़नेवाला नरक और तिर्यगादि योनिरूप, पुण्यका इष्ट अर्थात् अनुकूल प्रतीत होनेवाला देवादि योनिरूप और मिले हुए पाप-पुण्य दोनोंका मिश्र अर्थात्

नुकूलवेदनीयं देवादिलक्षणं, मिश्रस्य तु पापपुण्ययुगलस्य मिश्रमिष्टानिष्टसंयुक्तं मानुष्यलक्षणमित्येवं त्रिविधमित्यनुवादो हेयत्वार्थः ।

(१) एवं गौणसंन्यासिनां शरीरपातादूर्ध्वं शरीरान्तरग्रहणमावश्यकमित्युक्त्वा मुख्यसंन्यासिनां परमात्मसाक्षात्कारेणाविद्यातत्कार्यनिवृत्तौ विदेहकैवल्यमेवेत्याह—न तु संन्यासिनां क्वचित्परमात्मज्ञानवतां मुख्यसंन्यासिनां परमहंसपरिव्राजकानां प्रेत्य कर्मणः फलं शरीरग्रहणमनिष्टमिष्टं मिश्रं च क्वचिद्देशे काले वा न भवत्येवेत्यवधारणार्थस्तुशब्दः, ज्ञानेनाज्ञानस्योच्छेदे तत्कार्याणां कर्मणामुच्छिन्नत्वात् । तथा च श्रुतिः—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ इति ।'

पारमर्षं च सूत्रम्—'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' इति परमात्मज्ञानादशेषकर्मक्षयं दर्शयति । तेन गौणसंन्यासिनां पुनः संसारो मुख्यसंन्यासिनां तु मोक्ष इति फले विशेष उक्तः ।

(२) अत्र कश्चिदाह—

'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च ॥'

इत्यादौ कर्मफलत्यागिषु संन्यासिशब्दप्रयोगात्कर्मिण एवात्र फलत्यागसाम्यात्संन्यासिशब्देन गृह्यन्ते । तेषां च सात्त्विकानां नित्यकर्मानुष्ठानेन निषिद्धकर्माननुष्ठानेन च पापासंभवान्नानिष्टं फलं

इष्ट और अनिष्टसे मिला हुआ मनुष्ययोनिरूप—इस तरह तीन प्रकारका फल होता है । यह कर्मफलका अनुवाद उसकी हेयता बतानेके लिये है ।

(१) इस प्रकार यह बताकर कि गौण संन्यासियोंको देहपातके पश्चात् शरीरान्तर ग्रहण करना आवश्यक है अब 'न तु संन्यासिनां क्वचित्' इससे यह बताते हैं कि मुख्य संन्यासियोंका तो परमात्मसाक्षात्कारसे अविद्या और उसके कार्यकी निवृत्ति हो जानेके कारण विदेह कैवल्य ही हो जाता है । परमात्मज्ञानवान् मुख्य संन्यासी परमहंस परिव्राजकोंको किसी भी देश या कालमें इष्ट, अनिष्ट या मिश्र शरीरका ग्रहण नहीं होता—इस प्रकार निश्चय अर्थमें यहाँ 'तु' शब्द है, क्योंकि ज्ञानके द्वारा अज्ञानका उच्छेद हो जानेपर उसके कार्यभूत कर्मोंका भी उच्छेद हो जाता है । ऐसा ही यह श्रुति भी कहती है—'उस कार्य-कारणरूप ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर इसके हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय कट जाते हैं और समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं ।' महर्षि व्यासका 'उसका ज्ञान हो जानेपर आगामी पाप-पुण्यका लेप नहीं होता और पूर्वकृत पाप-पुण्य नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि श्रुति ऐसा ही कहती है' यह सूत्र भी परमात्मज्ञानसे सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय प्रदर्शित करता है । अतः 'गौण संन्यासियोंको पुनः संसारकी प्राप्ति होती है और मुख्य संन्यासियोंका मोक्ष हो जाता है' यह फलमें अन्तर बताया गया ।

(२) यहाँ कोई वादी कहता है कि 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च' इत्यादि वाक्यमें कर्मफलका त्याग करनेवालोंके लिये ही 'संन्यासी' शब्दका प्रयोग किया गया है, अतः फलत्यागमें समानता होनेके कारण यहाँ कर्मी ही 'संन्यासी' शब्दसे ग्रहण किये गये हैं । उन्हें नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे और निषिद्ध कर्मोंका अनुष्ठान न करनेसे पाप न हो सकनेके कारण अनिष्ट फल होना सम्भव नहीं है तथा काम्य कर्मोंका अनुष्ठान न करनेसे एवं ईश्वरार्पण करके फलका त्याग कर देनेसे इष्ट फल भी नहीं हो सकता । इसीसे उन्हें मिश्र फल भी नहीं होता । इस प्रकार उन्हें तीनों

संभवति नापीष्टं काम्याननुष्ठानात्, ईश्वरार्पणेन फलस्य त्यक्तत्वाच्च। अत एव मिश्रमपि नेति त्रिविधकर्मफलासंभवः। अत एवोक्तम्—

'मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः। नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया॥' इति।

(१) स वक्तव्यः शब्दस्यार्थस्य च मर्यादा न निरधारि भवतेति। तथाहि—'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः' इति शब्दमर्यादा। यथा 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' इत्यत्रामावास्याशब्दः काले मुख्यः। तत्कालोत्पन्ने कर्मणि च गौणः 'य एवं विद्वानमावास्यायां यजते' इत्यादौ। तत्रामावास्यामिति कर्मग्रहणे पितृयज्ञस्य तदङ्गत्वान्न फलं कल्पनीयमिति विधेर्लाघवमिति पूर्वपक्षितं कात्यायनेन—'अङ्गं वा समभिव्याहारात्' इति। गौणार्थस्य मुख्यार्थोपस्थितिपूर्वकत्वान्मुख्यार्थस्य चेहाबाधादमावास्याशब्देन काल एव गृह्यते फलकल्पनागौरवं तूत्तरकालीनं प्रमाणवत्त्वादङ्गीकार्यमिति सिद्धान्तितं जैमिनिना—'पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात्' इति। एवं स्थिते संन्यासिशब्दस्य सर्वकर्मत्यागिनि मुख्यत्वात्कर्मणि च फलत्यागसाम्येन गौणत्वान्मुख्यार्थस्य चेहाबाधात्तस्यैव संन्यासिशब्देन ग्रहणमिति शब्दमर्यादया सिद्धम्। सत्यां कारणसामग्र्यां कार्योत्पाद इति चार्थमर्यादा। तथाहि—ईश्वरार्पणेन त्यक्तकर्मफलस्यापि सत्त्वशुद्ध्यर्थं नित्यानि कर्माण्यनुतिष्ठतो-

प्रकारका कर्मफल मिलना सम्भव नहीं है। इसीसे कहा है—'मोक्षकी इच्छावाला पुरुष काम्य और निषिद्ध कर्मोंमें प्रवृत्त न हो तथा प्रत्यवायनिवृत्ति की इच्छासे केवल नित्य और नैमित्तिक कर्म करे।'

(१) [इस प्रकार जो वादी कहता है] उससे कहना चाहिये कि आपने शब्द और अर्थकी मर्यादाका निश्चय नहीं किया। शब्दकी मर्यादा तो यह है कि 'यदि गौण और मुख्य दोनोंसे कार्यकी प्राप्ति हो तो मुख्यसे ही कार्यका ज्ञान किया जाय।' जिस प्रकार 'अमावास्याके दिन दोपहर पश्चात् पिण्डपितृयज्ञ करता है' इस वाक्यमें अमावास्या शब्द काल अर्थमें तो मुख्य है और उस कालमें होने योग्य कर्ममें गौण है। किन्तु 'इस प्रकार जाननेवाला जो पुरुष अमावास्या कर्ममें यजन करता है' इत्यादि वाक्यमें 'अमावास्यामें' इस शब्दसे कर्मका ग्रहण करनेपर पितृयज्ञ उसीका अंग होनेके कारण उसके किसी पृथक् फलकी कल्पना नहीं करनी चाहिये—इस प्रकार यह विधिका लाघव कात्यायनने 'साथ कहा गया है, इसलिये पितृयज्ञ अमावास्याकर्मका अंग है' ऐसा कहकर पूर्वपक्ष बनाया है। तथा जैमिनिने 'पितृयज्ञ अपने समयमें होता है, इसलिये वह अंग नहीं है' ऐसा कहकर यह सिद्धान्त किया है कि गौण अर्थ मुख्य अर्थकी उपस्थितिपूर्वक होनेसे तथा मुख्य अर्थका उसमें बाध न होनेसे अमावास्या शब्दसे काल ही ग्रहण किया जाता है, उसके पीछे होनेवाला जो फलकल्पनारूप गौरव है वह भी प्रमाणयुक्त होनेके कारण ग्रहण करने योग्य है। ऐसा निश्चय होनेपर 'संन्यासी' शब्द सर्वकर्मत्यागीमें मुख्य और फलत्यागरूप समानताके कारण कर्मीमें गौण होनेके कारण तथा यहाँ मुख्य अर्थका बाध न होनेसे संन्यासी शब्दसे उसीका (मुख्य अर्थ ही का) ग्रहण करना चाहिये—यह बात शब्दकी मर्यादासे सिद्ध होती है। 'कारणकी सामग्री रहनेपर कार्यकी उत्पत्ति होती है' यह अर्थमर्यादा है। इसलिये ईश्वरार्पणबुद्धिसे जिसने कर्मफलका त्याग भी कर दिया है किन्तु जो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये नित्य कर्मोंका अनुष्ठान कर रहा है वह यदि बीच हीमें मर जाय तो अपने पूर्वार्जित कर्मोंके द्वारा उसके तीन प्रकारके शरीरग्रहणको कौन रोक सकता है? जैसा कि 'हे गार्गि! जो पुरुष इस अक्षरको बिना

ऽन्तराले मृतस्य प्रागर्जितैः कर्मभिस्त्रिविधं शरीरग्रहणं केन वार्यते 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' इति श्रुतेः। अन्ततः सत्त्वशुद्धिफलज्ञानोत्पत्त्यर्थं तदधिकारिशरीरमपि तस्याऽऽवश्यकमेव। अत एव विविदिषासंन्यासिनः श्रवणादिकं कुर्वतोऽन्तराले मृतस्य योगभ्रष्टशब्दवाच्यस्य 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' इत्यादिना ज्ञानाधिकारिशरीरप्राप्तिरवश्यंभाविनीति निर्णीतं षष्ठे यत्र सर्वकर्मत्यागिनोऽप्यङ्गस्य शरीरग्रहणमावश्यकं तत्र किं वक्तव्यमङ्गस्य कर्मिण इति। तस्मादङ्गस्यावश्यं शरीरग्रहणमित्यर्थमर्यादया सिद्धे पराक्रान्तं चैकभविकपक्षनिराकरणे सूरिभिः। तस्माद्यथोक्तं भगवत्पूज्यपादभाष्यकृतं व्याख्यानमेव उद्यायः।

(१) तदयमत्र निष्कर्षः—अकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वितीयसत्यस्वप्रकाशब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण निर्विकल्पेन वेदान्तवाक्यजन्येन विचारनिश्चितप्रामाण्येन सर्वप्रकाराप्रामाण्यशङ्काशून्येन ब्रह्मात्मज्ञानेनाऽऽत्माज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यकर्तृत्वाद्यभिमानरहितः परमार्थसंन्यासी सर्वकर्मोच्छेदाच्छुद्धः केवलः सन्नाविद्याकर्मादिनिमित्तं पुनः शरीरग्रहणमनुभवति सर्वभ्रमाणां कारणोच्छेदेनोच्छेदात्। यस्त्वविद्वान्कर्तृत्वाद्यभिमानी देहभृत्स त्रिविधो रागादिदोषप्राबल्यात्काम्यनिषिद्धादियथेष्टकर्माचरणशीलो मोक्षशा-

जाने इस लोकसे चला जाता है वह कृपण (दीन) है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। अन्तमें अन्तःकरणशुद्धिके फलस्वरूप ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये भी उसे ज्ञानाधिकारी शरीरका ग्रहण करना आवश्यक ही है। इसीसे छठे अध्यायमें 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' इत्यादि श्लोकसे यह निर्णय किया गया है कि 'योगभ्रष्ट' शब्दके वाच्य श्रवणादि करते-करते बीच हीमें मर जानेवाले विविदिषा संन्यासीको ज्ञानाधिकारी शरीरकी प्राप्ति अवश्यम्भाविनी है। जहाँ अज्ञानी रहनेपर समस्त कर्मोंका त्याग करनेवालेके लिये भी देह धारण करना आवश्यक है वहाँ कर्म करनेवाले अज्ञानीके विषयमें तो कहना ही क्या है? अतः अर्थकी मर्यादासे यह सिद्ध होता है कि अज्ञानीका देह धारण करना अनिवार्य है। विद्वानोंने कर्मके विषयमें एकभविकपक्षका निराकरण करनेमें विजय प्राप्त की है। अतः पूर्वोक्त भगवत्पूज्यपाद श्रीशंकराचार्यजीके भाष्यकी व्याख्या ही श्रेष्ठ है।

(१) इसलिये यहाँ इसका निष्कर्ष यह है—वेदान्तवाक्यसे उत्पन्न हुए और विचार-जनित प्रमाणसे निश्चित तथा सब प्रकारके अप्रामाण्यकी शंकासे शून्य अकर्ता अभोक्ता परमानन्द अद्वितीय सत्य एवं स्वयंप्रकाश ब्रह्मरूपसे आत्माका निर्विकल्प साक्षात्कार हो जानेसे ब्रह्मात्मज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर अज्ञानके कार्यभूत कर्तृत्वादिके अभिमानसे रहित जो वास्तविक संन्यासी है वह समस्त कर्मोंका उच्छेद हो जानेसे शुद्ध और केवल हो जानेके कारण अविद्या और कर्मादिसे होनेवाले पुनः-शरीरग्रहणका अनुभव नहीं करता, क्योंकि अज्ञानरूप कारणका उच्छेद हो जानेसे उसके सभी भ्रमोंका उच्छेद हो जाता है। किन्तु जो कर्तृत्वादिका अभिमान रखनेवाला अविद्यावान् देहधारी है वह तीन प्रकारका है—एक तो रागादि दोषोंकी प्रबलताके कारण काम्य और निषिद्ध इत्यादि यथेष्ट कर्मोंका आचरण करनेवाला, जो मोक्षशास्त्रका अनधिकारी है। इसके सिवा दूसरा वह है जो पहले किये हुए शुभ कर्मोंके कारण रागादि दोषोंके कुछ क्षीण हो जानेसे, समस्त कर्मोंका त्याग करनेमें समर्थ न होनेपर भी, निषिद्ध

१. एक कर्म एक जन्मका कारण होता है—इस पक्षका। इस मतका भगवान् शंकराचार्यने ब्रह्मसूत्रोंकी व्याख्या करते हुए 'कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च' (३।१।८) इस सूत्रके भाष्यमें खण्डन किया है।

ज्ञानधिकार्येकः । अपरस्तु यः प्राक्कृतसुकृतवशात्किंचित्प्रक्षीणरागादिदोषः सर्वाणि कर्माणि त्यक्तुमशक्नुवन्निषिद्धानि काम्यानि च परित्यज्य नित्यानि नैमित्तिकानि च कर्माणि फलाभिसंधित्यागेन सत्त्वशुद्ध्यर्थमनुतिष्ठन्गौणसंन्यासी मोक्षशास्त्राधिकारी द्वितीयः सः । ततो नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेनान्तःकरणशुद्धा समुपजातविविदिषः श्रवणादिना वेदनं मोक्षसाधनं संपिपादयिषुः सर्वाणि कर्माणि विधितः परित्यज्य ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसर्पति विविदिषासंन्यासिसमाख्यस्तृतीयः । तत्राऽऽद्यस्य संसारित्वं सर्वप्रसिद्धं, द्वितीयस्य त्वनिष्टमित्यादिना व्याख्यातं, तृतीयस्य तु अयतिः श्रद्धयोपेत इति प्रश्नमुत्थाप्य निर्णीतं षष्ठे । अज्ञस्य संसारित्वं ध्रुवं कारणसामग्र्याः सत्त्वात् । तत्तु कस्यचिज्ज्ञाननानुगुणं कस्यचिज्ज्ञाननानुगुणमिति विशेषः । विज्ञस्य तु संसारकारणाभावात्स्वत एव कैवल्यमिति द्वौ पदार्थौ सूत्रितावस्मिन्श्लोके ॥ १२ ॥

(१) तत्राऽऽत्मज्ञानरहितस्य संसारित्वे हेतुः कर्मत्यागासंभव उक्तः 'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' इति । तत्राज्ञस्य कर्मत्यागासंभवे को हेतुः कर्महेतावधिष्ठानादिपञ्चके तादात्म्याभिमान इतीममर्थं चतुर्भिः श्लोकैः प्रपञ्चयति । तत्र प्रथमेनाधिष्ठानादीनि पञ्च वेदान्तप्रमाणमूलानि हेयत्वार्थमवश्यं ज्ञातव्यानीत्याह—

पञ्चैमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

और काम्य कर्मोंको छोड़कर फलाशाके त्यागपूर्वक अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करनेके कारण गौण संन्यासी है और मोक्षशास्त्रका अधिकारी है । फिर वही नित्य और नैमित्तिक कर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणकी शुद्धिके द्वारा जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर श्रवणादिके द्वारा मोक्षके साधनभूत ज्ञानका सम्पादन करनेकी इच्छासे समस्त कर्मोंका विधिवत् त्याग करके ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जाता है और उसकी 'विविदिषा संन्यासी' संज्ञा होती है—यह तीसरा है । इनमें पहलेका संसारी होना तो सब लोगोंमें प्रसिद्ध ही है, दूसरेकी व्याख्या 'अनिष्टमिष्टम्' इत्यादि श्लोकसे की गयी है तथा तीसरेका निर्णय छठे अध्यायमें प्रश्न उठाकर 'अयतिः श्रद्धयोपेतः' इत्यादि श्लोकसे किया है । कारणसामग्री रहनेके कारण अज्ञानीका संसारी होना तो निश्चित है, अन्तर इतना ही है कि उनमेंसे किसीका संसारित्व तो ज्ञानप्राप्तिके अनुकूल नहीं होता और किसीका ज्ञानप्राप्तिके अनुकूल होता है । जो ज्ञानी है उसके तो संसारका कारण न रहनेसे स्वयं ही कैवल्य हो जाता है—इस प्रकार संसारित्व और मोक्ष इन दो पदार्थोंको इस श्लोकमें सूत्ररूपसे कहा है ॥ १२ ॥

(१) यहाँ 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' इस वाक्य द्वारा आत्मज्ञानशून्य पुरुषके संसारित्वमें कर्मत्यागका असम्भव होना ही हेतु कहा गया है । सो 'अज्ञानीके लिये कर्मत्याग असम्भव होनेमें क्या हेतु है ?' इसके उत्तरमें चार श्लोकोंद्वारा इस अर्थका विस्तार करते हैं कि कर्मके हेतुभूत अधिष्ठानादि पाँच पदार्थोंमें तादात्म्याभिमान ही उसका कारण है । इनमें पहले श्लोकसे तो यह बताते हैं कि वेदान्तप्रमाणमूलक अधिष्ठानादि पाँच पदार्थोंको उनकी हेयताके कारण अवश्य जानना चाहिये—

[श्लोकार्थः—हे महाबाहो ! मेरे कथनसे तुम कर्मोंका अन्त कर देनेवाले वेदान्त शास्त्रद्वारा कहे हुए इन पाँच पदार्थोंको समस्त कर्मोंकी सिद्धिमें कारण समझो ॥ १३ ॥]

(१) इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये कारणानि निर्वर्तकानि हे महाबाहो मे मम परमाप्तस्य सर्वज्ञस्य च वचनान्निबोध बोद्धुं सावधानो भव । न ह्यत्यन्तदुर्ज्ञानान्येतान्यनवहितचेतसा शक्यन्ते ज्ञातुमिति चेतःसमाधानविधानेन तानि स्तौति । महाबाहुत्वेन च सत्पुरुष एव शक्तो ज्ञातुमिति सूचयति स्तुत्यर्थमेव ।

(२) किमेतान्यप्रमाणकान्येव तव वचनाज्ज्ञेयानि नेत्याह—सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि निरतिशयपुरुषार्थप्राप्त्यर्थं सर्वानर्थनिवृत्यर्थं च ज्ञातव्यानि जीवो ब्रह्म तयोरैक्यं तद्बोधोपयोगिनश्च श्रवणादयः पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्तेऽस्मिन्निति सांख्यं वेदान्तशास्त्रं तस्मिन्नात्मवस्तुमात्रप्रतिपादके किमर्थमनात्मभूतान्यवस्तूनि लोकसिद्धानि च कर्मकारणानि पञ्च प्रतिपाद्यन्त इत्यतः शास्त्रविशेषणं कृतान्त इति । कृतमिति कर्मोच्यते तस्यान्तः परिसमाप्तिस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्या यत्र तस्मिन्कृतान्ते शास्त्रे प्रोक्तानि प्रसिद्धान्येव लोकेऽनात्मभूतान्येवाऽऽत्मतया मिथ्याज्ञानारोपेण गृहीतान्यात्मतत्त्वज्ञानेन बाधसिद्धये हेयत्वेनोक्तानि । यदा ह्यन्यधर्म एव कर्माऽऽत्मन्यविद्ययाऽध्यारोपितमित्युच्यते तदा शुद्धात्मज्ञानेन तद्बाधात्कर्मणोऽन्तः कृतो भवति । अत आत्मनः कर्मासंबन्धप्रतिपादनायानात्मभूतान्येव पञ्च कर्मकारणानि वेदान्तशास्त्रे मायाकल्पितान्यनूदितानीति नाद्वैतात्ममात्रतात्पर्यहानिस्तेषां

(१) हे महाबाहो ! परम आप्त और सर्वज्ञ मेरे वचनद्वारा तुम इन—अभी कहे जानेवाले पाँच पदार्थोंको समस्त कर्मोंकी सिद्धि—पूर्तिके लिये कारण—उन्हें कर देनेवाले समझो अर्थात् समझनेके लिये सावधान हो जाओ । इनका जानना बहुत कठिन है, इसलिये असमाहित चित्तद्वारा इन्हें समझा नहीं जा सकता—इस प्रकार चित्तसमाधानके लिये कहकर उनकी स्तुति करते हैं । 'महाबाहु' कहकर भी स्तुतिके लिये ही यह सूचित करते हैं कि सत्पुरुष ही इन्हें जान सकता है ।

(२) 'तो क्या ये अप्रामाणिक ही हैं और आपके ही वचनसे जाने जा सकते हैं ?' इसपर कहते हैं—नहीं, 'सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि'—निरतिशय पुरुषार्थकी प्राप्ति और सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्तिके लिये इन्हें जानना चाहिये । जीव, ब्रह्म, उनकी एकता और उसका ज्ञान होनेमें उपयोगी श्रवणादि पदार्थोंकी इसमें संख्या—व्युत्पत्ति की गयी है, इसलिये वेदान्तशास्त्र सांख्य है । उस केवल आत्मवस्तुमात्रका प्रतिपादन करनेवाले सांख्यशास्त्रमें अनात्मभूत, अवस्तु (मिथ्या) स्वरूप और लोकसिद्ध पाँच कर्मके कारणोंका प्रतिपादन क्यों किया है ?—ऐसा प्रश्न होता है, इसलिये शास्त्रका 'कृतान्त' यह विशेषण देते हैं । 'कृत' कर्मको कहते हैं, तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके द्वारा जिसमें उसकी समाप्ति हो जाती है उस कृतान्त शास्त्रमें कथित—प्रसिद्ध हैं, अर्थात् लोकमें अनात्मभूत होनेपर भी इन्हें मिथ्या ज्ञानजनित आरोपद्वारा आत्मभावसे ग्रहण किया हुआ है, अतः वेदान्तशास्त्रमें इन्हें बाधकी सिद्धिके लिये आत्मतत्त्वके ज्ञानद्वारा हेयरूपसे कहा है । जब कि दूसरोंका ही धर्मरूप कर्म आत्मामें अविद्याद्वारा आरोपित है ऐसा कहा जाता है तो शुद्ध आत्मज्ञानके द्वारा उसका बाध हो जानेसे कर्मका अन्त हो जाता है । अतः आत्माका कर्मसे असम्बन्ध प्रतिपादन करनेके लिये ही मैंने वेदान्तशास्त्रमें कर्मके पाँच अनात्मभूत कारणोंका कल्पन अर्थात् अनुवाद किया है । अतः इससे उसका अद्वैत आत्ममात्रमें तात्पर्य होनेमें हानि नहीं आती; क्योंकि अन्य स्थानोंमें भी उनका उस तात्पर्यके अङ्गरूपसे ही प्रतिपादन किया गया है । यहाँ भी 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इस

तदङ्गत्वेनैवेतरत्र प्रतिपादनात्। इहापि च सर्वकर्मान्तत्वं ज्ञानस्य प्रतिपादितं 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इति। तस्माज्ज्ञानशास्त्रस्य कर्मान्तत्वमुपपन्नम् ॥ १३ ॥

(१) प्रमाणमूलानि कर्मकारणानि पञ्चाऽऽत्मनोऽकर्तृत्वसिद्धयर्थं हेयत्वेन ज्ञातव्यानीत्युक्ते कानि तानीत्यपेक्षायां तत्स्वरूपमाह द्वितीयेन—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

(२) इच्छाद्वेषसुखदुःखचेतनाद्यभिव्यक्तेराश्रयोऽधिष्ठानं शरीरम्। तथा कर्ता यथाऽधिष्ठानमनात्मा भौतिकं मायाकल्पितं स्वाप्नगृहरथादिवत्तथा कर्ताऽहं करोमीत्याद्यभिमानवाञ्ज्ञानशक्तिप्रधानापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्योऽहंकारोऽन्तःकरणं बुद्धिर्विज्ञानमित्यादिपर्यायशब्दवाच्यस्तादात्म्याध्यासेनाऽऽत्मनि कर्तृत्वादिधर्माध्यारोपहेतुरनात्मा भौतिको मायाकल्पितश्चेति तथाशब्दार्थः। स्थूलशरीरस्य लोकायतिकैरात्मत्वेन परिगृहीतस्याप्यन्यैः परीक्षकैरनात्मत्वेन निश्चयात्तद्दृष्टान्तेन तार्किकादिभिरात्मत्वेन परिगृहीतस्य कर्तुरप्यनात्मत्वनिश्चयः सुकर इत्यर्थः। करणं च श्रोत्रादि शब्दाद्युपलब्धिसाधनम्। चशब्दस्तथेत्यनुकर्षार्थः। पृथग्विधं नानाप्रकारं पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति द्वादशसंख्यम्। करणवर्गे मनो बुद्धिश्चेति वृत्तिविशेषौ वृत्तिमांस्त्वहंकारः कर्तैव।

श्लोकद्वारा ज्ञानमें सम्पूर्ण कर्मोंकी समाप्ति होनेका ही प्रतिपादन किया है। अतः ज्ञानशास्त्रका कर्मान्तरूप होना ठीक ही है ॥ १३ ॥

(१) प्रमाणमूलक पाँच कर्मके कारण आत्माके अकर्तृत्वकी सिद्धिके लिये हेयरूपसे जानने योग्य हैं—ऐसा कहनेसे यह प्रश्न होनेपर कि वे कारण कौन-से हैं, दूसरे श्लोकसे उनका स्वरूप बताते हैं—

[श्लोकार्थ :—अधिष्ठान, कर्ता, अलग-अलग प्रकारके करण (विषयग्रहणके साधन) और अलग-अलग प्रकारकी अनेकों चेष्टाएँ—चार कर्मकारण तो ये हैं और पाँचवाँ दैव है॥१४॥]

(२) इच्छा द्वेष सुख दुःख और चेतनाकी अभिव्यक्तिका आश्रय यानी अधिष्ठान शरीर, तथा कर्ता—जिस प्रकार कि अधिष्ठान (शरीर) अनात्मा भौतिक मायाकल्पित और स्वप्नके गृह एवं रथादिके समान है उसी प्रकार कर्ता—'मैं करता हूँ' ऐसे अभिमानवाला ज्ञानशक्तिप्रधान अपञ्चीकृत पञ्चभूतोंका कार्य अहंकार, जो अन्तःकरण बुद्धि और विज्ञानादि शब्दोंका पर्यायवाची है तथा तादात्म्याध्यासके कारण आत्मामें कर्तृत्वादि धर्मोंके आरोपका कारण है अनात्मा भौतिक और मायाकल्पित है—यह 'तथा' शब्दका अर्थ है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लोकायतिकों द्वारा आत्मरूपसे ग्रहण किये हुए शरीरको दूसरे विचारशीलोंने अनात्मरूपसे निश्चय किया है उसी दृष्टान्तसे तार्किकादिद्वारा आत्मरूपसे ग्रहण किये हुए कर्ताको भी अनात्मरूपसे निश्चय करना सुगम ही है। और करण—शब्दादि विषयोंकी उपलब्धिके साधन श्रोत्रादि। 'च' शब्द 'तथा' इस अव्ययका अनुकर्षण करनेके लिये है। पृथक्विध—नाना प्रकारका—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि यह बारह संख्यावाला इन्द्रियवर्ग। इनमें मन और बुद्धि तो वृत्तिविशेष हैं, इन वृत्तियोंवाला अहंकार तो कर्ता ही है। चिदाभास तो सर्वत्र ही समानरूपसे रहता है। विविध—नाना प्रकारकी पाँच प्रकार या दश प्रकारसे प्रसिद्ध [चेष्टाएँ]। यहाँ 'च' शब्द 'तथा' शब्दका अनुकर्षण करनेके लिये है। पृथक्—बिना

चिदाभासस्तु सर्वत्रैवाविशिष्टः। विविधा नानाप्रकाराः पञ्चधा दशधा वा प्रसिद्धाः। चशब्दस्तथेत्यनुकर्षार्थः। पृथगसंकीर्णाः, चेष्टाः क्रियारूपाः क्रियाशक्तिप्रधानापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्याः क्रियाप्राधान्येन वायवीयत्वेन व्यपदिश्यमानाः प्राणापानव्यानोदानसमानाः। नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजयाख्याश्च तदन्तर्भूता एव। अत्र च सुषुप्तावन्तःकरणस्य कर्तुर्लयेऽपि प्राणव्यापारदर्शनाद्भेदव्यपदेशाच्चान्तःकरणादत्यन्तभिन्न एव प्राण इति केचित्। क्रियाशक्तिज्ञानशक्तिमदेकमेव जीवत्वोपाधिभूतमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्यं क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राण इति ज्ञानशक्तिप्राधान्येन चान्तःकरणमिति व्यपदिश्यत इत्यभियुक्ताः। 'स ईक्षां चक्रे कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत' इति श्रुतावुत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं प्राणस्योक्तम्। तथा सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादिश्रुतावुत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं बुद्धेरुक्तम्। स्वतन्त्रोपाधिभेदे च जीवभेदप्रसङ्गः। तस्माद्बुद्धिप्राणयोरेकत्वेनैवोत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं युक्तं भेदव्यपदेशश्च शक्तिभेदात्। सुषुप्तौ च ज्ञानशक्तिभागलयेऽपि क्रियाशक्तिभागदर्शनमेकत्वेऽपि न विरुद्धमनुभवसिद्धत्वात्, दृष्टिसृष्टिनये सर्वलयेऽपि प्राणव्यापारवच्छरीरस्य सुषुप्तोऽयमित्येवंरूपेण परैः कल्पितत्वाच्च। तस्मादुभयथाऽपि व्यपदेशभेद उपपन्नः।

(१) दैवं चानुग्राहकदेवताजातम्। चशब्दस्तथेत्यनुकर्षणार्थः। अत्र कारणवर्गे पञ्चमं

मिली हुई चेष्टाएँ—क्रियारूप और क्रियाशक्तिप्रधान पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंके कार्य तथा क्रियाकी प्रधानता और वायवीयरूपसे कहे जानेवाले प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जयसंज्ञक प्राण तो इनके अन्तर्भूत ही हैं। यहाँ सुषुप्तिमें अन्तःकरणरूप कर्ताका लय हो जानेपर भी प्राणका व्यापार देखा जाता है तथा अन्तःकरणसे उसका भेद भी बताया जाता है, इसलिये कोई-कोई कहते हैं कि प्राण अन्तःकरणसे अत्यन्त भिन्न ही है। किन्तु विद्वानोंका तो मत है कि जीवत्वका उपाधिभूत तथा क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिवाला एक ही अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंका कार्य क्रियाशक्तिकी प्रधानतासे प्राण और ज्ञानशक्तिकी प्रधानतासे अन्तःकरण कहा जाता है। 'उसने विचार किया कि किसके उत्क्रमण करनेपर मैं उत्क्रान्त हो जाऊँगा और किसके प्रतिष्ठित होनेपर प्रतिष्ठित हो जाऊँगा—ऐसा सोचकर उसने प्राणको रचा' इत्यादि श्रुतिमें प्राणको उत्क्रान्ति इत्यादिकी उपाधिता बतायी है तथा 'जीव बुद्धिसहित स्वानुरूप होकर इस स्थूल शरीरसे परे चला जाता है, उस समय वह मृत्युके रूपोंको ध्यान करता-सा और चेष्टा करता-सा जान पड़ता है' इत्यादि श्रुतिमें बुद्धिको उत्क्रान्ति आदिकी उपाधिता कही है। यदि इस उपाधिभेदको स्वतन्त्र माना जाय तो जीवोंका भेद होनेका प्रसंग होगा, अतः बुद्धि और प्राणकी एकता होनेपर ही उनका उत्क्रान्ति आदिकी उपाधि होना उचित होगा। इनके भेदका कथन तो शक्तिभेदके कारण होता है तथा सुषुप्तिमें ज्ञानशक्तिरूप भागका लय हो जानेपर भी क्रियाशक्ति भागका दिखायी देना उपाधिकी एकता होनेपर भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि यह अनुभवसे सिद्ध है तथा दृष्टिसृष्टिके लयसे सबका लय हो जानेपर भी प्राणव्यापारके समान शरीरके विषयमें दूसरोंके द्वारा ऐसी कल्पना भी की जाती है कि यह सोया हुआ है। इसलिये प्राण और बुद्धि इनका भेद और अभेद दोनों ही प्रकारसे उल्लेख होना सम्भव है।

(१) दैव—इन्द्रियगोलकोंके अनुग्राहक देवगण। यहाँ 'च' शब्द 'तथा' इस शब्दका अनुकर्षण करनेके लिये है। यहाँ कारणवर्गमें 'पञ्चमम्' शब्द पाँच संख्याकी पूर्ति करने-

पञ्चसंख्यापूरणम् । एवशब्दस्तथाशब्देन संबध्यमानोऽनात्मत्वभौतिकत्वकल्पितत्वाद्यवधारणार्थः पञ्चानामपि । तत्र शरीरस्य कर्तृकरणक्रियाधिष्ठानस्य देवता पृथिवी । 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं दिशः श्रोत्रं मनश्चन्द्रं पृथिवीं शरीरम्' इति श्रुतौ वागाद्यधिष्ठात्रन्यादिभिः सह शरीराधिष्ठातृत्वेन पृथिवीपाठात् । कर्तुरहंकारस्याधिष्ठात्री देवता रुद्रः पुराणादिप्रसिद्धः । करणानां चाधिष्ठात्र्यो देवताः सुप्रसिद्धाः । श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणानां दिग्वातार्कप्रचेतोश्विनः वाक्पाणिपादपायूपस्थानां वह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रप्रजापतयः । मनोबुद्धयोश्चन्द्रबृहस्पती इति । पञ्चप्राणानां क्रियारूपाणां सद्योजातवामदेवाघोरतत्पुरुषेशानाः पुराणप्रसिद्धाः । भाष्ये दैवमादित्यादि चक्षुराद्यनुग्राहकमित्यधिष्ठानादिदेवतानामप्युपलक्षणम् ॥ १४ ॥

(१) स्वरूपमुक्त्वा तेषां पञ्चानां कर्महेतुत्वमाह तृतीयेन—

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

(२) शारीरं वाचिकं मानसिकं च विधिप्रतिषेधलक्षणं त्रिविधं कर्म धर्मशास्त्रेषु प्रसिद्धम् । अक्षपादेन चोक्तं—'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' इति । बुद्धिर्मनः । अतः प्राधान्याभिप्रायेणोच्यते शरीरेण वाचा मनसा वा यत्कर्म प्रारभते निर्वर्तयति नरो मनुष्याधिकारित्वाच्छास्त्रस्य । कीदृशं

वाला है । 'एव' शब्द 'तथा' शब्दसे सम्बद्ध होनेपर इन पाँचों कारणोंके अनात्मत्व, भौतिकत्व और कल्पितत्वका निश्चय करनेके लिये होता है । सो कर्ता, करण और क्रियाके अधिष्ठानभूत शरीरका अधिष्ठातृदेव पृथ्वी है, क्योंकि 'जहाँ कि इस मरे हुए पुरुषकी वाणी अग्निमें लीन हो जाती है, तथा प्राण वायुमें, नेत्र सूर्यमें, श्रोत्र दिशाओंमें, मन चन्द्रमामें और शरीर पृथ्वीमें लीन हो जाते हैं' इत्यादि श्रुतिमें वाणी आदिके अधिष्ठाता अग्नि आदिके साथ पृथ्वीका शरीरके अधिष्ठातृरूपसे पाठ किया है । कर्ता—अहंकारका अधिष्ठातृ देव पुराणादिमें प्रसिद्ध रुद्र है । इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देव तो अच्छी तरह प्रसिद्ध ही हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राणके देवता दिशा, वायु, सूर्य, प्रचेता और अश्विनी हैं; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थके देवता अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र और प्रजापति हैं; तथा मन और बुद्धिके देवता चन्द्रमा और बृहस्पति हैं । क्रियारूप पाँच प्राणोंके सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान—ये देवता पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं । भाष्यमें कहा है कि दैव अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंके अनुग्राहक आदित्यादि—ये अधिष्ठानादिके देवताओंके भी उपलक्षण हैं ॥ १४ ॥

(१) पाँचों कारणोंका स्वरूप बताकर तीसरे श्लोकद्वारा उनकी कर्महेतुताका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—शरीर, वाणी और मनके द्वारा पुरुष शास्त्रीय या अशास्त्रीय जिस कर्मको भी प्रारम्भ करता है उसके ये पाँच कारण होते हैं ॥ १५ ॥]

(२) धर्मशास्त्रोंमें विधि और प्रतिषेधरूप कर्म शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकारका प्रसिद्ध है । महर्षि गोतमने भी कहा है—'वाणी, बुद्धि और शरीरसे होनेवाला आरम्भ ही प्रवृत्ति है ।' बुद्धि मन ही है । अतः प्राधान्यके अभिप्रायसे कहा जाता है कि मनुष्य, क्योंकि शास्त्रमें मनुष्यका ही अधिकार है, शरीर वाणी और मनसे जिस

कर्म न्याय्यं वा शास्त्रीयं धर्मं विपरीतं वाऽशास्त्रीयमधर्मं यच्च निमित्तिकचेष्टितादि जीवनहेतुरन्यद्वा विहितप्रतिषिद्धसमं तत्सर्वं पूर्वकृतधर्माधर्मयोरेव कार्यमिति न्याय्यविपरीतयोरेवान्तर्भूतम् । पञ्चैते यथोक्ता अधिष्ठानादयस्तस्य सर्वस्यैव कर्मणो हेतवः कारणानि ॥ १५ ॥

(१) इदानीमेतेषामेव कर्मकर्तृत्वादात्मनो न कर्तृत्वमित्यधिष्ठानादिनिरूपणफलमाह—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

(२) तत्र कर्मणि प्रागुक्ते सर्वस्मिन्, एवं सति अधिष्ठानादिपञ्चहेतुके सति तैर्निर्वर्त्यमानं आत्मानं सर्वजडप्रपञ्चस्य भासकं सत्तास्फूर्तिरूपं स्वप्रकाशपरमानन्दमबाध्यं केवलमसङ्गोदासीनमकर्तारमविक्रियमद्वितीयं तु एव परमार्थतः । अविद्यया स्वधिष्ठानादौ प्रतिबिम्बितमादित्यमिव तोये तद्भासकमनन्यत्वेन परिकल्प्य तोयचलनेनाऽऽदित्यश्चलतीतिवदधिष्ठानादिकर्मणोऽहमेव कर्तेति साक्षिणमपि सन्तं कर्तारं क्रियाश्रयं यः पश्यत्यविद्यया कल्पयति रज्जुमिव भुजगं स एवं पश्यन्नपि न पश्यत्यात्मानं तत्त्वेन स्वरूपाज्ञानकृतत्वादध्यासस्य । स भ्रान्त्या विपरीतमेव पश्यति न यथातत्त्वमित्यत्र को हेतुरत आह—अकृतबुद्धित्वात् । शास्त्राचार्योपदेशन्यायैरनुपजनितविवेकबुद्धित्वात् ।

कर्मको आरम्भ करता है अर्थात् जिस कर्मका आचरण करता है, किस प्रकारका कर्म ?—न्याय्य—शास्त्रीय अर्थात् धर्मरूप अथवा विपरीत—अशास्त्रीय यानी अधर्मरूप । इनके सिवा जो विहित और प्रतिषिद्ध दोनों प्रकारकी क्रियाओंमें समान रूपसे रहनेवाली जीवनकी हेतुभूत पलक मारनेकी चेष्टादि करता है वे सब भी पहले किये हुए धर्म और अधर्मका ही कार्य हैं, अतः न्याय्य और विपरीत कर्मोंके ही अन्तर्भूत हैं । ये उपर्युक्त अधिष्ठानादि पाँच पदार्थ इस सभी प्रकारके कर्मके हेतु अर्थात् कारण हैं ॥ १५ ॥

(१) अब 'ये ही कर्मोंके कर्ता हैं, इसलिये आत्माका कर्तृत्व नहीं है' इस प्रकार अधिष्ठानादिके निरूपणका फल बताते हैं—

[श्लोकार्थः—सो बात ऐसी होनेपर जो दुर्मति पुरुष शुद्ध आत्माको कर्ता समझता है वह विवेकबुद्धि उत्पन्न न होनेके कारण ठीक-ठीक नहीं समझता ॥ १६ ॥]

(२) सो समस्त कर्मोंमें पहले बताये हुए अधिष्ठानादि पाँच हेतु होनेपर भी, अर्थात् उन्हींके द्वारा कर्मोंके निष्पन्न किये जानेपर भी, जो समस्त जड प्रपञ्चके प्रकाशक, सत्तास्फूर्तिरूप, स्वयंप्रकाशपरमानन्द, अबाध्य, केवल—असंग और उदासीन तथा अकर्ता, अविकारी एवं अद्वितीय आत्माको ही, जो वास्तवमें जलमें सूर्यके समान अविद्यावश अधिष्ठानादिमें प्रतिबिम्बित और उनका प्रकाशक है, उनसे अभिन्नरूपसे कल्पना करके जलके हिलनेसे 'सूर्य हिलता है' ऐसी कल्पनाके समान 'अधिष्ठानादिके कर्मोंका करनेवाला मैं ही हूँ' इस प्रकार साक्षी होनेपर भी अविद्यावश रस्सीमें सर्पको देखनेके समान अपनेको कर्ता— क्रियाका आश्रय देखता अर्थात् कल्पना करता है वह इस प्रकार देखता हुआ भी वास्तवमें नहीं देखता, क्योंकि अध्यास स्वरूपके अज्ञानसे ही किया हुआ होता है । वह भ्रान्तिवश विपरीत ही देखता है, यथार्थ नहीं । इसमें कारण क्या है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—अकृतबुद्धि होनेके कारण अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेश एवं न्यायसे जिसे विवेकबुद्धि उत्पन्न नहीं हुई—ऐसा होनेके कारण । रज्जुतत्त्वका साक्षात्कार

नहि रज्जुतत्त्वसाक्षात्काराभावे भुजंगभ्रमं कश्चन बाधते। एवं शास्त्राचार्योपदेशन्यायैः परिनिष्ठितेऽहमस्मि सत्यं ज्ञानमनन्तमकर्त्रभोक्तृ परमानन्दमनवस्थमद्वयं ब्रह्मेति साक्षात्कारेऽनुपजनिते कुतो मिथ्याज्ञानतत्कार्यबाधः।

(१) एतादृशं साक्षात्कारमेव गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारेण कुतो न जनयतीत्यत आह—दुर्मतिः, दुष्टा विवेकप्रतिबन्धकपापेन मलिना मतिर्यस्य सः। अतोऽशुद्धबुद्धित्वान्नित्यानित्यवस्तुविवेकादिशून्यत्वेन तत्त्वज्ञानायोग्यत्वादकर्तारमपि कर्तारं केवलमप्यकेवलमात्मानमविद्यया कल्पयन्संसारी कर्माधिकारी देहभृदकृतबुद्धिः कर्मकर्तृषु तादात्म्याभिमानात्कर्मत्यागासमर्थः सर्वदा जननमरणप्रबन्धेनानिष्टमिष्टं मिश्रं च कर्मफलमनुभवति। एतेन यस्तार्किको देहादिव्यतिरिक्तमात्मानमेव कर्तारं केवलं पश्यति सोऽप्यकृतबुद्धित्वेन व्याख्यातः।

(२) अन्यस्त्वाह—आत्मा केवलो न कर्ता किं त्वधिष्ठानादिभिः संहतः सन्परमार्थतः कर्तैव, कर्तारमात्मानं केवलं पश्यन्दुर्मतिरिति केवलशब्दप्रयोगादिति। तन्न, परमार्थतः सर्वक्रियाशून्यस्यासङ्गस्याऽऽत्मनोऽधिष्ठानादिभिः संहतत्वानुपपत्तेः, जलसूर्यकादिवत्त्वाविद्यकेन संहतत्वेन कर्तृत्वमपि तादृशमेव, अधिष्ठानादीनामप्याविद्यकत्वाच्च। केवलशब्दस्तु स्वभावसिद्धमात्मनोऽसङ्गाद्वितीयरूपत्वमनुवदति कर्तृत्वदर्शिनो दुर्मतित्वहेतुत्वेनेत्यदोषः ॥ १६ ॥

हुए बिना कोई भी सर्पभ्रमका बाध नहीं कर सकता। इसी प्रकार शास्त्र और आचार्यके उपदेश तथा विचार द्वारा होनेवाले 'मैं सत्य, ज्ञान, अनन्त, अकर्ता, अभोक्ता, परमानन्द, अवस्थातीत अद्वय ब्रह्म हूँ' ऐसे साक्षात्कारके उत्पन्न न होनेपर मिथ्या अज्ञान और उसके कार्यका बाध कैसे हो सकता है ?

(१) 'गुरुकी शरणमें जाकर वेदान्तवाक्योंका विचार करनेपर [किन्हीं-किन्हींको] ऐसा साक्षात्कार भी क्यों उत्पन्न नहीं होता ?' इसपर कहते हैं—'दुर्मतिः'—जिसकी दुष्ट अर्थात् विवेकके प्रतिबन्धक पापके कारण मलिन मति है; अतः अशुद्धबुद्धि होनेसे नित्य और अनित्य वस्तुके विवेकसे शून्य होनेके कारण तत्त्वज्ञानके अयोग्य होनेसे अविद्यावश आत्माको अकर्ता होनेपर भी कर्ता और केवल होनेपर भी अकेवल कल्पना करनेवाला संसारी और कर्मका अधिकारी देहाभिमानी पुरुष अकृतबुद्धि होता है। वह कर्म करनेवालोंमें तादात्म्याभिमान होनेके कारण कर्मत्यागमें असमर्थ तथा सर्वदा जन्म-मरणकी परम्परासे अनिष्ट इष्ट और मिश्र कर्मफलका अनुभव करता है। इसके द्वारा जो नैयायिक देहादिसे व्यतिरिक्त केवल आत्माको ही कर्ता समझता है उसे भी अकृतबुद्धिरूपसे कह दिया है।

(२) एक दूसरा वादी तो कहता है कि 'केवल आत्मा ही कर्ता नहीं है, किन्तु अधिष्ठानादिसे मिलकर तो वह वास्तवमें कर्ता ही है; अतः जो केवल आत्माको कर्ता समझता है वही दुर्मति है; इसीसे 'केवल' शब्दका प्रयोग किया गया है।' परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि जो परमार्थतः सम्पूर्ण क्रियाओंसे शून्य और असंग है उस आत्माका जल और मरुमरीचिकादिके समान अधिष्ठानादिके साथ मिलना सम्भव नहीं है। उनका अविद्याजनित मेल होनेपर तो कर्तृत्व भी वैसा ही होगा। इसके सिवा अधिष्ठानादि भी अविद्याजनित ही हैं [इसलिये भी उसका कर्तृत्व आविद्यक ही है]। आत्माका कर्तृत्व समझनेवाला पुरुष दुर्मति है—इस कारणसे 'केवल' शब्द तो उसकी स्वभावसिद्ध असंगाद्वितीयताका अनुवाद करता है, इसलिये हमारे मतमें कोई दोष नहीं है ॥ १६ ॥

(१) तदेवं चतुर्भिः श्लोकैः—

'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य'

इति चरणत्रयं व्याख्यातमिदानीं 'न तु संन्यासिनां क्वचित्' इति तुरीयं चरणमेकेन व्याचष्टे—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

(२) यस्य पूर्वोक्तविपरीतस्य पुण्यैः कर्मभिः क्षपितेषु विवेकविरोधिपापेषु नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनचतुष्टयं प्राप्नवतः शास्त्राचार्योपदेशन्यायजनिताकर्त्रभोक्तृस्वप्रकाशपरमानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्याज्ञाने सकार्ये बाधिते न भवत्यहं कर्तेत्येवंरूपो भावः प्रत्ययः। यस्य भावः सद्भावोऽहंकृतोऽहमितिव्यपदेशार्हो न, अहंकारबाधेन शुद्धस्वरूपमात्रपरिशेषादिति वा। अहंकृतोऽहंकारस्य भावस्तत्तादात्म्यं यस्य न विवेकेन बाधितत्वादिति वा। बाधितानुवृत्तावपि एत एव पञ्चाधिष्ठानादयो मायया मयि सर्वात्मनि कल्पिताः सर्वकर्मणां कर्तारो मया स्वप्रकाशचैतन्येनासङ्गेन कल्पितसंबन्धेन प्रकाश्यमाना अहं तु न कर्ता किंतु कर्तृतद्व्यापाराणां साक्षिभूतः क्रियाज्ञानशक्तिमदुपाधिद्वयनिर्मुक्तः शुद्धः सर्वकार्यकारणासंबद्धः कूटस्थनित्यो निर्द्वैयः सर्वविकारशून्यः 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः', 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च', 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो अक्षरात्परतः परः', 'अज आत्मा महान्ध्रुवः

(१) इस प्रकार चार श्लोकोंद्वारा 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य' इन तीन चरणोंकी व्याख्या की गयी। अब एक श्लोकद्वारा 'न तु संन्यासिनां क्वचित्' इस चौथे चरणकी व्याख्या करते हैं—

[श्लोकार्थः—जिसे 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं होता और जिसकी बुद्धि 'मैं इस कर्मके फलको भोगूँगा' इस भावसे लिप्त नहीं होती वह इन समस्त प्राणियोंको मारकर भी नहीं मारता और न कर्मबन्धनसे बँधता ही है ॥ १७ ॥]

(२) पुण्यकर्मोंद्वारा विवेकके विरोधी पापोंका क्षय हो जानेपर नित्यानित्यवस्तुविवेक इत्यादि साधनचतुष्टयको प्राप्त करनेवाले तथा शास्त्र और आचार्यके उपदेश एवं युक्तिद्वारा उत्पन्न अकर्ता, अभोक्ता, स्वयंप्रकाश, परमानन्द, अद्वितीय ब्रह्मके साक्षात्कारवाले जिस पूर्वोक्त कर्माधिकारीसे विपरीत गुणोंवाले पुरुषको, कार्यसहित अज्ञानका बाध हो जानेपर, 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव—प्रत्यय नहीं होता। अथवा जिसका भाव—सत्ता अहंकृत—'अहम्' (मैं) ऐसे व्यपदेशके योग्य नहीं होता, क्योंकि अहंकारका बाध होनेपर केवल शुद्ध स्वरूप ही रह जाता है। अथवा अहंकृत—अहंकारका भाव यानी तादात्म्य जिसे नहीं है, क्योंकि विवेक से उसका बाध हो चुका है। तथा मिथ्या पदार्थोंकी प्रतीतिमें बाधितानुवृत्ति स्वीकार करनेपर भी समस्त कर्मोंके कर्ता ये अधिष्ठानादि पाँच कारण मुझ सर्वात्मा में मायासे कल्पित हैं और मुझ स्वयंप्रकाश असंग चेतनद्वारा कल्पित सम्बन्धसे प्रकाशित हैं। मैं तो कर्ता नहीं हूँ किन्तु कर्ता और उसके व्यापारोंका साक्षी, क्रिया और ज्ञानशक्तिवाली दोनों उपाधियोंसे सर्वथा मुक्त, शुद्ध, समस्त कार्य और कारणोंसे असम्बद्ध, कूटस्थनित्य, अद्वितीय और सम्पूर्ण विकारोंसे शून्य हूँ; जैसा कि 'यह पुरुष असंग ही है' 'आत्मा साक्षी चेता केवल और निर्गुण है' 'आत्मा प्राण और मनसे रहित शुद्ध और अक्षर (प्रकृति)से परे जो पुरुष है उससे भी परे है' 'आत्मा अजन्मा महान् और नित्य है' 'जलमें एक और अद्वितीय साक्षी है' 'यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है' तथा

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतः', 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः', 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः, 'अविकार्योऽयमुच्यते ।'

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥'

'तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः । गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते', 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ।

(१) तस्मान्नाहं कर्तेत्येवंपरमार्थदृष्टेर्बुद्धिरन्तःकरणं यस्य न लिप्यते नानुशयिनी भवति, इदमहमकार्षमेतत्फलं भोक्ष्य इत्यनुसंधानं कर्तृत्ववासनानिमित्तं लेपोऽनुशयः । स च पुण्ये कर्मणि हर्षरूपः । पापे पश्चात्तापरूपः । ईदृशेन द्विविधेनापि लेपेन बुद्धिर्न युज्यते कर्तृत्वाभिमानबाधात् । तथा च ज्ञानिनं प्रकृत्य श्रुतिः—'एतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः । तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—

'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात्पदविसं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥' इति ।

पापकेनेति पुण्यस्याप्युपलक्षणम् । वर्धते कनीयानिति च पुण्यपापयोः परितोषपरितापाभिप्रायम् । एवं यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते स पूर्वोक्तदुर्मतिविलक्षणः सुमतिः परमार्थदर्शी पश्यत्यकर्तारमात्मानं केवलं, स कर्तृत्वाभिमानाभावादनिष्टादित्रिविधकर्मफलभागी न भवतीत्येतावति शास्त्रार्थेऽहंकाराभावबुद्धिलेपाभावौ स्तोतुमाह—हत्वा हिंसित्वाऽपि स इमाँल्लोकान्—

'यह कलाहीन, क्रियाहीन, शान्त, निर्मल और निर्लेप है' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है। इसी तरह 'यह अविकार्य कहा जाता है' 'सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जा रहे हैं, जिसका चित्त अहंकारसे अत्यन्त मूढ है वह 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है' 'हे महाबाहो ! गुण और कर्मोंके विभागका रहस्य जाननेवाला तो 'गुण गुणोंमें बर्तते हैं' ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता' 'हे कौन्तेय ! वह शरीरमें स्थित होनेपर भी न तो कर्म करता है और न उसके फलसे लिप्त ही होता है' इत्यादि स्मृतियोंसे भी जाना जाता है।

(१) अतः 'मैं कर्ता नहीं हूँ' ऐसी वास्तविक दृष्टिके कारण जिसकी बुद्धि—अन्तःकरण लिप्त नहीं होती अर्थात् अनुशयसे युक्त नहीं होती। 'यह कर्म मैंने किया है, इसका यह फल मैं भोगूँगा' इस प्रकारका अनुसन्धान—कर्तृत्ववासनाजनित लेप 'अनुशय' कहलाता है। वह पुण्यकर्म करनेपर तो हर्षरूप होता है और पाप करनेपर पश्चात्तापरूप—ऐसे दोनों ही प्रकारके लेपसे जिसकी बुद्धि, कर्तृत्वाभिमानका बाध हो जानेके कारण, लिप्त नहीं होती। ऐसी ही ज्ञानीके विषयमें श्रुति भी है—'इस प्रकार मैंने पाप किया और इस प्रकार मैंने पुण्य किया—ये दोनों बातें इसे कोई प्रतिबन्ध नहीं करतीं, क्योंकि यह इन दोनोंसे पार हो जाता है, इसे किये हुए अथवा बिना किये हुए कर्म ताप नहीं पहुँचाते।' यह बात मन्त्रद्वारा भी कही गयी है—'ब्राह्मणकी यह नित्य महिमा है कि वह कर्मसे न तो बढ़ता है, न घटता है। उसे ही यह ब्रह्मपदरूप धन प्राप्त होता है। इसका ज्ञान हो जानेपर वह पापकर्मसे लिप्त नहीं होता।' 'पापकेन' (पापकर्मसे) यह पुण्य-पाप दोनोंहीका उपलक्षण है। 'वर्धते' (बढ़ता है) और 'कनीयान्' (घटता है) ये पुण्य द्वारा परितोष और पापद्वारा पश्चात्तापके अभिव्यञ्जक हैं। इस प्रकार 'जिसे अहंकारका भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती' वह पूर्वोक्त दुर्मतिसे विलक्षण अच्छी बुद्धिवाला परमार्थदर्शी पुरुष केवल (अद्वितीय) आत्माको अकर्ता देखता है। वह कर्तृत्वाभिमान न होनेके कारण अनिष्टादि तीन प्रकारके कर्मफलका भागी नहीं होता—इतना ही शास्त्रका

सर्वान् प्राणिनो न हन्ति हननक्रियायाः कर्ता न भवति अकर्तृस्वरूपसाक्षात्कारात् । न निबध्यते नापि तत्कार्येणाधर्मफलेन संबध्यते ।

(१) अत्र नाहंकृतो भाव इत्यस्य फलं न हन्तीति । बुद्धिर्न लिप्यत इत्यस्य फलं न निबध्यत इति । अनेन च कर्मालेपप्रदर्शनेऽतिशयमात्रमुक्तं न तु सर्वप्राणिहननं संभवति । हत्वाऽपीति कर्तृत्वाभ्यनुज्ञा बाधितकर्तृत्वदृष्ट्या लौकिक्या, न हन्तीति कर्तृत्वनिषेधः शास्त्रीयया परमार्थदृष्टयेति न विरोधः । शास्त्रादौ नायं हन्ति न हन्यत इति सर्वकर्मासंस्पर्शित्वमात्मनः प्रतिज्ञाय न जायत इत्यादिहेतुवचनेन साधयित्वा वेदाविनाशिनमित्यादिना विदुषः सर्वकर्माधिकारनिवृत्तिः संक्षेपेणोक्ता । मध्ये च तेन तेन प्रसङ्गेन प्रसारितेह शास्त्रार्थैतावत्त्वप्रदर्शनायोपसंहृता न हन्ति न निबध्यत इति । एवं चाविद्याकल्पितानामधिष्ठानाद्यनात्मकृतानां सर्वेषामपि कर्मणामात्मविद्यया समुच्छेदोपपत्तेः परमार्थसंन्यासिनामनिष्टादि त्रिविधं कर्मफलं न भवतीत्युपपन्नम् । परमार्थसंन्यासश्चाकर्त्रात्मसाक्षात्कार एव । जनकादीनामेतादृशसंन्यासित्वेऽपि बलवत्प्रारब्धकर्मवशाद्बाधितानुवृत्त्या परपरिकल्पनया वा कर्मदर्शनं न विरुद्धं परमहंसानामीदृशानां भिक्षाटनादिवत् । अत एव ज्ञानफलभूतो विद्वत्संन्यास उच्यते । साधनभूतस्तु विविदिषासंन्यासोऽनेवंविधोऽपि प्रथममुत्तरकाले ज्ञानोत्पत्तावेवंविधो भवतीति वक्ष्यते ॥ १७ ॥

तात्पर्य है। इसपर अहंकारके अभाव और बुद्धिलेपके अभावकी स्तुति करनेके लिये कहते हैं—'हत्वा' इत्यादि। इन समस्त लोकों—प्राणियोंको मारकर भी—इनकी हिंसा करके भी वह नहीं मारता—अकर्तृस्वरूप आत्माका साक्षात्कार कर लेनेके कारण हनन-क्रियाका कर्ता नहीं होता, अर्थात् न तो बन्धनमें पड़ता है और न उसका कार्य अधर्मसे ही सम्बद्ध होता है।

(१) यहाँ 'नाहंकृतो भावः' इसका फल तो 'न हन्ति' है और 'बुद्धिर्न लिप्यते' इसका फल 'न निबध्यते' है। इस कर्मके असंसर्ग प्रदर्शनके द्वारा उसकी केवल विशेषता दिखायी है, उसके द्वारा समस्त प्राणियोंका हनन तो सम्भव ही नहीं है। 'हत्वापि' यह कर्तृत्वकी विधि बाधित लौकिकी कर्तृत्वदृष्टिसे है तथा 'न हन्ति' यह कर्तृत्वका निषेध शास्त्रीय परमार्थदृष्टिसे है; इसलिये इनमें कोई विरोध नहीं है। गीताशास्त्रके आरम्भमें 'यह न तो मारता है और न मारा जाता है' इस प्रकार आत्माके सर्वकर्मासंस्पर्शित्वकी प्रतिज्ञा कर 'न जायते' इत्यादि हेतुवाक्योंसे इसे सिद्ध करके 'वेदाविनाशिनम्' इत्यादि वाक्यसे संक्षेपमें विद्वानके सम्पूर्ण कर्माधिकारकी निवृत्ति कही है। बीचमें भिन्न-भिन्न प्रसंगद्वारा इसका विस्तार किया है तथा यहाँ 'शास्त्रका तात्पर्य इतना ही है' यह दिखानेके लिये 'न हन्ति' 'न निबध्यते' ऐसा कहकर उपसंहार किया है। इस प्रकार अविद्याकल्पित अधिष्ठानादि अनात्माओंके किये हुए सम्पूर्ण कर्मोंका आत्मज्ञानद्वारा सर्वथा उच्छेद होना सम्भव होनेसे वास्तविक संन्यासियोंको अनिष्टादि तीन प्रकारका कर्मफल प्राप्त नहीं होता—यह ठीक ही है। वास्तविक संन्यास तो अकर्ता आत्माका साक्षात्कार ही है। इस प्रकारके परमहंसोंके जैसे भिक्षाटनादि कर्म दिखायी देते हैं उसी प्रकार जनकादिके भी ऐसे ही संन्यासी होनेपर भी जो प्रबल प्रारब्धकर्मके कारण दूसरोंकी कल्पनाद्वारा बाधितानुवृत्तिसे कर्म देखे जाते हैं उसमें कोई विरोध नहीं है। इसीसे विद्वत्संन्यास ज्ञानका फलस्वरूप कहा जाता है। साधनभूत विविदिषा संन्यास पहले तो ऐसा नहीं होता, किन्तु पीछे ज्ञान उत्पन्न होनेपर ऐसा हो जाता है—यह कहा जायगा ॥ १७ ॥

(१) पूर्वमधिष्ठानादिपञ्चकस्य क्रियाहेतुत्वेनाऽऽत्मनः सर्वकर्मासंस्पर्शित्वमुक्तं संप्रति तमेवार्थं ज्ञानज्ञेयादिप्रक्रियारचनया त्रैगुण्यभेदव्याख्यया च विवरीतुमुपक्रमते—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

(२) ज्ञानं विषयप्रकाशक्रिया, ज्ञेयं तस्य कर्म, परिज्ञाता तस्याऽऽश्रयो भोक्ताऽन्तःकरणोपाधिपरिकल्पितः, एतेषां त्रयाणां संनिपाते हि हानोपादानादिसर्वकर्मारम्भः स्यादत एतत्त्रयं सर्वेषां कर्मणां प्रवर्तकं तदेतदाह—त्रिविधा कर्मचोदनेति । चोदनेति प्रवर्तकमुच्यते । चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुरिति शाबरे । 'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः,' इति भाट्टे च वचने क्रियाप्रवर्तकवचनत्वं यद्यपि चोदनापदशक्यतया प्रतीयते तथाऽपि वचनत्वं विहाय प्रवर्तकमात्रमिह लक्ष्यते ज्ञानादिषु वचनत्वाभावात् । एवं च प्रेरणीयत्वं प्रेरकत्वं चानात्मन एव नाऽऽत्मन इत्यभिप्रायः । तथा करणं साधकतमं बाह्यं श्रोत्राद्यन्तःस्थं बुद्ध्यादि । कर्मकर्तुरीप्सिततमं क्रियया व्याप्यमानमुत्पाद्यमाप्यं विकार्यं संस्कार्यं च । कर्ता च, इतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकाणां प्रयोक्ता क्रियाया निर्वर्तकश्चिदचिद्ग्रन्थिरूप इति त्रिविधस्त्रिप्रकारः, कर्म संगृह्यते समवैत्यत्रेति कर्मसंग्रहः कर्माश्रयः । चकारार्थादितिशब्दात्संप्रदानमपादानमधिकरणं च राशित्रयान्तर्भूतम् । एवं

---

(१) पहले अधिष्ठानादि पाँच पदार्थोंको क्रियाके हेतुरूपसे बताकर आत्माकी सम्पूर्ण कर्मोंसे अस्पृष्टताका वर्णन किया है । अब उसी अर्थका ज्ञान-ज्ञेयादि प्रक्रियाकी रचना और त्रैगुण्यरूप भेदकी व्याख्याके द्वारा स्पष्टीकरण करनेके लिये आरम्भ करते हैं—

[श्लोकार्थः—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता—ये तीन कर्मचोदना (कर्मकी प्रेरणा) के भेद हैं और करण, कर्म एवं कर्ता—ये तीन कर्मसंग्रह (क्रियाके आश्रय)के प्रकार हैं ॥१८॥]

(२) ज्ञान—विषयप्रकाशनरूप क्रिया, ज्ञेय—ज्ञानका कर्म और परिज्ञाता—उसका आश्रय अर्थात् अन्तःकरणरूप उपाधिसे परिकल्पित भोक्ता—इन तीनोंके मिलनेपर ही ग्रहण-त्यागरूप समस्त कर्मोंका आरम्भ होता है । अतः ये तीन ही समस्त कर्मोंके प्रवर्तक हैं । इसीसे कहा है—तीन प्रकारकी कर्मचोदना है । 'चोदना' प्रवर्तकको कहते हैं । यद्यपि 'चोदना क्रियाके प्रवर्तक वचनको कहते हैं' इस शबरस्वामीके वाक्यमें और 'चोदना, उपदेश एवं विधि—ये एक अर्थके वाचक हैं' इस भाट्ट वचनमें भी चोदनापदका शक्यार्थ क्रिया-प्रवर्तकवचनत्व प्रतीत होता है, तथापि यहाँ वचनत्वको त्यागकर प्रवर्तकमात्रमें उसकी लक्षणा की जाती है, क्योंकि ज्ञानादिमें वचनत्वका अभाव होता है । इस प्रकार अभिप्राय यह है कि प्रेरणीयत्व और प्रेरकत्व ये अनात्माके ही धर्म हैं, आत्माके नहीं । तथा करण—क्रियाका साधकतम, जो श्रोत्रादि बाह्य और बुद्धि आदि अन्तःस्थ भेदसे दो प्रकारका है; कर्म—कर्ताको क्रियाके द्वारा सबसे अधिक अभीष्ट अर्थात् उसकी क्रियासे व्याप्त होनेवाला उत्पाद्य, आप्य, विकार्य और संस्कार्य; तथा कर्ता—अन्य कारकोंसे अप्रयोज्य होते हुए समस्त कारकोंका प्रयोजक अर्थात् क्रियाकी निष्पत्ति करनेवाला चित् और अचित्की ग्रन्थिरूप—इस प्रकार तीन तरहका कर्मसंग्रह है । जिसमें कर्म संगृहीत—समवेत होता है उसे कर्मसंग्रह यानी कर्मका आश्रय कहते हैं । यहाँ 'इति' शब्द 'च' शब्दके अर्थमें है । इससे सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भी इन तीन राशियोंके ही अन्तर्गत आ गये हैं । अतः इन तीन रूपोंमें छहों कारक ही क्रियाके आश्रय हैं, कूटस्थ आत्मा नहीं ।

कारकषट्कमेव त्रिविधं क्रियाया आश्रयो नतु कूटस्थ आत्मेत्यर्थः । कर्मप्रेरकस्य कर्माश्रयस्य च कारकरूपत्वात्त्रैगुण्यात्मकत्वाच्चाकारकस्वभावो गुणातीतश्चाऽऽत्मा सर्वकर्मासंस्पर्शीत्यभिप्रायः ।

(१) अथवा ज्ञानं प्रेरणारूपं लिङादिशब्दजन्यं, ज्ञेयं तस्य ज्ञानस्य विषयत्वेन लिङादिशब्दस्वरूपं प्रेरकं, परिज्ञाता तस्य ज्ञानस्याऽऽश्रयः प्रेरणीयः, इत्येवं त्रिविधा कर्मचोदना कर्म क्रिया पुरुषव्यापाररूपाऽऽर्थी भावना, तद्विषया चोदना प्रेरणा विधिरूपा शाब्दी भावनेत्यर्थः । तथा करणं सेतिकर्तव्यताकं साधनं धात्वर्थः, कर्म भाव्यं स्वर्गादिफलं, कर्ता फलकामनावान्पुरुषः क्रियाया निर्वर्तक इत्येवं त्रिविधः कर्मसंग्रहः कर्मणः पुंव्यापाररूपस्यार्थभावनायाः संग्रहः संक्षेपः । तदेवमर्थभावनारूपपुंप्रयत्नस्य विधेयस्याभावाच्छब्दभावनारूपो विधिर्न शुद्धमात्मानं गोचरयति कारकाश्रयत्वाद्विधिविधेययोः । तदुक्तं—'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इति । कारकाणां च त्रैगुण्यरूपत्वमनन्तरमेव व्याख्यास्यत इत्यभिप्रायः ।

(२) अत्र प्रसङ्गाद्विधिश्चिन्त्यते, प्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रेरणा तावत्सर्वलोकानुभवसिद्धा । राज्ञा प्रेरितो बालेन प्रेरितो ब्राह्मणेन प्रेरितोऽहमिति हि प्रवर्तमाना वक्तारो भवन्ति । सा च प्रवर्तना प्रवर्तकराजादिनिष्ठा । तत्रोत्कृष्टस्य निकृष्टं प्रति प्रवर्तनाऽऽज्ञा प्रेषणेति चोच्यते । निकृष्टस्योत्कृष्टं प्रति प्रवर्तना याच्ञाऽध्येषणेति चोच्यते । समस्य समं प्रत्युत्कर्षनिकर्षौदासीन्येन प्रवर्तनाऽनुज्ञाऽनुमतिरिति चोच्यते । ते चाऽऽज्ञादयो ज्ञानविशेषा इच्छाविशेषा वा चेतनधर्मा एव लोके प्रसिद्धाः ।

यह इसका तात्पर्य है । अभिप्राय यह है कि कर्मका प्रेरक और कर्मका आश्रय—ये दोनों कारकरूप और त्रिगुणात्मक हैं, अतः अकारकस्वरूप और गुणातीत आत्मा सम्पूर्ण कर्मोंके संस्पर्शसे रहित है ।

(१) अथवा ज्ञान—लिङादि शब्दसे होनेवाला प्रेरणारूप ज्ञान, ज्ञेय—उस ज्ञानका विषयरूप होनेके कारण लिङादि शब्दरूप प्रेरक और परिज्ञाता—उस ज्ञानका आश्रयरूप प्रेरणीय—इस प्रकार तीन तरहकी कर्म चोदना—कर्म=क्रिया पुरुषव्यापाररूपा आर्थी भावना, उसको विषय करनेवाली चोदना—प्रेरणा विधिरूपा शाब्दी भावना है । तथा करण—इतिकर्त्तव्यताके सहित साधन यानी धातुका अर्थ, कर्म—उससे होनेवाला स्वर्गादि फल और कर्ता—फलकी कामनावाला क्रियाका निर्वर्तक पुरुष—इस तरह तीन प्रकारका कर्मसंग्रह—कर्मका यानी पुरुषके व्यापाररूप आर्थी भावनाका संग्रह—संक्षेप है । सो इस प्रकार विधानके योग्य आर्थी भावनारूप पुरुष प्रयत्नका अभाव होनेके कारण शाब्दी भावनारूप विधि शुद्ध आत्माको विषय नहीं करती, क्योंकि विधि और विधेय ये दोनों कारकके आश्रय रहनेवाले हैं । यही बात 'वेद त्रिगुणमय संसारको विषय करनेवाले हैं, अतः हे अर्जुन ! तुम तीनों गुणोंसे परे हो जाओ' इस वाक्यसे कही है । तथा कारकोंकी त्रैगुण्यरूपताकी व्याख्या तो अब की जायगी—ऐसा इसका अभिप्राय है ।

(२) यहाँ प्रसंगवश विधिके विषयमें विचार किया जाता है । प्रवृत्तिकी हेतुभूत होनेके कारण प्रेरणा तो सभी प्राणियोंको अपने अनुभवसे ही सिद्ध है । प्रवृत्त होनेवाले पुरुष ऐसा कहा करते हैं कि 'मैं राजासे प्रेरित हूँ' 'बालकसे प्रेरित हूँ' 'ब्राह्मणसे प्रेरित हूँ' इत्यादि । वह प्रवर्तना प्रेरक राजा इत्यादिमें रहनेवाली होती है । इनमें उत्कृष्ट पुरुषकी निकृष्ट पुरुषके प्रति होनेवाली प्रवर्तना आज्ञा या प्रेषणा कही जाती है, निकृष्ट पुरुषकी उत्कृष्ट पुरुषके प्रति होनेवाली प्रवर्तना याच्ञा या अध्येषणा कहलाती है तथा समान पुरुषकी समानके प्रति उत्कर्ष और निकर्षकी उदासीनतापूर्वक होनेवाली प्रवर्तना अनुज्ञा या अनुमति कही जाती है । वे आज्ञादि ज्ञानविशेष या इच्छाविशेष लोकमें

वेदे तु विधिनाऽहं प्रेरितः करोमीति व्यवहर्तारो भवन्ति । तत्र स्वयमचेतनत्वादपौरुषेयत्वाच्च वैदिकस्य विधेर्न चेतनधर्मेणाऽऽज्ञादिना प्रेरकता संभवति । अतः स्वधर्मेणैव साऽभ्युपगन्तव्या गत्यन्तरासंभवात् । स एव च धर्मश्चोदना प्रवर्तना प्रेरणा विधिरुपदेशः शब्दभावनेति चोच्यते ।

(१) तत्र केचिदलौकिकमेव शब्दव्यापारं कल्पयन्ति । अन्ये तु क्लृप्तेनैवोपपत्तौ नालौकिककल्पनां सहन्ते । प्रवर्तना हि प्रवृत्तिहेतुर्व्यापारः । विधिशब्दस्य चाऽऽख्यातत्वेन दशलकारसाधारणेनोपाधिना पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनां प्रति वाचकत्वं तज्ज्ञानहेतुत्वमिति यावत् । सा च ज्ञातैवानुष्ठातुं शक्यत इति तद्धीहेतोरपि शब्दस्य तद्धेतुत्वं परम्परया भवत्येव । तत्र विधिशब्दस्य पुरुषप्रवृत्तिरूपभावनाज्ञानहेतुर्व्यापारस्तद्वाचकशक्तिमत्तया विधिशब्दज्ञानम् । स एव च तस्य प्रवृत्तिहेतुर्व्यापार इति प्रवर्तनाभिधानीयतां लभते ज्ञानद्वारेणैव शब्दस्य प्रवृत्तिजनकत्वात्, ज्ञानजनकव्यापारातिरिक्तव्यापारकल्पने मानाभावात् । ज्ञानजनकश्च व्यापारस्तस्य स्वज्ञानं शक्तिज्ञानं शक्तिविशिष्टस्वज्ञानं च । तत्राऽऽद्ययोरन्यतरस्य शब्दभावनात्वं तृतीयस्य तु तत्र करणत्वमिति विवेकः ।

(२) एवं स्थिते निष्कर्षः, विधिना स्वज्ञानं जन्यते प्रवर्तनात्वेनाभिधीयतेऽपीति विधिज्ञानमेवशब्दभावना । तस्यां च पुरुषप्रवृत्तिरूपाऽर्थभावनैव भाव्यतयाऽन्वेति । करणतया च प्रवृत्तिवाचकशक्तिमद्विधिज्ञानमेव । भावनासाध्यस्यापि फलावच्छिन्नां भावनां प्रति करणत्वं फलकरणत्वादेव

चेतनके ही धर्मरूपसे प्रसिद्ध हैं। वेदके विषयमें पुरुष 'मैं विधिसे प्रेरित हुआ कर्म करता हूँ' इस प्रकारका व्यवहार करनेवाले होते हैं। सो स्वयं अचेतन और अपौरुषेय होनेके कारण वैदिक विधिकी चेतनके धर्म आज्ञादिके द्वारा प्रेरकता होनी तो सम्भव है नहीं, अतः कोई अन्य गति सम्भव न होनेसे उसे अपने धर्मसे ही प्रेरक मानना चाहिये। वह धर्म ही चोदना, प्रवर्तना, प्रेरणा, विधि, उपदेश और शाब्दी भावना कहा जाता है।

(१) कोई लोग तो शब्दव्यापारको अलौकिक ही कल्पना करते हैं, किन्तु दूसरे लोग उसकी लौकिकरूपसे ही उपपत्ति होनेपर अलौकिकताकी कल्पनाको सहन नहीं करते। प्रवर्तना प्रवृत्तिका हेतुभूत व्यापार है। दशों लकारोंमें सामान्यरूपसे रहनेवाली आख्यातत्वरूप उपाधिके कारण विधि शब्दका पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थी भावनाके प्रति वाचकत्व अर्थात् अर्थज्ञानका कारणत्व है। उस आर्थी भावनाका ज्ञान होनेपर ही अनुष्ठान किया जा सकता है, अतः उसके ज्ञानके हेतुभूत शब्दका उसके प्रति भी परम्परासे कारणत्व है ही। सो पुरुषप्रवृत्तिरूप भावनाके ज्ञानमें हेतु रूप विधि शब्दका व्यापार पुरुषकी प्रवृत्तिका वाचक है और उसकी वाचक शक्तिवाला होनेसे ही विधिशब्दका ज्ञान होता है, और यही उसकी प्रवृत्तिका हेतुभूत व्यापार है, इसीसे वह 'प्रवर्तना' नाम प्राप्त करता है, क्योंकि ज्ञानके द्वारा ही शब्द प्रवृत्तिको पैदा करनेवाला होता है, कारण कि ज्ञानजनक व्यापारके सिवा उसके किसी अन्य व्यापारकी कल्पना करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। विधिका अपना ज्ञान, उसकी शक्तिका ज्ञान और शक्तिसहित अपना ज्ञान—ये उसके ज्ञानजनक व्यापार हैं। इनमेंसे पहले दो मेंसे कोई भी एक शाब्दी भावनारूप है और तीसरा उनका करण है—इस प्रकार इनका पार्थक्य समझना चाहिये।

(२) ऐसी स्थितिमें सार यह निकला—विधि (विधिवाक्य) के द्वारा विधिका अपना ज्ञान उत्पन्न होता है, तथा प्रवर्तना (प्रेरणा) रूपसे कहा भी जाता है। अतः विधिज्ञान ही शाब्दी भावना है। उसमें पुरुषकी प्रवृत्तिरूपा आर्थी भावना साध्यरूपसे अन्वित होती है तथा करणरूपसे प्रवृत्तिवाचक शक्तिवाला विधिका ज्ञान ही अन्वित होती है। शाब्दी भावनासे सिद्ध होनेवाले (शक्तिविशिष्ट स्वज्ञान) में आर्थी भावनारूप फलसे विशिष्ट शाब्दी

यागस्येव स्वर्गभावनां प्रति न विरुध्यते । तथा च पुरुषः स्वप्रवृत्तिं भावयेत् । केनेत्यपेक्षायां पुरुषप्रवृत्तिवाचकशक्तिमत्तया ज्ञातेन विधिशब्देनेति करणांशपूरणम् । कथमित्याकाङ्क्षायामर्थवादैः स्तुत्वेतीतिकर्तव्यतांशपूरणम् । इयं गौः क्रय्येति लौकिके विधौ बहुक्षीरा जीवद्वत्सा स्थ्यपत्या समांसमीनेत्यादिर्लौकिकार्थवादवत् ।

(१) नन्वाख्यातत्वेन विधिशब्दादुपस्थिता पुरुषप्रवृत्तिर्भाव्यतयाऽन्वेतु । करणं तु कथमनुपस्थितमन्वेति ।

(२) उच्यते—विधिशब्दस्तावच्छ्रवणेनोपस्थापितस्तस्य पुरुषप्रवृत्तिवाचकशक्तिरपि स्मरणेनोपस्थापिता । तदुभयवैशिष्ट्यं तन्निष्ठा ज्ञातता च मनसेति वाचकशक्तिमत्तया ज्ञातो विधिशब्द उपस्थित एव । अनेन यच्छक्यमुपात्तद्वारायेदिति प्रतिशब्दं स्वाध्यायविधितात्पर्याच्छब्दातिरिक्तेनोपस्थितमपि शाब्दबोधे भासत एव । यथा ज्योतिष्टोमादिनामधेयं यथा वा लिङ्गविनियोज्यो मन्त्रः । तदुक्तमाचार्यैरुद्भिदधिकरणे—'अनुपस्थितविशेषणा विशिष्टबुद्धिर्न भवति न त्वनभिहितविशेषणा' इति । एवमर्थवादादानुपस्थितिः श्रोत्रेण प्राशस्त्यस्य तु तैरेव लक्षणया तदुभयनिष्ठज्ञाततायास्तु मनसेत्यर्थवादैः प्रशस्तत्वेन ज्ञात्वेतीतिकर्तव्यतांशान्वयोऽप्युपपन्न एव ।

भावनाके प्रति करणत्व आर्थी भावनारूप फलकी करणता होनेके कारण वैसे ही विरुद्ध नहीं, जैसे स्वर्गके करणभूत यागमें स्वर्गविशिष्ट भावनाके प्रति पुरुष अपनी प्रवृत्तिको सिद्ध करे, 'किसके द्वारा' ऐसा प्रश्न होनेपर 'पुरुषप्रवृत्तिवाचक शक्तिमान्‌रूपसे ज्ञात विधिशब्दसे' इस प्रकार करणांशकी पूर्ति होती है। 'किस प्रकार करे ?' ऐसा प्रश्न होनेपर यह समझना चाहिये कि 'यह गौ खरीदने योग्य है' इत्यादि लौकिक विधिमें 'यह बहुत दूध देनेवाली है, इसका बच्चा जीवित है, यह बछड़ोवाली है, अंगमें भरी हुई और पुष्ट है तथा समानरूपसे प्रति वर्ष ब्याती है' इत्यादि लौकिक अर्थवादके समान अर्थवादोंके द्वारा स्तुति करके इतिकर्त्तव्यतारूप अंशकी पूर्ति होती है।

(१) शंका—आख्यातत्व धर्म-युक्त विधिशब्दसे उपस्थित पुरुषकी प्रवृत्ति साध्यत्वरूपसे भले ही अन्वित रहे, किन्तु जो उपस्थित नहीं है वह करण उसमें किस प्रकार अन्वित रहता है ?

(२) समाधान—बताते हैं—विधिशब्द तो श्रवणेन्द्रियसे ही प्रत्यक्ष हो जाता है, उसकी पुरुषप्रवृत्तिवाचक शक्ति भी स्मरणसे उपस्थित हो जाती है तथा विधि और शक्ति दोनोंकी युक्तता और उसमें रहनेवाली ज्ञातता मनसे उपस्थित होती है। इस प्रकार वाचकशक्तिमत्तारूपसे जाना हुआ विधिशब्द उपस्थित होता है। 'इससे जो कर सके वह करे'—इस प्रकार प्रत्येक शब्दमें स्वाध्याय विधिका तात्पर्य रहनेके कारण शब्दातिरिक्त स्मरणसे उपस्थित हुआ शक्तिज्ञान भी शाब्दबोधमें भासित हो ही जाता है, जैसे कि ज्योतिष्टोमादि नाम अथवा लिंगद्वारा जिसका यागमें विनियोग होता है वह मन्त्र। आचार्योंने उद्भिद् अधिकरणमें ऐसा कहा है—'विशिष्टमें विशेषणकी उपस्थितिसे रहित बुद्धि नहीं होती किन्तु यह बात नहीं है कि जिसमें विशेषणका अभिधान न हो ऐसी बुद्धि नहीं होती।' इस प्रकार अर्थवादोंकी उपस्थिति कानोंसे, विधिकी श्रेष्ठताकी प्राप्ति लक्षणाद्वारा उन अर्थवादोंसे और उन दोनोंमें रहनेवाली ज्ञाततांकी प्राप्ति मनसे होती है। अतः अर्थवादोंके द्वारा विधिकी श्रेष्ठताको जानकर उसमें इतिकर्त्तव्यतारूप अंशका अन्वय होना भी उपपन्न ही है।

(१) ननु किं प्राशस्त्यं, न तावत्फलसाधनत्वं, तस्य यागेन भावयेत्स्वर्गमित्यर्थभावनान्वयवशेन विधिवाक्यादेव लब्धत्वात्। नान्यत्, प्रवृत्तावनुपयोगात्।

(२) उच्यते—बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं प्राशस्त्यम्। तच्च नेष्टहेतुत्वज्ञानाल्लभ्यते, इष्टहेतावपि कलञ्जभक्षणादावनिष्टहेतुत्वस्यापि दर्शनात्। विहितश्येनफलस्य च शत्रुवधस्यानिष्टानुबन्धित्वं दृष्टम्। अतो यावत्साधनस्य फलस्य चानिष्टहेतुत्वं नोच्यते तावद्दिष्टहेतुत्वेन ज्ञातेऽपि तत्र पुरुषो न प्रवर्तते। अत एवोक्तम्—

'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते। केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते॥' इति।

अतः स्वतः फलतो वाऽनर्थाननुबन्धित्वरूपप्राशस्त्यबोधनेनार्थवादा विधिशक्तिमुत्तम्भयन्ति। क उत्तम्भः, स्वतः फलतो वाऽनर्थानुबन्धित्वशङ्कायाः प्रवृत्तिप्रतिबन्धिकाया विगमः। इदमेव च विधेः प्रवृत्तिजनने साहाय्यमर्थवादैः क्रियत इति विधिरर्थवादसाकाङ्क्षः। एवमर्थवादा अप्यभिधया गौण्या वा वृत्त्या भूतमर्थं वदन्तोऽपि स्वाध्यायविध्यापादितप्रयोजनवत्त्वलाभाय विधिसाकाङ्क्षाः। सोऽयं नष्टाश्वदग्धरथवत्संप्रयोगः। यथैकस्य दग्धस्य रथस्य जीवद्भिरश्वैरन्यस्य विद्यमानस्य रथस्याविद्यमानाश्वस्य संप्रयोगः परस्परस्यार्थवत्त्वाय तथार्थवादानां प्रयोजनांशो विधिना पूर्यते, विधेश्च शब्दभावनाया इतिकर्तव्यतांशोऽर्थवादैरिति। तदिदमुभयोः श्रवणे पूर्णमेव वाक्यमेकस्य श्रवणे

(१) शंका—श्रेष्ठता क्या है? फलसाधनता तो श्रेष्ठता हो नहीं सकती, क्योंकि 'यागके द्वारा स्वर्गका सम्पादन करे' इस प्रकार आर्थी भावनाके अन्वयके कारण फल तो विधिवाक्यसे ही प्राप्त हो जाता है। फलसाधनतासे अन्य और कोई श्रेष्ठता नहीं हो सकती, क्योंकि उसका प्रवृत्तिमें कोई उपयोग नहीं।

(२) समाधान—इसका उत्तर दिया जाता है। बलवान् अनिष्टसे सम्बन्ध न होना ही श्रेष्ठता है। उसकी प्राप्ति 'विहित साधन इष्टका हेतु है' इस ज्ञानसे ही नहीं होती, क्योंकि कलञ्जभक्षण आदि इष्टके साधनमें भी अनिष्टहेतुता देखी जाती है तथा विहित श्येनयागके फलभूत शत्रुवधमें अनिष्टजनकत्व देखा जाता है। अतः जबतक साधन और फलमें अनिष्टकी अहेतुता नहीं बतायी जायगी तबतक इष्टके साधनरूपसे उसका ज्ञान होनेपर भी उसमें पुरुष प्रवृत्त नहीं होगा। इसीसे कहा है 'जो कर्म फलके द्वारा भी अनर्थसे सम्बद्ध नहीं होता वही केवल प्रीतिका कारण होनेसे 'धर्म' कहा जाता है।' अतः स्वयं अथवा फलरूपसे साधनकी अनर्थसे सम्बन्धहीनतारूप श्रेष्ठताका बोध कराकर अर्थवाद विधिकी शक्तिको उत्तेजित करते हैं। उसका उत्तेजन क्या है? स्वयं अथवा फलके द्वारा अर्थसे सम्बद्ध न होनेकी शंका, जो कि पुरुषकी प्रवृत्तिको रोकनेवाली है, दूर हो जाना। प्रवृत्ति उत्पन्न करनेमें अर्थवादोंद्वारा विधिकी यही सहायता की जाती है, इसलिये विधिको अर्थवादकी अपेक्षा है, तथा इसी तरह अर्थवाद भी अभिधा या गौणी वृत्तिसे यथार्थ अर्थको कहनेपर भी स्वाध्यायविधिद्वारा प्राप्त प्रयोजनवत्ताकी प्राप्तिके लिये विधिकी अपेक्षा रखते हैं। यह नष्टाश्व और दग्धरथ पुरुषोंके सहयोगके समान है—जिस प्रकार जिसका रथ जल गया है और घोड़े जीवित हैं ऐसे एक पुरुषका दूसरे पुरुषके साथ, जिसका रथ विद्यमान है किन्तु घोड़े मर गये हैं, परस्पर अर्थसिद्धिके लिये मेल हो जाता है उसी प्रकार अर्थवादोंके प्रयोजनरूप अंशकी पूर्ति तो विधिसे होती है तथा शब्दभावनारूपा विधिके इतिकर्त्तव्यतारूप अंशकी पूर्ति अर्थवादोंसे होती है। अतः यह समझना चाहिये कि यदि प्रयोजन और इतिकर्त्तव्यता दोनों सुने जायँ तब तो वाक्य पूरा है और यदि एक ही सुना जाय तो उसे दूसरेकी

त्वन्यस्य कल्पनया पूरणीयं, यथा 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत' इति विधावर्थवादांशोऽश्रुतोऽपि कल्प्यते, 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्यादावर्थवादे विध्यंशः। तथा च सूत्रं 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति। विधिना स्तुतिसाकाङ्क्षेण प्रयोजनसाकाङ्क्षाणामर्थवादानामेकवाक्यत्वाद्विधीनां विधेयानां स्तुत्यर्थेन स्तुतिप्रयोजनेन स्तुतिरूपेण प्रयोजनसाकाङ्क्षेण लाक्षणिकेनार्थेन वाऽऽनर्थक्याभावादर्थवादा धर्मे प्रमाणानि स्युरिति तस्यार्थः।

(१) ननु य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव चामीषामर्था इति न्यायाद्विधिशब्दस्य लोके यत्र शक्तिर्गृहीता वेदेऽपि तदर्थकेनैव तेन भवितव्यम्। लोके च प्रेषणादौ पुरुषधर्मवाचित्वं बलवदिति वेदे शब्दभावनावाचित्वं कथमुपपद्यते।

(२) उच्यते—लोकवेदयोरैकरूप्यमेव। तथा हि—लोके प्रेषणादिकं न तेन तेन रूपेण विधिपदवाच्यमनुगमेन नानार्थत्वप्रसङ्गात्तद्वदेव भावनावाचित्वोपपत्तेश्च। किं तु प्रेषणाध्येषणानुज्ञास्वस्तिप्रवर्तनात्वमेकं, तच्च शब्दव्यापारेऽपि तुल्यमिति तदेव लिङादिपदवाच्यम्। तच्च लौकिकशब्दे नास्त्येव। तत्र राजादीनामेव प्रवर्तकत्वात्। प्रवर्तकव्यापार एव हि प्रवर्तना प्रवर्तकत्वं च राजादेरिव वेदस्याप्यनुभवसिद्धम्।

(३) ननु वेदेऽपि प्रवर्तनावानीश्वरः कल्प्यतां लोके राजादिवत्। तदुक्तं विधिरेव तावद्धर्म इव श्रुतिकुमार्याः पुंयोगे मानमिति।

कल्पना करके पूरा कर लेना चाहिये। जिस प्रकार 'वसन्तऋतुके अधिष्ठातृदेवके लिये तीतरोंका आलभन करे' इस विधिमें अर्थवादांश श्रुत न होनेसे उसकी कल्पना की जाती है, तथा 'जो ये रात्रियाग करते हैं वे प्रतिष्ठाको प्राप्त होते हैं' इस अर्थवादमें विध्यंशकी कल्पना की जाती है। ऐसा ही यह सूत्र भी है—'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इस सूत्रका अर्थ यह है कि स्तुतिकी अपेक्षावाली विधिके साथ अर्थवादोंकी एकवाक्यता होनेके कारण विधियोंकी यानी विधेय वस्तुओंकी 'स्तुत्यर्थेन'—स्तुतिरूप प्रयोजनसे आकांक्षावाले होनेसे अथवा लाक्षणिक अर्थसे आनर्थक्य न होनेके कारण अर्थवाद धर्ममें प्रमाण हैं।

(१) शंका—जो लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक भी हैं और वे ही उनके अर्थ भी हैं, इस न्यायसे विधिशब्दकी लोकमें जिसमें शक्ति ग्रहण की गयी है वेदमें भी उसे उसी अर्थवाला होना चाहिये। लोकमें तो प्रेषणादिको पुरुषधर्मवाची माना गया है, तो फिर वेदमें उसका शब्दभावनावाची होना कैसे बन सकता है?

(२) समाधान—इसका उत्तर कहा जाता है—लोक और वेदकी एकरूपता ही है। तथा लोकमें प्रेषणादिक उस-उस रूपसे विधिपदवाच्य नहीं है, क्योंकि सर्वत्र वे अनुगत नहीं हैं, कारण, ऐसा माननेसे विधिकी अनेकार्थताका प्रसंग उपस्थित होगा और इसी प्रकार उनका भावनावाची होना भी उपपन्न हो जायगा, किन्तु प्रेषणा, अध्येषणा और अनुज्ञा इनमें प्रवर्तनात्व तो एक ही है और वह शब्द व्यापारमें भी समानरूपसे रहता है; अतः वही लिङादिपदका वाच्य है। किन्तु लौकिक शब्दमें तो वह है ही नहीं, क्योंकि उसमें तो राजादिक ही प्रवृत्त करनेवाले होते हैं। प्रवर्तकका व्यापार ही प्रवर्तना है, तथा प्रवर्तकरूप तो राजादिके समान वेदकी भी अनुभवद्वारा सिद्ध है ही।

(३) शंका—लोकमें राजादिकके समान वेदमें भी ईश्वरको प्रवर्तनावान् मान लो। कहा भी है 'श्रुतिरूप कुमारीसे पुरुषका संसर्ग होनेमें गर्भके समान विधिरूप ही प्रमाण है।'

(१) न, वेदस्यापौरुषेयत्वात्। न हि वेदस्य कर्ता पुरुषो लोके वेदे वा प्रसिद्धः। तत्कल्पने च तज्ज्ञानप्रामाण्यापेक्षया वेदप्रामाण्ये निरपेक्षत्वेन स्थितं स्वतः प्रामाण्यं भग्नं स्यात्। बुद्धवाक्येऽपि प्रामाण्यप्रसङ्गाच्च। ईश्वरवचनत्वे समानेऽपि बुद्धवाक्यं न प्रमाणं वेदवाक्यं तु प्रमाणमिति सुभगाभिक्षुकन्यायप्रसङ्गः। महाजनानामुभयसिद्धत्वाभावेन तत्परिग्रहापरिग्रहाभ्यामपि विशेषानुपपत्तेः। ईश्वरप्रेरणाया लोकवेदसाधारणत्वेन लोकेऽपि राजादीनां प्रेरकत्वं न स्यात्। ईश्वरप्रेरणायां स्थितायामेव राजादिरप्यसाधारणतया प्रेरक इति चेत्। हन्त सा तिष्ठतु न वा किंत्विहाप्यसाधारणः प्रेरको वेद एव राजादिस्थानीय इत्यागतं मार्गे। ईश्वरप्रेरणायाः साधारणाया असाधारणप्रेरणासहकारेणैव प्रवर्तकत्वात्। किंचेश्वरप्रेरणायां सर्वोऽपि विहितं कुर्यादेव न तु कश्चिदपि लङ्घयेत्, निषिद्धेऽपि चेश्वरप्रेरणाऽस्त्येव। अन्यथा न कोऽपि तत्र प्रवर्तेतेति तदपि विहितं स्यात्। तथा चोक्तम्—

'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥' इति।

(१) समाधान—नहीं, क्योंकि वेद तो अपौरुषेय है। लोक और वेदमें कहीं भी पुरुष वेदका कर्ता प्रसिद्ध नहीं है। उसकी कल्पना करनेमें उसके प्रामाण्यकी अपेक्षा होनेसे वेदकी प्रामाणिकतामें निरपेक्षरूपसे रहनेवाला स्वतःप्रामाण्य भग्न हो जायगा। और बुद्धके वाक्यमें भी प्रामाणिकताका प्रसंग उपस्थित होगा। ईश्वरवचनत्व तो वेदवाक्य और बुद्धवाक्य दोनोंमें ही समान है; ऐसी स्थितिमें 'बुद्धवाक्य प्रमाण है नहीं, और वेदवाक्य प्रमाण है' ऐसा माननेमें सुभगाभिक्षुकन्यायका प्रसंग होगा; क्योंकि जिन्हें वैदिक और अवैदिक दोनों ही पुरुष मानते हों ऐसा कोई महापुरुष न होनेसे उनके ग्रहण करने या न करनेसे भी कोई विशेषता नहीं आ सकती। लोक और वेदमें प्रेरणा समानरूपसे रहनेपर राजादिका तो लोकमें भी प्रेरकत्व सिद्ध नहीं होगा। यदि कहो कि 'ईश्वरप्रेरणाके रहते हुए ही राजादि भी असाधारण रूपसे प्रेरक हैं तो बड़ी प्रसन्नताकी बात है, ऐसा हो अथवा न हो, यहाँ तो राजास्थानीय असाधारण प्रेरक वेद ही है'—ऐसा माननेपर तो आप ठीक रास्तेपर आ जाते हैं, क्योंकि साधारण ईश्वरप्रेरणा असाधारण प्रेरणाकी सहायतासे ही प्रेरक हो सकती है। तो और यदि ईश्वरकी ही प्रेरणा होती तो सबको विहित कर्म ही करना चाहिये था, किसीको भी उसका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये था। निषिद्ध कर्ममें भी ईश्वरप्रेरणा तो रहती है, नहीं तो उसमें कोई भी प्रवृत्त न होता। अतः [केवल ईश्वर प्रेरणसा ही माननेपर] निषिद्ध कर्म भी विहित हो जाता है। ऐसा ही कहा भी है—'यह अज्ञानी जीव अपने सुख-दुःखके विषयमें परतन्त्र है। यह ईश्वरसे प्रेरित होकर ही स्वर्ग या नरकमें जाता है' इसलिये राजादिके समान वेद भी अपनी प्रवर्तनाको सूचित करते हुए प्रवृत्त होनेवालेकी इच्छाको आगे रखकर उसे प्रवृत्त

१. किसी गृहस्थकी दो स्त्रियाँ थीं। उनमें एक सुभगा (सुशीला) थी और दूसरी दुर्भगा (दुष्टा)। एक दिन एक भिक्षु उसके द्वारपर भिक्षा माँगने आया। उसपर पहले दुर्भगाकी दृष्टि पड़ी। उसने कह दिया भिक्षा नहीं मिलेगी। फिर जब भिक्षु चला गया और सुभगाको इस बातका पता लगा तो उसने उसे पुकारा। भिक्षुने कहा—'मैं तो दूसरी स्त्रीके मना करनेपर चला आया।' उस समय यदि सुभगा कहे कि उसे मना करनेका अधिकार नहीं था, इस घरमें मेरा ही अधिकार है तो भिक्षु उसकी बात स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि घरमें अधिकार तो दोनों हीका समान है। यही सुभगाभिक्षुकन्याय है। इसी न्यायसे दोनों ही ईश्वरवचन होनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वेदवचन प्रमाण है, बुद्धवचन प्रमाण नहीं है।

तस्माद्राजादिरिव वेदोऽपि स्वप्रवर्तनां ज्ञापयन्निच्छोपहारमुखेन प्रवर्तयतीति सिद्धं लोकवेदयोरेकरूप्यम्। पूर्वमीमांसकानां स्वतन्त्रो वेदो ब्रह्ममीमांसकानां तु ब्रह्मविवर्तस्तत्परतन्त्रो वेद इति यद्यपि विशेषस्तथाऽपि श्वसिततुल्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वमुभयेषामपि समानम्।

(१) अत्र च प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारत्वं प्रवर्तनात्वं सखण्डोऽखण्डो वोपाधिस्तस्मिन्विधिपदशक्येऽपि तदाश्रयविशेषोपस्थितिर्गोवादितुल्यैव। अनुकूलव्यापारत्वं वा शक्यं प्रवृत्त्यंशस्याख्यातत्वेन शक्त्यन्तरलभ्य एव। दण्डीत्यत्र संबन्धिनि मतुवर्थे प्रकृत्यर्थदण्डांशवत्। फलसाधनताबोध एव प्रेरणा तामेव कुर्वन्प्रेरको विधिरतः फलसाधनतैव प्रेरणात्वेन विधिपदशक्येति मण्डनाचार्याः। फलसाधनता चार्थभावनान्वयलभ्येत्युक्तं प्राक्। इममेव च पक्षं पार्थसारथिप्रभृतयः पण्डिताः प्रतिपन्नाः। औपनिषदानामपि केषांचिदिष्टसाधनतावादोऽनेनैव मतेनोपपादनीयः। इष्टसाधनत्वं स्वरूपेणैव लिङादिपदशक्यं न प्रेरणात्वेनेति तार्किकाः, तन्न, गौरवादन्यलभ्यत्वादन्वययोग्यत्वाच्च। इच्छाविषयसाधनत्वापेक्षया प्रवर्तनात्वमतिलघु इच्छातद्विषययोरप्रवेशात्। इच्छाज्ञानस्यापि प्रवृत्तिज्ञानवत्प्रवृत्तिहेतुत्वा-

करता है। इस प्रकार लोक और वेदकी एकरूपता सिद्ध होती है। पूर्वमीमांसकोंके मतमें तो वेद स्वतन्त्र है, किन्तु ब्रह्ममीमांसकोंके मतमें वह ब्रह्मका विवर्त्त और उसके अधीन है। इन दोनों मतोंमें यद्यपि इतना अन्तर है तो भी परमात्माका श्वासतुल्य होनेके कारण वेदकी अपौरुषेयता तो दोनों हीके मतमें समान है।

(१) यहाँ जो प्रवृत्तिके अनुकूल व्यापारत्वरूप प्रवर्तनात्व है वह सखण्ड या अखण्ड उपाधि[1] है उसमें विधिपदकी वाच्यता होनेपर भी, उसके आश्रयविशेषकी उपस्थिति तो गौ आदिके समान ही है। अथवा अनुकूलव्यापारत्व ही विधिपदका वाच्यार्थ है, उसमें [विशेषणरूप] जो प्रवृत्त्यंश है वह विधि प्रत्ययगत आख्यातत्वरूप धर्मान्तरकी शक्तिसे उपस्थित होता है; जैसे 'दण्डी' इस स्थलमें मत्वर्थीय इन् प्रत्ययका अर्थ तो केवल सम्बन्धित्व है [दण्डसम्बन्धित्व नहीं] उसमें 'दण्ड' इस प्रकृत्यंशरूप विशेषणकी प्राप्ति दण्ड शब्दकी शक्तिसे होती है। फलसाधनताका बोध ही प्रेरणा है; उसे करनेके कारण ही विधि प्रेरक है। अतः प्रेरणात्वरूपसे फलसाधनता ही विधिपदकी वाच्य है—ऐसा मण्डनाचार्यका मत है। और यह बात पहले कही जा चुकी है कि फलसाधनता आर्थी भावनाके सम्बन्धसे प्राप्त होनेवाली है। इसी पक्षको पार्थसारथि आदि पण्डितोंने भी स्वीकार किया है। किन्हीं-किन्हीं वेदान्तियोंके मतमें भी इष्टसाधनतावादकी भी इसीसे उपपत्ति लगानी चाहिये। नैयायिकोंका मत है कि इष्टसाधनता स्वरूपतः ही लिङादि पदकी वाच्य है, प्रेरणात्वरूपसे नहीं। पर यह मत ठीक नहीं, क्योंकि इसमें कल्पनागौरव, अन्यलभ्यत्व और अन्वययोग्यत्व ये

१. अनुगत धर्मको जाति या उपाधि कहते हैं। जहाँ जातिका कोई बाधक होता है वहाँ उसे 'उपाधि' कहा जाता है। व्यक्तिकी अभिन्नता, तुल्यता और सांकर्य आदि जातिके बाधक हैं; जैसे गगनत्वधर्मकी आश्रय गगनव्यक्ति अभिन्न (एक) है इसलिये वह जाति नहीं उपाधि है। इसी तरह तुल्य होनेके कारण घटत्व और कलशत्व ये दोनों जाति नहीं हो सकते, तथा सङ्करदोषयुक्त होनेके कारण भूतत्व और मूर्तत्व ये दोनों भी जाति नहीं, उपाधि हैं। उपाधिके दो भेद हैं—सखण्ड और अखण्ड। निरवच्छिन्न उपाधि अखण्ड होती है और सावच्छिन्न सखण्ड। अतः प्रवर्तनात्व अखण्ड उपाधि है और प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारत्व सखण्ड उपाधि, क्योंकि यह प्रवृत्ति, अनुकूल और व्यापार तीन खण्डोंसे परिच्छिन्न है।

पातात्, वस्तुगत्या य इच्छाविषयस्तत्साधनमिति शब्देन प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्। साधनत्वमात्रस्यैव शक्यत्वे च तेनैव प्रत्ययेनोपस्थापितया प्रवृत्त्या सह श्रुत्या तदन्वयसंभवे पदान्तरोपस्थापितस्वर्गेण सह वाक्येन तदन्वयासंभवात्प्रवर्तनात्व एव पर्यवसानं श्रुत्या वाक्यस्य बाधात्। प्रत्ययश्रुतेः पदश्रुतितोऽपि बलीयस्त्वेन पशुना यजेतेत्यत्र प्रकृत्यर्थं पशुं विहाय प्रत्ययार्थेन करणेन सहैवैकत्वस्या-

तीन दोष प्राप्त होते हैं।[1] [इष्टसाधनत्वको स्वरूपतः लिङादि पदका शक्यार्थ माननेपर] इच्छा, इच्छाका विषय और उसका साधन [ये तीन पदार्थ] माननेकी अपेक्षा प्रवर्तनाको उसका शक्यार्थ माननेमें बहुत लाघव है, क्योंकि इसमें इच्छा और इच्छाके विषय (स्वर्गादि) का समावेश नहीं करना पड़ता। इन दोनोंका समावेश करनेमें दूसरा दोष यह भी है कि जैसे प्रवृत्तिज्ञान प्रवृत्तिमें हेतु होता है उसी प्रकार इच्छा ज्ञानको भी प्रवृत्तिकी हेतुता प्राप्त होगी। [यदि कहो कि इच्छा और इच्छाका विषय तो अज्ञात रहते हैं केवल साधनमात्र ही लिङ्पदका शक्यार्थ है, इसलिये ऐसा माननेमें भी गौरव नहीं आता, तो] वस्तुतः 'इच्छाका विषय उसका साधन है, ऐसा शब्दसे प्रतिपादन नहीं किया जा सकता[2] और यदि [इष्टसाधनत्वको उसका शक्यार्थ न कहकर] ऐसा कहो कि केवल साधनत्वमात्र लिङ्पदका शक्यार्थ है तो ऐसा माननेपर भी उस लिङादि प्रत्ययके द्वारा ही पुरुष-प्रवृत्तिकी भी उपस्थिति करायी जाती है, अतः एक विभक्ति-श्रुतिके बलसे क्रियारूप पुरुषप्रवृत्तिके साथ अन्वय सम्भव होनेपर केवल वाक्यके बलसे पदान्तरद्वारा उपस्थापित स्वर्गके साथ उसका अन्वय कदापि नहीं हो सकता। अतः उस साधनत्वका पर्यवसान प्रवर्तनात्वमें ही होता है, क्योंकि श्रुतिके द्वारा वाक्यका बाध हो जाता है। प्रत्ययश्रुति पद-श्रुतिसे भी बलवती है। इसीसे 'पशुना यजेत' इस वाक्यमें प्रकृत्यर्थ पशुको छोड़कर 'टा' रूप प्रत्ययका अर्थ जो 'करण' और 'एकत्व' है उसमें करणके

१. आगे इन्हीं तीन दोषोंकी व्याख्या की गयी है। वह सुगमतासे हृदयङ्गम हो सके इसलिये यहाँ संक्षेपमें उन्हें खुलासा करनेका प्रयत्न किया जाता है—

(क) सिद्धान्ती लिङ्पद (विधि) का शक्यार्थ केवल प्रवर्तना(प्रवृत्ति या प्रेरणा) मानते हैं। प्रेरणात्वरूपसे ही फल-साधनता लिङादि पदका वाच्यार्थ होती है। किन्तु तार्किक इष्टसाधनताको विधिका शब्दार्थ बताते हैं। ऐसी दशामें उन्हें इच्छा, इच्छाका विषय और साधनत्व तीन पदार्थ मानने पड़ते हैं अतः उनकी कल्पनामें गौरव दोष है।

(ख) विद्वानोंकी ऐसी मान्यता है कि 'अनन्यलभ्यः पदार्थः' अर्थात् पदका अर्थ वही है जो दूसरे पदसे उपलब्ध न हो सके। इच्छाके विषय स्वर्गादि तो पदान्तरसे भी उपलब्ध हो सकते हैं। इसलिये उन्हें विधिका शक्यार्थ माननेपर अन्यलभ्यत्वरूप दोष भी आता है।

(ग) जो अन्वयके योग्य न हो उसे अन्वययोग्य कहते हैं। 'यजेत' आदि जो विधिसूचक पद हैं उनमें जो 'त' है यह प्रत्यय या विभक्ति है। इसमें भी दो धर्म हैं—आख्यातत्व और लिङ्त्व। ये दोनों ही विधिके अन्तर्गत हैं। आख्यातका अर्थ है प्रवृत्ति और लिङ्का अर्थ है साधनता। ऐसी स्थितिमें यदि हम वाक्यके बलसे इच्छाके विषयका साधनत्वके साथ अन्वय करने लगेंगे तो वाक्यका बाध करके एक-विभक्ति-श्रुतिके द्वारा जो आख्यातत्वांशसे उपस्थित प्रवृत्तिरूप अर्थ है उसीका अन्वय उसके साथ हो सकेगा, इष्टविषयका नहीं। अतः इष्टसाधनत्वको शक्यार्थ माननेपर इष्टका साधनत्वके साथ अन्वय न हो सकनेके कारण यहाँ अन्वययोग्यत्व दोष भी प्राप्त होता है।

२. क्योंकि शब्दार्थ वही होता है जो ज्ञात हो, अज्ञात अर्थ शक्य नहीं होता।

न्वयादेकं करणं पशुरिति वचनव्यक्त्या क्रत्वङ्गत्वमेकत्वस्य स्थितं किमु वक्तव्यं पदान्तरसमभिव्याहाररूपाद्वाक्याद्बलीयस्त्वमिति।

(१) वाक्यार्थान्वयलभ्यत्वाच्च नेष्टसाधनत्वं पदार्थः। तथा हि प्रवर्तनाकर्मभूता पुरुषप्रवृत्तिरूपाऽर्थभावना किं केन कथमित्याकांक्षत्रयवती विधिनाऽऽलम्बत्वेन प्रतिपाद्यत इत्युक्तं प्राक्। अपुरुषार्थकर्मिकायां च तस्यां प्रवर्तनानुपपत्तेरेकपदोपस्थापितमप्यपुरुषार्थं धात्वर्थं विहाय भिन्नपदोपात्तमन्यविशेषणमपि कर्मिपदसंबन्धेन साध्यतान्वययोग्यं स्वर्गमेव पुरुषार्थं सा भाव्यतयाऽऽलम्बते। इच्छाविषयस्यैव कृतिविषयत्वनियमात्। स्वर्गं कामयते स्वर्गकाम इति कर्मणि द्वितीयाया अन्तर्भूतत्वात्, यजतेरकर्मकत्वेन स्वर्गमित्युक्तेऽनन्वयाच्च। अत एव यत्र कर्मिपदं न श्रूयते तत्रापि तत्कल्प्यते। यथा 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्यादौ प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रमुपेयुरित्यादि। एवं च लब्धभाव्यायां तस्यां समानपदोपस्थापितो धात्वर्थ एव करणतयाऽन्वेति भाव्यांशस्य कर्मिविषयेणावरुद्धत्वात्सुब्विभक्तियोग्ये धात्वर्थनामधेये ज्योतिष्टोमादौ तृतीयाश्रवणात्। यत्रापि नामधेये द्वितीया श्रूयते तत्रापि व्यत्ययानुशासनेन तृतीयाकल्पनात्। तदुक्तं महाभाष्यकारैरग्निहोत्रं जुहोतीति तृतीयार्थे

साथ ही एकत्वका अन्वय होता है। इसलिये 'एक करण पशु' ऐसी वचनव्यक्ति होनेसे एकत्व ही क्रतुका अंग निश्चित होता है। जब प्रत्ययश्रुति पद-श्रुतिसे भी बलवती है तो वह अन्य पदोंके उच्चारणरूप वाक्यसे प्रबल हो—इसमें तो कहना ही क्या है?

(१) वाक्यार्थके अन्वयसे प्राप्त होनेवाली होनेके कारण इष्टसाधनता विधिपदका अर्थ नहीं है। इस प्रकार प्रवर्तनाकी कर्मभूता पुरुषप्रवृत्तिरूपा आर्थी भावनाका, जो 'किम्' (क्या) 'केन' (किसके द्वारा) और 'कथम्' (किस प्रकार) ऐसे तीन अंशोंवाली है, विधिके द्वारा आलम्बनरूपसे प्रतिपादन की जाती है—ऐसा पहले कहा जा चुका है। यदि पुरुषार्थ उस आर्थीभावनाका कर्म न हो तो उसमें प्रवर्तनाकी उपपत्ति नहीं होगी; इसलिये एकपदद्वारा प्रस्तुत अपुरुषार्थरूप धातुके अर्थका परित्यागकर वह साध्यतामें अन्वयके योग्य स्वर्गरूप पुरुषार्थको ही अन्य पदसे प्राप्त और दूसरेका विशेषण होनेपर भी 'कम्' धातुसे निष्पन्न [काम] पदके सम्बन्धद्वारा भावनाके विषयरूपसे आलम्बन करती है, क्योंकि ऐसा नियम है कि जो इच्छाका विषय होता है उसीमें कृतिकी भी विषयता होती है। 'जो स्वर्गकी कामना करता है वह 'स्वर्गकाम' कहा जाता है, इस प्रकार यहाँ 'कर्मण्यण्' सूत्रसे 'कर्म' उपपद रहते हुए 'अण्' प्रत्यय हुआ है। इसलिये यहाँ 'स्वर्गम्' इस प्रकार द्वितीया विभक्तिका अन्तर्भाव है; और 'यज्' धातु अकर्मक है, इसलिये 'स्वर्गम्' ऐसा कहनेसे इसका उससे अन्वय नहीं हो सकता। इसीसे जहाँ 'कमि' पद [अर्थात् 'कम्' धातुसे निष्पन्न 'काम' पद] श्रुत नहीं होता वहाँ भी उसकी कल्पना कर ली जाती है; जैसे—'जो रात्रिसत्र करते हैं वे प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं' इत्यादि वाक्यमें प्रतिष्ठाकामी रात्रिसत्र करें' ऐसी कल्पना की जाती है इस प्रकार जिसमें स्वर्गादि भाव्य प्राप्त है उस आर्थी भावनामें समानपदसे प्रस्तुत धातुका अर्थ ही कारणरूपसे अन्वित रहता है, क्योंकि कमिपदके विषयरूपसे भाव्यांश बँधा हुआ है और धातुका अर्थभूत जो याग उसके नाम ज्योतिष्टोमादिमें तृतीया विभक्ति सुनी जाती है और जहाँ उसमें द्वितीया होती है वहाँ भी 'व्यत्ययो बहुलम्' इस सूत्रसे तृतीयाकी कल्पना कर ली जाती है। ऐसा ही महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' यहाँ तृतीयाके अर्थमें द्वितीया है। इसीसे उन्होंने कहा है कि प्रकृति और प्रत्यय मिलकर प्रत्ययका अर्थ बताते हैं। उनमें प्रत्ययका अर्थ तो प्रधानतासे रहता है और प्रकृतिका अर्थ गौणता-

द्वितीयेति। अत एव तैः प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्राधान्येन प्रकृत्यर्थो गुणत्वेनेति प्रत्ययार्थभावनां प्रति धात्वर्थस्य गुणत्वेन करणत्वमुक्तम्। आख्यातं क्रियाप्रधानमिति वदद्भिर्निरुक्तकारैरप्येतदेवोक्तम्। भावार्थाधिकरणे च तथैव स्थितम्। तेन सर्वत्र प्रत्ययार्थं प्रति धात्वर्थस्य करणत्वेनैवान्वयनियमः। अत एव गुणविशिष्टधात्वर्थविधौ धात्वर्थानुवादेन केवलगुणविधौ च मत्वर्थलक्षणा विधेर्विप्रकृष्टविषयत्वं च। यथा सोमेन यजेतेति विशिष्टविधौ सोमवता यागेनेति दध्ना जुहोतीति गुणविधौ दधिमता होमेनेति।

(१) नामधेयान्वये तु सामानाधिकरण्योपपत्तेर्धात्वर्थमात्रविधानाच्च न मत्वर्थलक्षणा न वा विधिविप्रकर्षः। तदेवं ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यत्राऽऽख्यातार्थो भावयेदिति किमित्याकाङ्क्षायां कमिविषयं स्वर्गमिति विधिश्रुतेर्बलीयस्त्वादाकाङ्क्षाया उत्कटत्वाच्च। तथा च स्थितं षष्ठाद्ये। ततः केनेत्यपेक्षिते यागेनेति तृतीयान्तपदसमानाधिकरणत्वात्करणत्वेनैवान्वयनियमाच्च। किंनाम्नेत्यपेक्षिते ज्योतिष्टोमेनेति तन्नाम्नेत्यर्थः। शब्दादनुपस्थितोऽपि ज्योतिष्टोमशब्दो भासत एव शाब्दे बोधे श्रवणेनोपस्थापितस्तात्पर्यवशात्। नामधेयान्वये च न विभक्त्यर्थो द्वारं नञिवाद्यर्थान्वय इव। तेन मत्वर्थलक्षणामन्तरेणैव ज्योतिष्टोमशब्दवतेत्यन्वयलाभः। तथा च कविप्रयोगः—'हिमालयो नाम नगाधिराजः' इति। हिमालयनामवानित्यर्थः। एवमिह 'प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यादावगृहीतसंगतिकैकपदवति वाक्ये मधुकरादिपदं स्वरूपेणैव भासते नामधेयवन्नार्थमुपस्थापयति प्रागगृहीतसंगतिकत्वात्। अत एव मधुकरशब्दवाच्य इत्यपि लक्षणया नान्वयः शक्ययज्ञानपूर्वकत्वाल्लक्ष्यज्ञानस्य। स्वरूपतस्तु शब्दे भाते वाच्यवाचकसंबन्धः पश्चात्कल्प्यते संसर्ग-

से—इस प्रकार प्रत्ययार्थकी भावनाके प्रति धातुके अर्थकी गौणरूपसे करणता कही गयी है। 'आख्यात क्रियाप्रधान होता है' ऐसा कहनेवाले निरुक्तकारने भी यही बात कही है। भावार्थाधिकरणमें भी ऐसा ही निश्चय किया गया है। अतः सभी जगह प्रत्ययार्थमें धातुके अर्थका करणरूपसे अन्वय होनेका ही नियम है। जहाँ गुणविशिष्टधात्वर्थका विधान है तथा जहाँ धात्वर्थका अनुवाद करके केवल गुणका विधान है वहाँ मतुप्-अर्थमें लक्षणा होती है तथा विधिकी व्यवहित-विषयता रहती है। जैसे—'सोमसे यजन करे' इस विशिष्ट विधिमें 'सोमवाले यागसे' ऐसा और 'दधि से हवन करता है, इस गुणविधिमें 'दधिवाले होमसे' ऐसा अर्थ होता है।

(१) किन्तु नाम का अन्वय रहनेपर तो समानाधिकरण हो सकनेके कारण धात्वर्थमात्रका विधान होनेसे न तो मत्वर्थीय लक्षणा ही होती है और न विधिकी दूर-विषयता ही रहती है। जैसे 'स्वर्गकी कामनावाला ज्योतिष्टोम यागद्वारा पूजन करे' यहाँ 'भावना करे' यह आख्यातार्थ है। 'किसकी भावना करे?' ऐसा प्रश्न होनेपर 'कामनाके विषय स्वर्गकी' ऐसा अर्थ होगा, क्योंकि विधिश्रुति बलवती है और आकांक्षा उत्कट है। ऐसा ही छठे अध्यायके आरम्भ में निश्चय किया गया है। फिर 'किसके द्वारा?' ऐसा प्रश्न होनेपर 'यागके द्वारा' ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि इसका तृतीयाके साथ सामानाधिकरण्य है और करणत्वसे ही अन्वय होनेका नियम भी है। तथा 'किस नामवाले यागसे?' ऐसी अपेक्षा होनेपर 'ज्योतिष्टोमसे' अर्थात् 'ज्योतिष्टोम नामवाले यागसे' ऐसा कहा जायगा। शब्दसे उपस्थित न होनेपर भी 'ज्योतिष्टोम' शब्द तात्पर्यवश श्रवणेन्द्रियके द्वारा शाब्दबोध होनेपर भास हो जाता है। 'नञ्' और 'इव' आदि अव्ययपदोंके अर्थके अन्वयमें जैसे विभक्त्यर्थ कारण नहीं है वैसे ही नामधेयके अन्वयमें भी वह कारण नहीं है। अतः मत्वर्थीय लक्षणाके बिना ही 'ज्योतिष्टोम नामवाले यागसे' ऐसा अर्थ प्राप्त

निर्वाहायेति। तदयं वाक्यार्थः—ज्योतिष्टोमनाम्ना यागेन स्वर्गमिष्टं भावयेदिति। कथमित्यपेक्षिते श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याभिः। सामवायिकादुपकारकाङ्गप्राप्तौ विकृतौ प्रकृतिवदित्युपबन्धेन नित्ये यथाशक्तीत्युपबन्धेन मुख्यालाभे प्रतिनिधायापीति यावन्न्यायलभ्यं तत्पूरणम्। एवं च यागस्य स्वर्गावच्छिन्नभावनाकरणत्वेन स्वर्गकरणत्वं करणत्वेन च साक्षात्कर्तृव्यापारविषयत्वरूपं कृतिसाध्यत्वं श्रुत्यर्थाभ्यां लभ्यत इति तदुभयमपि न लिङादिपदवाच्यमप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति न्यायात्। अनन्वयाच्च, इष्टसाधनमिति समासे गुणभूतमिष्टपदं स्वर्गकाम इतिसमासान्तरगुणभूतेन स्वर्गपदेन कथमन्वियादिष्टस्वर्गसाधनमिति। नहि राजपुरुषो वीरपुत्र इत्यत्र वीरपदराजपदयोरन्वयोऽस्ति पदार्थः पदार्थैनान्वेति ननु पदार्थैकदेशेनेति न्यायात्। करणविभक्त्यन्तज्योतिष्टोमादिनामधेयानन्वयप्रसङ्गादिदोषाश्चास्मिन्पक्षे द्रष्टव्याः। एतेनेष्टसाधनत्वमनिष्टासाधनत्वं कृतिसाध्यत्वमिति त्रयमपि विध्यर्थ इत्यपास्तम्। अतिगौरवादर्थवादानां सर्वथा वैयर्थ्यापत्तेश्च। अत एव कृतिसाध्य-

हो जाता है। ऐसा ही यह कविका प्रयोग भी है—'हिमालयो नाम नगाधिराजः' अर्थात् हिमालय नामवाला पर्वतराज। इसी प्रकार 'प्रफुल्लित कमलमें मधुकर मधुपान करता है' इत्यादि स्थलमें जिनकी पारस्परिक संगतिका ग्रहण नहीं होता ऐसे एक-एक पदवाले वाक्यमें 'मधुकर' आदि पद स्वरूपसे भी भासते हैं और पहले संगतिका ग्रहण न होनेके कारण नामके सिवा कोई और अर्थ उपस्थित नहीं करते। इसलिये लक्षणाके द्वारा मधुकरपदवाच्य ऐसे अर्थका अन्वय भी नहीं होता; क्योंकि लक्षणाका ज्ञान तो शक्यके ज्ञानपूर्वक होता है। स्वरूपतः तो शब्दका भान होनेपर ही संसर्गका निर्वाह करनेके लिये पीछेसे वाच्य-वाचक सम्बन्धकी कल्पना कर ली जाती है। इस प्रकार 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्यका अर्थ यह है—ज्योतिष्टोम नामके याग द्वारा स्वर्गरूप इष्टकर्मकी सिद्धि करे। किस प्रकार?—ऐसी आकांक्षा होनेपर 'श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्याद्वारा सन्निपत्य और आरात् उपकारक अंगोंकी पूर्तिद्वारा' ऐसा उत्तर समझना चाहिये। जैसे विकृतिमें प्रकृतिके समान अंगोंका उपसंहार करके, नित्यकर्ममें यथाशक्ति नियमानुसार और यदि मुख्य वस्तु न मिले तो उसके बदले प्रतिनिधिके द्वारा भी अंगोंकी पूर्ति की जाती है। इस प्रकार ही स्वर्गावच्छिन्न भावनाका करण होनेके कारण यागमें स्वर्गसाधनता है और साधनताके कारण ही श्रुति (शक्ति) और अर्थ (लक्षणा) के द्वारा उसके साक्षात् कर्तृव्यापारकी विषयतारूप कृतिसाध्यता भी प्राप्त होती है। अतः ये दोनों ही बातें लिङादिपदकी वाच्य नहीं हैं। यह बात 'अप्राप्त विषयका विधान करने में शास्त्र सार्थक होता है' इस न्यायसे और [दो समस्त पदोंके गौणपदोंका] अन्वय न होनेसे भी सिद्ध है। भला, 'इष्टसाधन' इस समस्त पदमें गौणरूपसे रहनेवाले 'इष्ट' पदका 'स्वर्गकाम' इस दूसरे समस्त पदमें गौणरूपसे रहनेवाले 'स्वर्ग' पदसे 'इष्ट स्वर्गका साधन' इस प्रकार कैसे अन्वय हो सकता है? 'राजपुत्र' और 'वीरपुत्र' इन दो समासोंके राज पद और वीर पदका अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि पदके अर्थका ही पदके (पूर्ण) अर्थमें अन्वय होता है, पदके अर्थके एकदेशमें नहीं—ऐसा नियम है। इस पक्षमें करण विभक्ति जिनके अन्तमें है उन ज्योतिष्टोमादि नामोंका अन्वय न होनेका प्रसंग इत्यादि अन्य दोष भी देखनेयोग्य हैं। इस हेतुसे 'इष्टसाधनता अनिष्टकी असाधनता और कृतिसाध्यता—ये तीन भी विधिके ही अर्थ हैं' इस पक्षका भी निराकरण हो जाता है, क्योंकि इसमें अत्यन्त गौरव है और अर्थवादोंकी व्यर्थता प्राप्त होती है। इसीसे 'कृतिसाध्यत्व ही विधिका अर्थ है' यह बात भी नहीं है, क्योंकि 'भावनाके करणरूपसे

स्वमात्रं विध्यर्थं इत्यपि न भावनाकरणत्वेनार्थलभ्यत्वादित्युक्तेः। अलौकिको नियोगस्त्वलौकिकत्वादेव न विध्यर्थः। पराक्रान्तं चात्र सूरिभिः। तस्मादनन्यलभ्या लघुभूता च प्रेरणैव लिङादिपदवाच्येति स्थितम्। प्रवर्तकं तु ज्ञानं वाक्यार्थमर्यादालभ्यमन्यदेव सर्वेषामपि वादिनाम्। आख्यातार्थ एव च विशेष्यतया भासते न धात्वर्थो न नामार्थः स्वर्गकामो वेति चोक्तप्रायमेव। तेन च यागानुकूल-कृतिमान्स्वर्गकाम इति तार्किकमतं पुरुषविशेष्यकवाक्यार्थज्ञानमपास्तम्।

(१) संक्षेपेण मतं भाट्टमिदमत्रोपपादितम्। यद्वक्तव्यमिहान्यत्तदनुसंधेयमाकरात्॥ १८॥

(२) इदानीं ज्ञानज्ञेयज्ञातृरूपस्य करणकर्मकर्तृरूपस्य च त्रिकद्वयस्य त्रिगुणात्मकत्वं वक्तव्यमिति तदुभयं संक्षिप्य त्रिगुणात्मकत्वं प्रतिजानीते—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥

(३) ज्ञानं प्राग्व्याख्यातम्। ज्ञेयमप्यत्रैवान्तर्भूतं ज्ञानोपाधिकत्वाज्ज्ञेयस्य। कर्म क्रिया त्रिविधः कर्मसंग्रह इत्यत्रोक्ता। चकारात्करणकर्मकारकयोरत्रैवान्तर्भावः क्रियोपाधिकत्वात्कारकस्वस्य। कर्ता क्रियाया निर्वर्तकः। चकाराज्ज्ञाता च कर्तुः क्रियोपाधिकत्वेऽपि पृथक्त्रैगुण्यकथनं कुतार्किकभ्रमकल्पितात्मत्वनिवारणार्थम्। ते हि कर्तैवाऽऽत्मेति मन्यन्ते। गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि

कृतिसाध्यता अर्थतः प्राप्त हो जानेवाली है' ऐसा कहा है। अलौकिक नियोग तो अलौकिक होनेके कारण ही विधिका अर्थ नहीं है। इस विषयमें विद्वानोंने बड़ा पराक्रम दिखाया है। अतः 'किसी अन्य साधनद्वारा प्राप्त न होनेवाली और लघुभूता प्रेरणा ही लिङादिपदवाच्य है' यह निश्चय होता है। वाक्यार्थकी मर्यादासे प्राप्त होनेवाला प्रवर्तक ज्ञान तो दूसरा ही है—ऐसा सब वादियोंका मत है। आख्यातका अर्थ ही विशेषरूपसे भासता है; धातुका अर्थ, नामका अर्थ अथवा स्वर्गकाम ये विशेषरूपसे नहीं भासते—ऐसा प्रायः कहा ही जा चुका है। इससे यागानुकूल 'कृतिवाला स्वर्गकामी पुरुष यज्ञ करे—ऐसा नैयायिकोंका पुरुषविशेष्यक[1] वाक्यार्थज्ञान भी निरस्त हो जाता है।

(१) यहाँ संक्षेपमें भट्टमतका उपपादन किया गया है। इस विषयमें जो और कुछ कहना है उसकी आकर ग्रन्थोंसे खोज करनी चाहिये॥ १८॥

(२) अब ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातृरूप तथा करण, कर्म और कर्तृरूप-तीन-तीन पदार्थोंके दो समूहोंकी त्रिगुणात्मकता बतलानी है, अतः उन दोनोंको संक्षिप्त कर उनकी त्रिगुणात्मकताकी प्रतिज्ञा करते हैं—

[श्लोकार्थः—सांख्यशास्त्रमें गुणोंके भेदसे ज्ञान कर्म और कर्ता इन्हें तीन-तीन प्रकारका ही कहा है। उन्हें तुम शास्त्रानुसार सुनो॥ १९॥]

(३) ज्ञान—जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है; ज्ञेय भी इसीके अन्तर्भूत है, क्योंकि ज्ञेयता ज्ञानरूप उपाधिवाली होती है। कर्म—क्रिया, जिसका 'त्रिविधः कर्मसंग्रहः' इस स्थानमें वर्णन किया है। 'च' शब्दसे यह सूचित होता है कि करण और कर्म कारकोंका भी क्रियामें ही अन्तर्भाव है, क्योंकि क्रिया ही कारकताकी उपाधि है। कर्ता—क्रियाका करनेवाला तथा चकार होनेसे ज्ञाता भी। यद्यपि कर्ता क्रियारूप उपाधिवाला होता है तो भी उसकी त्रिगुणताका पृथक् कथन कुतार्किकोंके भ्रमसे कल्पित

1. पुरुष जिसका विशेष्य है।

सम्यक्कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंख्यानं कापिलं तस्मिन्, ज्ञानं क्रिया च कर्ता च गुणभेदतः सत्त्वरजस्तमोभेदेन त्रिधैव प्रोच्यते। एवकारो विधान्तरनिवारणार्थः। यद्यपि कापिलं शास्त्रं परमार्थब्रह्मैकत्वविषये न प्रमाणं तथाऽप्यपरमार्थगुणगौणभेदनिरूपणे व्यावहारिकं प्रामाण्यं भजत इति वक्ष्यमाणार्थस्तुत्यर्थं गुणसंख्याने प्रोच्यत इत्युक्तम्। तन्त्रान्तरेऽपि प्रसिद्धमिदं न केवलमस्मिन्नेव तन्त्र इति स्तुतिः। यथावद्यथाशास्त्रं शृणु श्रोतुं सावधानो भव तानि ज्ञानादीनि। अपिशब्दात्तद्भेदजातानि च गुणभेदकृतानि। अत्र चैवमपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम्।

(१) चतुर्दशेऽध्याये तत्र सत्त्वं निर्मलत्वादित्यादिना गुणानां बन्धहेतुत्वप्रकारो निरूपितो गुणातीतस्य जीवन्मुक्तत्वनिरूपणाय। सप्तदशे पुनर्यजन्ते सात्त्विका देवानित्यादिना गुणकृतत्रिविधस्वभावनिरूपणेनाऽऽसुरं रजस्तमःस्वभावं परित्यज्य सात्त्विकाहारादिसेवया दैवः सात्त्विकः स्वभावः संपादनीय इत्युक्तम्। इह तु स्वभावतो गुणातीतस्याऽऽत्मनः क्रियाकारकफलसंबन्धो नास्तीति दर्शयितुं तेषां सर्वेषां त्रिगुणात्मकत्वमेव न रूपान्तरमस्ति येनाऽऽत्मसंबन्धिता स्यादित्युच्यत इति विशेषः॥ १९॥

(२) एवं ज्ञानस्य कर्मणः कर्तुश्च प्रत्येकं त्रैविध्ये ज्ञातव्यत्वेन प्रतिज्ञाते प्रथमं ज्ञानत्रैविध्यं निरूपयति त्रिभिः श्लोकैः। तत्राद्वैतवादिनां सात्त्विकं ज्ञानमाह—

उसके आत्मत्वकी निवृत्तिके लिये है, क्योंकि वे तो ऐसा मानते हैं कि कर्ता ही आत्मा है। सत्त्व, रज और तम इन गुणोंका जिसमें सम्यक्—कार्यभेदपूर्वक ख्यान—प्रतिपादन किया जाता है वह कापिल-दर्शन गुण-संख्यान है; उसमें ज्ञान क्रिया और कर्ता गुणभेदसे अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुणके भेदसे तीन प्रकारके ही कहे गये हैं। यहाँ 'एव' शब्द इनसे अतिरिक्त किसी अन्य प्रकारकी निवृत्ति करनेके लिये है। यद्यपि कापिलशास्त्र परमार्थब्रह्मकी एकतामें प्रमाण नहीं है, तथापि अपरमार्थभूत गुण और गुणोंके कार्योंका निरूपण करनेमें उसकी व्यावहारिक प्रामाणिकता है ही। इसीसे आगे कहे जानेवाले विषयकी स्तुतिके लिये 'सांख्य शास्त्रमें कहा है' ऐसा कहा गया है। यह केवल इसी शास्त्रमें नहीं, अन्य शास्त्रोंमें भी प्रसिद्ध है—यह इसकी स्तुति है। उसे तुम यथावत्—शास्त्रानुसार सुनो अर्थात् सुननेके लिये सावधान हो जाओ। तानि (उन)—विज्ञानादिको और 'अपि' (भी) शब्दसे गुणोंके भेदसे किये हुए उनके भेदोंको भी। इस प्रकार यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है—यह समझना चाहिये।

(१) चौदहवें अध्यायमें गुणातीतकी जीवन्मुक्तताका निरूपण करनेके लिये 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्' इत्यादि श्लोकसे गुणोंके बन्धमें हेतु होनेके प्रकारका उल्लेख किया गया है। फिर सतरहवें अध्यायमें 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' इत्यादि श्लोकोंसे गुणकृत तीन प्रकारके स्वभावका निरूपण करके राजस और तामस आसुरी स्वभाव छोड़कर सात्त्विक आहारादिका सेवन करते हुए सात्त्विक दैवी स्वभावका सम्पादन करना चाहिये—ऐसा कहा है। यहाँ तो यह दिखाने के लिये कि स्वभावतः गुणातीत आत्माका क्रिया, कारक और फलसे सम्बन्ध नहीं है यह कहा जाता है, कि वे सब त्रिगुणमय ही हैं, किसी अन्य रूपवाले नहीं हैं, जिससे कि उनका आत्मासे सम्बन्ध हो—इतनी यहाँ विशेषता है॥ १९॥

(२) इस प्रकार ज्ञान, कर्म और कर्ता प्रत्येककी तीन प्रकारसे ज्ञातव्यताकी प्रतिज्ञा करनेपर पहले तीन श्लोकोंद्वारा ज्ञानकी त्रिविधताका निरूपण करते हैं। उसमें अद्वैतवादियोंके सात्त्विक ज्ञानको कहते हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

(१) सर्वेषु भूतेषु अव्याकृतहिरण्यगर्भविराट्संज्ञेषु बीजसूक्ष्मस्थूलरूपेषु समष्टिव्यष्ट्यात्मकेषु, सर्वैश्चित्यनेनैव निर्वाहे भूतेश्चित्यनेन भवनधर्मकत्वमुच्यते । तेनोत्पत्तिविनाशशीलेषु दृश्यवर्गेषु, विभक्तेषु परस्परव्यावृत्तेषु नानारसेषु अव्ययमुत्पत्तिविनाशादिसर्वविक्रियाशून्यमदृश्यमविभक्तमव्यावृत्तं सर्वत्रानुस्यूतमधिष्ठानतया बाध्यावधितया चैकमद्वितीयं भावं परमार्थसत्तारूपं स्वप्रकाशानन्दमात्मानं येनान्तःकरणपरिणामभेदेन वेदान्तवाक्यविचारपरिनिष्पन्नेनैक्षते साक्षात्करोति तन्मिथ्याप्रपञ्चबाधकमद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकं सर्वसंसारोच्छित्तिकारणं ज्ञानं विद्धि । द्वैतदर्शनं तु राजसं तामसं च संसारकारणं न सात्त्विकमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

(२) तुशब्दः प्रागुक्तसात्त्विकव्यतिरेकप्रदर्शनार्थः । पृथक्त्वेन भेदेन स्थितेषु सर्वभूतेषु देहादिषु नानाभावान्प्रतिदेहमन्यानात्मनः पृथग्विधान्सुखदुःखित्वादिरूपेण परस्परविलक्षणान् , येन ज्ञानेन वेत्तीति वक्तव्ये यज्ज्ञानं वेत्तीति करणे कर्तृत्वोपचारादेधांसि पचन्तीतिवत्कर्तुरहंकारस्य

[श्लोकार्थः—ज्ञानी पुरुष जिस अन्तःकरणपरिणामके द्वारा एक दूसरेसे भिन्न समस्त भूतोंमें एक अविनाशी और विभागशून्य भावको देखता है उस ज्ञानको सात्त्विक समझो ॥ २० ॥]

(१) समस्त भूतोंमें अर्थात् अव्याकृत हिरण्यगर्भ और विराट् संज्ञाओंवाले बीज सूक्ष्म और स्थूलरूप समष्टि-व्यष्टिभूत समस्त प्राणियोंमें । यहाँ 'सर्वेषु' इतना कहनेसे ही काम चल सकता था, किन्तु 'भूतेषु' इस पदसे उनका भवनधर्मकत्व (उत्पत्तिधर्मकत्व) कहा जाता है । अतः उत्पत्ति-विनाशशील, विभक्त—परस्पर व्यावृत्त अर्थात् अनेकों रसोंवाले दृश्यवर्गोंमें जो अव्यय—उत्पत्ति-विनाशादि सम्पूर्ण विकारोंसे शून्य, अदृश्य, अविभक्त और अव्यावृत्त तथा अधिष्ठानरूपसे एवं बाधकी अवधि होनेके कारण सर्वत्र अनुस्यूत एक-अद्वितीय भावको अर्थात् परमार्थसत्तारूप स्वयंप्रकाश आनन्द यानी आत्माको वेदान्तवाक्योंके विचारसे प्राप्त होनेवाले जिस अन्तःकरणके परिणामरूप भेदके द्वारा देखता—साक्षात्कार करता है उस मिथ्या प्रपञ्चको बाधित करनेवाले अद्वैतात्मदर्शनको तुम सात्त्विक—सम्पूर्ण संसारके उच्छेदका कारणरूप ज्ञान समझो । अभिप्राय यह है कि राजस, तामस द्वैतदर्शन तो संसारका कारण है, वह सात्त्विक नहीं है ॥ २० ॥

[श्लोकार्थः—और जो ज्ञान पृथक्तासे रहनेवाले समस्त भूतोंमें अलग-अलग प्रकारके जुदे-जुदे आत्माओंको जानता है उसे तुम राजस समझो ॥ २१ ॥]

(२) यहाँ 'तु' शब्द पहले कहे हुए सात्त्विक ज्ञानसे इसका व्यतिरेक दिखानेके लिये है । पृथक्त्वसे अर्थात् भेदसे स्थित समस्त भूतोंमें—देहादिकमें पृथग्विधके—सुखित्व-दुःखित्वादिरूपसे परस्पर विलक्षण नानाभावोंको अर्थात् प्रत्येक शरीरमें भिन्न आत्माको 'येन ज्ञानेन वेत्ति' (जिस ज्ञानसे जानता है) इस प्रकार कहना चाहिये था, किन्तु कहा है 'यज्ज्ञानं वेत्ति, (जो ज्ञान जानता है) सो 'एधांसि पचति' (ईंधन पकाता

तद्दृश्यभेदाद्वा, तज्ज्ञानं विद्धि राजसमिति पुनर्ज्ञानपदमात्मभेदज्ञानमनात्मभेदज्ञानं च परामृशति । तेनाऽऽत्मनां परस्परं भेदस्तेषामीश्वराद्भेदस्तेभ्य ईश्वरादन्योन्यतश्चाचेतनवर्गस्य भेद इत्यनौपाधिकभेदपञ्चकज्ञानं कुतार्किकाणां राजसमेवेत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

(१) तुशब्दो राजसाद्भिनत्ति । बहुषु भूतकार्येषु विद्यमानेष्वेकस्मिन्कार्ये भूतविकारे देहे प्रतिमादौ वाऽहेतुकं हेतुरूपपत्तिस्तद्रहितमन्येषां भूतकार्याणामात्मत्वाभावे कथमेकस्य तादृशस्याऽऽत्मत्वमित्यनुसंधानशून्यं, कृत्स्नवत्परिपूर्णवत्सक्तमेतावानेवाऽऽत्मेश्वरो वा नातः परमस्तीत्यभिनिवेशेन लग्नं यथा दिगम्बराणां सावयवो देहपरिमाण आत्मेति यथा वा चार्वाकाणां देह एवाऽऽत्मेति एवं पाषाणदार्वादिमात्र ईश्वर इत्येकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकत्वादेवातत्त्वार्थवन्नतत्त्वार्थालम्बनम् , अल्पं च नित्यत्वविभुत्वाग्रहात् । ईदृशं नित्यविभुदेहादिव्यतिरिक्तात्मतद्व्यतिरिक्तेश्वरग्राहितार्किकज्ञानविलक्षणमनित्यपरिच्छिन्नदेहाद्यात्माभिमानरूपं चार्वाकादीनां यज्ज्ञानं तत्तामसमुदाहृतं तामसानां प्राकृतजनानामीदृशज्ञानदर्शिभिः ॥ २२ ॥

(२) तदेवमौपनिषदानामद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकमुपादेयं मुमुक्षुभिर्द्वैतदर्शिना तु नित्य-

है) इस वाक्यके समान करणमें कर्तृत्वका उपचार करके है, अथवा कर्ता अहंकारका उसकी वृत्तिके साथ अभेद करके है । उस ज्ञानको राजस समझो—यहाँ पुनः प्रयोग किया हुआ 'ज्ञान' पद आत्माके अभेद ज्ञान और अनात्माके भेद ज्ञानका परामर्श करता है । अतः आत्माओंका परस्पर भेद, उनका ईश्वरसे भेद, तथा उनसे ईश्वरसे और एक दूसरेसे अचेतनवर्गका भेद—इस प्रकारका जो कुतार्किकोंका पाँच प्रकारका उपाधिहीन भेदज्ञान है वह राजस ही है—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ २१ ॥

[श्लोकार्थः—और जो ज्ञान उपपत्तिके बिना ही किसी एक पदार्थमें परिपूर्णकी भाँति लगा हुआ तथा परमार्थ वस्तुके अवलम्बसे शून्य और अल्प है वह तामस कहा गया है ॥ २२ ॥]

(१) 'तु' शब्द इसे राजस ज्ञानसे पृथक करता है । अनेकों भूतकार्योंके विद्यमान रहते हुए एक कार्य—विकार—भूतदेह अथवा प्रतिमादिकमें जो हेतु—उपपत्तिसे रहित—'जब कि दूसरे भूतकार्योंमें आत्मत्व नहीं है तो वैसे ही एक भूतकार्यका आत्मा होना कैसे सम्भव है' इस प्रकारके अनुसन्धानसे शून्य जो कृत्स्नवत्—परिपूर्णके समान सक्त है—'यह इतना ही आत्मा या ईश्वर है, इससे परे नहीं' इस प्रकारके अभिनिवेशसे लगा हुआ है, जैसे कि दिगम्बरोंके मतमें आत्मा सावयव और देहके बराबर परिमाणवाला है, तथा चार्वाकोंके मतमें देह ही आत्मा है, इसी प्रकार 'पाषाण या लकड़ी आदि ही ईश्वर है' इस प्रकार जो एक ही कार्य में संलग्न है तथा उपपत्तिशून्य होनेके कारण अतत्त्वार्थवत्—परमार्थवस्तुरूप आलम्बनसे शून्य और नित्यत्व एवं विभुत्वका ग्रहण न करनेके कारण अल्प है, ऐसा जो नित्य विभु और देहसे अतिरिक्त आत्मा तथा उससे विलक्षण ईश्वरको ग्रहण करनेवाले तार्किकोंके ज्ञानसे विलक्षण अनित्य और परिच्छिन्न देहादिमें ही आत्मत्वका अभिमानरूप चार्वाकादिका ज्ञान है, वह तामस है अर्थात् प्राकृत जीवोंके ऐसे ज्ञानको देखनेवालोंने उसे तामस कहा है ॥ २२ ॥

(२) इस प्रकार सात्त्विक और मुमुक्षुओंके लिये ग्राह्य वेदान्तियोंके अद्वैतात्म-

विभुपरस्परविभिन्नात्मदर्शनं राजसमनित्यपरिच्छिन्नात्मदर्शनं च तामसं हेयमुक्तं, संप्रति त्रिविधं कर्मोच्यते—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

(१) नियतं यावदङ्गोपसंहारासमर्थानामपि फलावश्यंभावव्यासं नित्यमिति यावत् । सङ्गोऽहमेव महायाज्ञिक इत्याद्यभिमानरूपोऽहंकारापरपर्यायो राजसो गर्वविशेषस्तेन शून्यं सङ्गरहितं, यावदज्ञानं तु कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तनोऽहंकारोऽनुवर्तत एव सात्त्विकस्यापि । तद्रहितस्य तु तत्त्ववित्वो न कर्माधिकार इत्युक्तमसकृत् । रागो राजसन्मानादिकमनेन लप्स्य इत्यभिप्रायः, द्वेषः शत्रुमनेन पराजेष्य इत्यभिप्रायस्ताभ्यां न कृतमरागद्वेषतः कृतम् । अफलप्रेप्सुना फलाभिलाषरहितेन कर्त्रा यत्कृतं कर्म यागदानहोमादि तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

(२) तुः सात्त्विकाद्विनत्ति । कामेप्सुना फलकामेन कर्त्रा साहंकारेण प्रागुक्तसङ्गात्मकगर्वयुक्तेन च । वाशब्दः समुच्चये । पुनरित्यनियतं यावत्कामनं काम्यावृत्तेः । बहुलायासं सर्वाङ्गोप-

दर्शनका, तथा राजस जो द्वैतवादियोंका नित्य विभु एवं परस्पर भिन्न आत्माओंसे सम्बन्ध रखनेवाला ज्ञान है, एवं तामस और हेय जो अनित्य और परिच्छिन्न आत्माओंको विषय करनेवाला ज्ञान है उनका वर्णन किया गया । अब तीन प्रकारका कर्म कहा जाता है—

[श्लोकार्थः—फलेच्छाशून्य पुरुषद्वारा किया हुआ जो नित्य, सङ्गरहित और विना राग-द्वेषके किया हुआ कर्म है वह सात्त्विक कहा जाता है ॥ २३ ॥]

(१) सम्पूर्ण अंगोंके उपसंहारमें असमर्थ पुरुषोंको अवश्य फलकी प्राप्ति करानेवाला अर्थात् नित्य । संग—'मैं ही बड़ा भारी याज्ञिक हूँ' इत्यादि अभिमानरूप तथा अहंकारका समानार्थी जो राजस गर्वविशेष है उससे शून्य अर्थात् संगरहित । अज्ञान रहनेतक तो कर्तृत्व-भोक्तृत्वको प्रवृत्त करनेवाला अहंकार बना ही रहता है; उससे रहित जो सात्त्विक तत्त्ववेत्ता है उसे कर्मका अधिकार नहीं रहता—यह बात कई बार कही जा चुकी है । राग—'इसके द्वारा मैं राजसम्मानादि प्राप्त करूँगा' ऐसा भाव तथा द्वेष—'इससे मैं शत्रुको पराजित करूँगा' ऐसा भाव—इन दोनोंके द्वारा जो न किया जाय वह अरागद्वेषतः कृत होता है । इस प्रकार अफलप्रेप्सु अर्थात् फलाभिलाषरहित कर्ताके द्वारा जो याग, दान एवं होमादि कर्म किया जाता है वह सात्त्विक कहलाता है ॥ २३ ॥

[श्लोकार्थः—फलकी इच्छावाले और अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा जो अत्यन्त श्रमसाध्य कर्म किया जाता है वह राजस कहा गया है ॥ २४ ॥]

(२) 'तु' शब्द इसे सात्त्विकसे पृथक् करता है । कामेप्सु—फलाभिलाषी और साहङ्कार—पहले कहे हुए सङ्गात्मक गर्वसे युक्त कर्ताद्वारा । यहाँ 'वा' शब्द समुच्चय अर्थमें है तथा 'पुनः' अनियत अर्थमें, क्योंकि जबतक कामना रहेगी तबतक काम्य कर्मोंकी आवृत्ति (पुनः पुनः अनुष्ठान) करनी होगी । 'बहुलायासम्'—समस्त अंगोंका उपसंहार

संहारेण क्लेशावहं यत्काम्यं कर्म क्रियते तद्राजसमुदाहृतम् । अत्र सर्वैर्विशेषणैः सात्त्विकसर्वविशेषणव्यतिरेको दर्शितः ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

(१) अनुबन्धं पश्चाद्भाव्यशुभं, क्षयं शरीरसामर्थ्यस्य धनस्य सेनायाश्च नाशं हिंसां प्राणिपीडां, पौरुषमात्मसामर्थ्यं चानपेक्ष्यापर्यालोच्य मोहात्केवलाविवेकादेवाऽऽरभ्यते यत्कर्म यथा दुर्योधनेन युद्धं तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

(२) इदानीं त्रिविधः कर्तोच्यते—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

(३) मुक्तसङ्गस्त्यक्तफलाभिसंधिः, अनहंवादी कर्ताऽहमिति वदनशीलो न भवति स्वगुणश्लाघाविहीनो वा । धृतिर्विघ्नाद्युपस्थितावपि प्रारब्धापरित्यागहेतुरन्तःकरणवृत्तिविशेषो धैर्यमुत्साह इदमहं करिष्याम्येवेतिनिश्चयात्मिका बुद्धिर्धृतिहेतुभूता ताभ्यां संयुक्तो धृत्युत्साहसमन्वितः । कर्मणः क्रियमाणस्य फलस्य सिद्धावसिद्धौ च हर्षशोकाभ्यां हेतुभ्यां यो विकारो वदनविकासम्लानत्वादिस्तेन रहितः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः केवलं शास्त्रप्रमाणप्रयुक्तो न फलरागेण । अत एवंभूतः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

करनेके कारण क्लेशकारक—ऐसा जो काम्यकर्म किया जाता है, वह राजस कहा गया है । यहाँ सभी विशेषणोंसे सात्त्विक कर्मके समस्त विशेषणोंका व्यतिरेक दिखाया गया है ॥२४॥

[श्लोकार्थः—पीछे होनेवाले अशुभपरिणाम, क्षय, हिंसा और अपने सामर्थ्यको न देखकर जिस कर्मका मोहवश आरम्भ किया जाता है वह तामस कहलाता है ॥ २५ ॥]

(१) अनुबन्ध—पीछे होनेवाले अशुभ, क्षय—शरीरके सामर्थ्य, धन और सेनाके नाश, हिंसा—प्राणियोंकी पीडा और पौरुष—अपने सामर्थ्यको न देखकर—इनका विचार न करके जो कर्म मोहसे—केवल अविवेकसे आरम्भ किया जाता है, जैसे कि दुर्योधनने युद्ध आरम्भ किया था, वह तामस कहा जाता है ॥ २५ ॥

(२) अब तीन प्रकारका कर्ता कहा जाता है—

[श्लोकार्थः—जो फलकी इच्छासे रहित, 'मैं करनेवाला हूँ' ऐसा न कहनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कर्ममें सफलता होने और न होनेमें निर्विकार रहनेवाला है वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है ॥ २६ ॥]

(३) मुक्तसंग—जिसने फलासक्तिको त्याग दिया है, अनहंवादी—'मैं कर्ता हूँ' ऐसा कहनेका जिसका स्वभाव नहीं होता अथवा जो अपने गुणोंकी बड़ाई करनेवाला न हो, धृति—विघ्नादिके उपस्थित होनेपर भी आरम्भ किये हुए कर्मको न छोड़नेमें हेतुभूत अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष अर्थात् धैर्य, उत्साह—'मैं इसे करूँगा ही' ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि जो धृतिकी हेतुभूता है, उनसे जो युक्त हो उसे धृत्युत्साहसमन्वित कहा है । तथा किये जानेवाले कर्मके फलकी सिद्धि और असिद्धिमें जो हर्ष और शोकसे होनेवाला मुखका खिलना और मलिन होनारूप विकार है उससे जो रहित है ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें निर्विकार रहनेवाला, केवल शास्त्रप्रमाणसे ही कर्ममें प्रवृत्त होनेवाला—फलके रागसे नहीं । ऐसा जो कर्ता है वह सात्त्विक कहा जाता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

(१) रागी कामाद्याकुलचित्तः । अत एव कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलार्थी । लुब्धः परद्रव्याभिलाषी धर्मार्थं स्वद्रव्यत्यागासमर्थश्च । स्वाभिप्रायप्रकटनेन परवृत्तिच्छेदनं हिंसा तदात्मकस्तत्स्वभावः । स्वाभिप्रायाप्रकटने तु नैष्कृतिक इति भेदः । अशुचिः शास्त्रोक्तशौचहीनः । सिद्ध्यसिद्ध्योः कर्मफलस्य हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

(२) अयुक्तः सर्वदा विषयापहृतचित्तत्वेन कर्तव्येष्वनवहितः । प्राकृतः शास्त्रासंस्कृतबुद्धिर्बालसमः । स्तब्धो गुरुदेवतादिष्वप्यनम्रः । शठः परवञ्चनार्थमन्यथा जानन्नप्यन्यथावादी । नैष्कृतिकः स्वस्मिन्नुपकारित्वभ्रममुत्पाद्य परवृत्तिच्छेदनेन स्वार्थपरः । अलसोऽवश्यकर्तव्येष्वप्यप्रवृत्तिशीलः । विषादी सततमसंतुष्टस्वभावत्वेनानुशोचनशीलः । दीर्घसूत्री निरन्तरशङ्कासहस्रकवलितान्तःकरणत्वेनातिमन्थरप्रवृत्तिर्यदद्य कर्तव्यं तन्मासेनापि करोति न वेत्येवंशीलश्च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

श्लोकार्थः—जो रागी, कर्मफलकी इच्छावाला, लोभी, हिंसाके स्वभाववाला, अपवित्र और हर्षशोकसे व्याप्त कर्ता है वह राजस कहा गया है ॥ २७ ॥]

(१) रागी—कामादिके द्वारा व्याकुलचित्त, अतः कर्मफलप्रेप्सु—कर्मफलकी इच्छावाला, लुब्ध—दूसरेके धनकी इच्छा करनेवाला तथा धर्मके लिये अपने धनका त्याग करनेमें असमर्थ, अपने अभिप्रायको प्रकट करके दूसरेकी वृत्तिका छेदन करना हिंसा है तदात्मक अर्थात् हिंसाके स्वभाववाला, जो पुरुष अपने अभिप्रायको विना प्रकट किये ही दूसरेकी वृत्तिका छेदन करता है वह नैष्कृतिक होता है—इतना इनका अन्तर है, अशुचि—शास्त्रोक्त आचारसे रहित तथा कर्मफलकी सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-शोकसे व्याप्त होनेवाला कर्ता राजस कहा गया है ॥ २७ ॥

[श्लोकार्थः—जो असावधान, पामर, अनम्र, शठ, नैष्कृतिक, आलसी, विषाद करनेवाला और दीर्घसूत्री होता है वह कर्ता तामस कहा जाता है ॥ २८ ॥]

(२) अयुक्त—सर्वदा विषयोंमें चित्त लगा रहनेके कारण जो कर्त्तव्योंमें असावधान है, प्राकृत—बालकोंके समान शास्त्रसंस्कारशून्य बुद्धिवाला, स्तब्ध—गुरु और देवतादिके सामने भी नम्र न रहनेवाला, शठ—दूसरोंको ठगनेके लिये अन्य प्रकारसे जानते हुए भी अन्य प्रकार बोलनेवाला, नैष्कृतिक—अपनेमें परोपकारी होनेका भ्रम पैदा करके दूसरेकी वृत्तिका छेदन करके स्वार्थमें तत्पर रहनेवाला, अलस—अवश्य करनेयोग्य कार्यमें भी अप्रवृत्तिशील, विषादी—सर्वदा असन्तुष्ट रहनेके स्वभाववाला होनेसे पश्चात्ताप करता रहनेवाला, और दीर्घसूत्री—निरन्तर सहस्रों शंकाओंसे ग्रस्तचित्त होनेके कारण बहुत मन्द प्रवृत्तिवाला अर्थात् जिसे आज करना चाहिये उसे महीनेभरमें भी करेगा या नहीं—ऐसे स्वभाववाला कर्ता तामस कहा जाता है ॥ २८ ॥

(१) तदेवं ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदत इति व्याख्यातं संप्रति धृत्युत्साहसमन्वित इत्यत्र सूचितयोर्बुद्धिधृत्योस्त्रैविध्यं प्रतिजानीते—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

(२) बुद्धेरध्यवसायादिवृत्तिमत्तया धृतेश्च तद्वृत्तेः सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधमेव भेदं मया त्वां प्रति त्यक्तालस्येन परमार्षेण प्रोच्यमानमशेषेण निरवशेषं पृथक्त्वेन हेयादेयविवेकेन शृणु श्रोतुं सावधानो भव । हे धनंजयेति दिग्विजये प्रसिद्धं महिमानं सूचयन्प्रोत्साहयति ।

(३) अत्रेदं चिन्त्यते—किमत्र बुद्धिशब्देन वृत्तिमात्रमभिप्रेतं किं वा वृत्तिमदन्तःकरणं, प्रथमे ज्ञानं पृथङ्न वक्तव्यं, द्वितीये कर्ता पृथङ्न वक्तव्यः, वृत्तिमदन्तःकरणस्यैव कर्तृत्वात् । ज्ञानधृत्योः पृथक्कथनवैयर्थ्यं च । न चेच्छादिपरिसंख्यार्थं तत्, वृत्तिमदन्तःकरणत्रैविध्यकथनेन सर्वासामपि तद्वृत्तीनां त्रैविध्यस्य विवक्षितत्वात् ।

(४) उच्यते—अन्तःकरणोपहितश्चिदाभासः कर्ता । इह तूपहिताच्चिदंशात्कूप्योपाधिमात्रं करणत्वेन विवक्षितं सर्वत्र करणोपहितस्य कर्तृत्वात् । यद्यपि च 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इति श्रुत्यनूदितानां सर्वासामपि वृत्तीनां त्रैविध्यं

---

(१) इस प्रकार 'ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः' इसकी व्याख्या की गयी । अब 'धृत्युत्साहसमन्वितः' इसमें सूचित बुद्धि और धृतिकी त्रिविधताकी प्रतिज्ञा करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे धनञ्जय ! अब सत्त्वादि गुणोंकी दृष्टिसे मेरे द्वारा पूर्णतया और हेयोपादेय के विवेकपूर्वक कहे जाते हुए बुद्धि और धृतिके तीन प्रकारके भेदको सुनो ॥ २९ ॥]

(२) अध्यवसायादि वृत्तियोंवाली बुद्धि और उसीकी वृत्ति धृति—इनका सत्त्वादि गुणोंके द्वारा तीन प्रकारका भेद आलस्यको त्यागनेवाले परम आप्त मेरे द्वारा तुम्हारे प्रति अशेषतया—पूर्णतया और पृथक्त्वपूर्वक यानी हेय और उपादेयके विवेकपूर्वक कहा जाता है; सो हे धनञ्जय ! सुनो—सुननेके लिये सावधान हो जाओ । 'हे धनञ्जय !' इस सम्बोधनसे भगवान् अर्जुनकी दिग्विजयके समय प्रसिद्ध महिमाको सूचित करके उन्हें उत्साहित करते हैं ।

(३) यहाँ यह विचार किया जाता है—यहाँ 'बुद्धि' शब्दसे वृत्तिमात्र अभिप्रेत है या वृत्तियुक्त अन्तःकरण । पहला पक्ष हो तो ज्ञानको बुद्धिसे अलग नहीं कहना चाहिये था, और यदि दूसरा पक्ष हो तो कर्ताको उससे भिन्न नहीं कहना चाहिये था, क्योंकि वृत्तियुक्त अन्तःकरण ही कर्ता है तथा ज्ञान और धृतिका भी उससे अलग उल्लेख करना व्यर्थ ही है । ज्ञान और धृतिका पृथक् निरूपण इच्छादिकी व्यावृत्तिके लिये भी नहीं हो सकता, क्योंकि वृत्तियुक्त अन्तःकरणकी त्रिविधताका निरूपण करनेसे ही उसकी समस्त वृत्तियोंकी त्रिविधता कहनी अभीष्ट हो जाती है ।

(४) इसका उत्तर दिया जाता है—अन्तःकरणरूप उपाधिसे युक्त चिदाभास ही कर्ता है । यहाँ तो उपहित चिदाभाससे अलग करके उपाधिमात्र ही करणरूपसे विवक्षित है, क्योंकि सभी जगह करणसे उपहित वस्तु ही कर्ता होती है । यद्यपि 'काम, संकल्प, विचिकित्सा (संशय), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—ये सब मन ही हैं' इस श्रुतिद्वारा अनुवादित सभी वृत्तियोंकी त्रिविधता विवक्षित है तो भी ज्ञानशक्ति और

विवक्षितं तथाऽपि धीधृत्योस्त्रैविध्यं पृथगुक्तं ज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्युपलक्षणार्थं न तु परिसंख्यार्थमिति रहस्यम् ॥ २९ ॥

(१) तत्र बुद्धेस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

(२) प्रवृत्तिं कर्ममार्गं, निवृत्तिं संन्यासमार्गं, कार्यं प्रवृत्तिमार्गे कर्मणां करणम्, अकार्यं निवृत्तिमार्गे कर्मणामकरणं, भयं प्रवृत्तिमार्गे गर्भवासादिदुःखम्, अभयं निवृत्तिमार्गे तदभावं, बन्धं प्रवृत्तिमार्गे मिथ्याज्ञानकृतं कर्तृत्वाद्यभिमानं, मोक्षं निवृत्तिमार्गे तत्त्वज्ञानकृतमज्ञानतत्कार्याभावं च या वेत्ति करणे कर्तृत्वोपचाराद्यया वेत्ति कर्ता बुद्धिः सा प्रमाणजनितनिश्चयवती हे पार्थ सात्त्विकी । बन्धमोक्षयोरन्ते कीर्तनात्तद्विषयमेव प्रवृत्त्यादि व्याख्यातम् ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

(३) धर्मं शास्त्रविहितमधर्मं शास्त्रप्रतिषिद्धमदृष्टार्थमुभयं कार्यं चाकार्यं च दृष्टार्थमुभयमयथावदेव प्रजानाति यथावन्न जानाति किंस्विदिदमिदमित्थं न वेति चानध्यवसायं संशयं वा भजते यया बुद्ध्या सा राजसी बुद्धिः । अत्र तृतीयानिर्देशादन्यत्रापि करणत्वं व्याख्येयम् ॥ ३१ ॥

क्रियाशक्तिके उपलक्षणके लिये, अन्य वृत्तियोंके त्यागके लिये नहीं, बुद्धि और धृतिकी त्रिविधताका अलग निरूपण किया है—यह इसका रहस्य है ॥ २९ ॥

(१) इनमेंसे तीन श्लोकोंद्वारा बुद्धिकी त्रिविधता कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय, और बन्ध-मोक्ष इन्हें जानती है वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥ ३० ॥]

(२) प्रवृत्ति—कर्ममार्ग, निवृत्ति—संन्यासमार्ग, कार्य—प्रवृत्तिमार्गमें कर्मोंका करना, अकार्य—निवृत्तिमार्गमें कर्मोंका न करना, भय—प्रवृत्तिमार्गमें गर्भवासादि दुःख, अभय—निवृत्तिमार्गमें उनका अभाव, बन्ध—प्रवृत्तिमार्गमें मिथ्याज्ञानजनित कर्तृत्वादिका अभिमान, और मोक्ष—निवृत्तिमार्गमें ज्ञानके द्वारा होनेवाला अज्ञान और उसके कार्यका अभाव—इन्हें जो जानती है; यह कथन करणमें कर्तृत्वका उपचार करके है अर्थात् जिसके द्वारा कर्ता जानता है, हे पार्थ ! वह प्रमाणजनित निश्चयवाली बुद्धि सात्त्विकी है । अन्तमें बन्ध और मोक्षका उल्लेख होनेसे ही उनसे सम्बद्ध प्रवृत्ति आदिकी व्याख्या की गयी है ॥ ३० ॥

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! जिसके द्वारा पुरुष धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यको ठीक-ठीक नहीं जानता वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥]

(३) धर्म—शास्त्रविहित और अधर्म—शास्त्रप्रतिषिद्ध, जो दोनों ही अदृष्ट प्रयोजनवाले हैं तथा दृष्ट प्रयोजनवाले कार्य और अकार्य—इन दोनोंको जिससे अयथावत् जानता है—यथार्थरूपसे नहीं जानता अर्थात् जिस बुद्धिके कारण पुरुष 'यह ऐसा है या नहीं' इस प्रकार अनिश्चय अर्थात् संशयमें पड़ा रहता है वह बुद्धि राजसी है । यहाँ तृतीयाका निर्देश होनेसे अन्यत्र भी करणरूपसे ही बुद्धिकी व्याख्या करनी चाहिये ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

(१) तमसा विशेषदर्शनविरोधिना दोषेणाऽऽवृता या बुद्धिरधर्मं धर्ममिति मन्यतेऽदृष्टार्थे सर्वत्र विपर्यस्यति । तथा सर्वार्थान्सर्वान्दृष्टप्रयोजनानपि ज्ञेयपदार्थान्विपरीतानेव मन्यते सा विपर्ययवती बुद्धिस्तामसी ॥ ३२ ॥

(२) इदानीं धृतेस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

(३) योगेन समाधिनाऽव्यभिचारिण्याऽविनाभूतया समाधिव्याप्तया यया धृत्या प्रयत्नेन मनसः प्राणस्येन्द्रियाणां च क्रियाश्चेष्टा धारयत उच्छास्त्रप्रवृत्तेर्निरुणद्धि, यस्यां सत्यामवश्यं समाधिर्भवति, यया च धार्यमाणा मनआदिक्रियाः शास्त्रमतिक्रम्य नार्थान्तरमवगाहन्ते धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

(४) तुः सात्त्विक्या भिनत्ति । प्रसङ्गेन कर्तृत्वाद्यभिनिवेशेन फलाकाङ्क्षी सन्यया धृत्या

[श्लोकार्थः—तमोगुणसे व्याप्त जो बुद्धि अधर्मको धर्म तथा और सब विषयोंको भी विपरीत ही समझती है, हे पार्थ ! वह तामसी है ॥ ३२ ॥]

(१) तमोगुण—विशेषदर्शनके विरोधी दोषसे आच्छादित हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है अर्थात् अदृष्ट अर्थोंमें सर्वत्र विपरीत ग्रहण करती है तथा सम्पूर्ण अर्थ अर्थात् समस्त दृष्ट प्रयोजनोंको यानी ज्ञेय पदार्थोंको भी विपरीत ही समझती है वह विपर्ययदोषवाली बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

(२) अब तीन श्लोकोंद्वारा धृतिकी त्रिविधताका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! जिस समाधिसे व्याप्त धृतिके द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको रोक लेता है वह सात्त्विकी धृति है ॥ ३३ ॥]

(३) योग अर्थात् समाधिद्वारा अव्यभिचारिणी—अविनाभूता अर्थात् समाधिसे व्याप्त जिस धृतिके द्वारा प्रयत्नपूर्वक मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको—चेष्टाओंको मनुष्य धारण करता अर्थात् शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्तिसे रोक लेता है, जिसके होनेपर निश्चय ही समाधि हो जाती है और जिसके द्वारा रोकी हुई मन आदिकी क्रियाएँ शास्त्रका अतिक्रमण कर किसी दूसरे पदार्थमें प्रवेश नहीं करतीं, हे पार्थ ! वह धृति सात्त्विकी है ॥३३॥

[श्लोकार्थः—हे पृथापुत्र अर्जुन ! जिस धृतिके द्वारा मनुष्य कर्तृत्वादिके अभिमानसे फलकी इच्छा रखकर धर्म, काम और अर्थका निश्चय करता है, वह राजसी धृति है ॥ ३४ ॥]

(४) 'तु' शब्द सात्त्विकी धृतिसे इसे पृथक् करता है । प्रसंगसे—कर्तृत्वादिके अभिनिवेशसे फलकी इच्छावाला होकर जिस धृतिके द्वारा मनुष्य धर्म, काम और अर्थको

धर्मं काममर्थं च धारयते नित्यं कर्तव्यतयाऽवधारयति न तु मोक्षं कदाचिदपि धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

(१) स्वप्नं निद्रां भयं त्रासं शोकमिष्टवियोगनिमित्तं संतापं विषादमिन्द्रियावसादं मदमशास्त्रीयविषयसेवोन्मुखत्वं च यया न विमुञ्चत्येव किंतु सदैव कर्तव्यतया मन्यते दुर्मेधा विवेकासमर्थो धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

(२) एवं क्रियाणां कारकाणां च गुणतस्त्रैविध्यमुक्त्वा तत्फलस्य सुखस्य त्रैविध्यं प्रतिजानीते श्लोकार्धेन—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।

(३) मे मम वचनाच्छृणु हेयोपादेयविवेकार्थं व्यासङ्गान्तरनिवारणेन मनः स्थिरीकुरु, हे भरतर्षभेति योग्यता दर्शिता ।

(४) सात्त्विकं सुखमाह सार्धेन—

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

(५) यत्र समाधिसुखेऽभ्यासादतिपरिचयाद्रमते परितृप्तो भवति न तु विषयसुख इव सद्य

धारण करता है अर्थात् सर्वदा अपने कर्त्तव्यरूपसे निश्चय करता है—कभी भी मोक्षको नहीं, हे पार्थ ! वह धृति राजसी है ॥ ३४ ॥

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! जिसके द्वारा सदसद्विवेकमें असमर्थ पुरुष निद्रा, भय, शोक, विषाद और मदको भी नहीं छोड़ सकता वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥]

(१) दुर्मेधा—विवेकमें असमर्थ पुरुष जिसके द्वारा स्वप्न—निद्रा, भय—त्रास, शोक—इष्टवियोगजनित सन्ताप, विषाद—इन्द्रियोंकी ग्लानि और मद—अशास्त्रीय विषयसेवनमें तत्परता—इन्हें नहीं छोड़ता किन्तु सर्वदा अपने कर्त्तव्यरूपसे ही मानता है; हे पार्थ ! वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥

(२) इस प्रकार क्रिया और कारकोंकी गुणभेदसे त्रिविधता बताकर अब आधे श्लोकसे उसके फल सुखकी त्रिविधताके विषयमें प्रतिज्ञा करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे भरतश्रेष्ठ ! अब तुम मुझसे तीन प्रकारका सुख श्रवण करो ।

(३) 'हे भरतर्षभ !' इस सम्बोधनसे अर्जुनकी योग्यता प्रदर्शित की है । मेरे वचनसे सुनो अर्थात् हेय और उपादेयका विवेक करनेके लिये अन्य प्रवृत्तियोंको रोककर मनको स्थिर करो ।

(४) डेढ़ श्लोकसे सात्त्विक सुखका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस समाधिसुखमें मनुष्य अधिक परिचय होनेसे तृप्त होता है तथा सम्पूर्ण दुःखसे सर्वथा पार हो जाता है ॥ ३६ ॥]

(५) जहाँ—जिस समाधिसुखमें अभ्यास—अति परिचय होनेसे ही मनुष्य रमता—परितृप्त होता है, विषयसुखके समान तुरन्त ही तृप्त नहीं हो जाता, तथा जिसमें

एव । यस्मिन्रममाणश्च दुःखस्य सर्वस्याप्यन्तमवसानं नितरां गच्छति न तु विषयसुख इवान्ते महद् दुःखम् ॥ ३६ ॥

(१) तदेव विवृणोति—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

(२) यदग्रे ज्ञानवैराग्यध्यानसमाध्यारम्भेऽत्यन्तायासनिर्वाह्यत्वाद्विषमिव द्वेषविशेषावहं भवति । परिणामे ज्ञानवैराग्यादिपरिपाके स्वमृतोपमं प्रीत्यतिशयास्पदं भवति । आत्मविषया बुद्धिरात्मबुद्धिस्तस्याः प्रसादो निद्रालस्यादिराहित्येन स्वच्छतयाऽवस्थानं ततो जातमात्मबुद्धिप्रसादजं ननु राजसमिव विषयेन्द्रियसंयोगजं न वा तामसमिव निद्रालस्यादिजम् । ईदृशं यदनात्मबुद्धिनिवृत्त्याऽऽत्मबुद्धिप्रसादजं समाधिसुखं तत्सात्त्विकं प्रोक्तं योगिभिः ।

(३) अपर आह—अभ्यासादावृत्तेर्यत्र रमते प्रीयते यत्र च दुःखावसानं प्राप्नोति तत्सुखं, तच्च त्रिविधं गुणभेदेन शृणिवति तत्पदाध्याहारेण पूर्वस्य श्लोकस्यान्वयः । यत्तदग्र इत्यादिश्लोकेन तु सात्त्विकसुखलक्षणमिति । भाष्यकाराभिप्रायोऽप्येवम् ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

रमण करता हुआ वह सम्पूर्ण दुःखके अन्तको सर्वथा प्राप्त कर लेता है, अर्थात् यह सुख विषयसुखके समान अन्तमें महान् दुःखरूप नहीं होता ॥ ३६ ॥

(१) उसीका स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—आत्माकारा बुद्धिकी निर्मलतासे उत्पन्न हुआ जो सुख पहले विषके समान और परिणाममें अमृतके सदृश होता है वह सात्त्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥]

(२) जो पहले अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधिके आरम्भमें अत्यन्त परिश्रमसे साध्य होनेके कारण द्वेषविशेषकी प्राप्ति करानेवाला होता है तथा परिणाममें—ज्ञान-वैराग्यादिका परिपाक होनेपर अमृतोपम—अत्यन्त प्रीतिका स्थान हो जाता है तथा आत्मबुद्धिप्रसादज होता है, अर्थात् आत्मबुद्धि—आत्मविषयिणी जो बुद्धि है उसके प्रसाद यानी निद्रा और आलस्यादिके अभावसे जो स्वच्छरूपसे स्थित होना है उससे उत्पन्न हुआ होता है, राजस सुखके समान विषय और इन्द्रियके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला नहीं होता, और न तामस सुखके समान निद्रा या आलस्यसे ही उत्पन्न हुआ होता है । ऐसा जो अनात्मबुद्धिकी निवृत्ति द्वारा आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न हुआ समाधिसुख है उसे योगियोंने सात्त्विक कहा है ।

(३) अन्य टीकाकारोंका कथन है कि 'अभ्यास—आवृत्तिके द्वारा जहाँ रमता अर्थात् प्रीतिका अनुभव करता है और जहाँ दुःखका अन्त प्राप्त कर लेता है वह सुख है और वह गुणभेदसे तीन प्रकारका है, सो सुनो ।' इस प्रकार तत् पदके अध्याहार द्वारा पहले श्लोकका अन्वय करना चाहिये और 'यत्तदग्रे' इत्यादि श्लोकसे सात्त्विक सुखका लक्षण कहा गया है । भगवान् भाष्यकारका अभिप्राय भी ऐसा ही है ॥ ३७ ॥

[श्लोकार्थः—विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला जो सुप्रसिद्ध सुख आरम्भमें अमृतके समान और परिणाममें विषवत् होता है वह राजस कहा गया है ॥ ३८ ॥]

(१) विषयाणामिन्द्रियाणां च संयोगाज्जातं न त्वात्मबुद्धिप्रसादाद्यत्तदतिप्रसिद्धं स्रक्चन्दनवनितासङ्गादिसुखमग्रे प्रथमारम्भे मनःसंयमादिक्लेशाभावादमृतोपमं परिणामे त्वैहिकपारत्रिकदुःखावहत्वाद्विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

(२) अग्रे प्रथमारम्भे चानुबन्धे परिणामे च यत्सुखमात्मनो मोहकरं, निद्रालस्ये प्रसिद्धे, प्रमादः कर्तव्यार्थावधानमन्तरेण मनोराज्यमात्रं, तेभ्य एवोत्तिष्ठति नतु सात्त्विकमिव बुद्धिप्रसादजं न वा राजसमिव विषयेन्द्रियसंयोगजं, तन्निद्रालस्यप्रमादोत्थं तामसं सुखमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

(३) इदानीमनुक्तमपि संगृह्यन्प्रकरणार्थमुपसंहरति भगवान्—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

(४) सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिस्ततो जातैर्वैषम्यावस्थां प्राप्तैः प्रकृतिजैर्नतु साक्षाद् गुणानां प्रकृतिजत्वमस्ति तद्रूपत्वात् । तस्माद्वैषम्यावस्थैव तदुत्पत्तिरुपचारात् । अथवा प्रकृतिर्माया तत्प्रभवैस्तत्कल्पितैः प्रकृतिजैरेभिस्त्रिभिर्गुणैर्बन्धनहेतुभिः सत्त्वादिभिर्मुक्तं हीनं सत्त्वं प्राणिजातमप्राणि

(१) विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न हुआ, आत्मबुद्धिके प्रसादसे नहीं, जो अति प्रसिद्ध माला, चन्दन और स्त्री आदिके संगसे होनेवाला सुख आगे—पहले आरम्भमें मनके संयमादि क्लेशका अभाव होनेके कारण अमृतके समान, किन्तु परिणाममें लौकिक और पारलौकिक दुःखकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे विषके समान होता है वह सुख राजस कहा गया है ॥ ३८ ॥

[श्लोकार्थः—जो सुख आरम्भमें और परिणाममें भी चित्तको मोहमें डालनेवाला तथा निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ होता है वह तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥]

(२) आगे—प्रथमारम्भमें और अनुबन्ध—परिणाममें जो सुख आत्माको मोह उत्पन्न करनेवाला होता है और निद्रा एवं आलस्य, जो प्रसिद्ध ही हैं, तथा प्रमाद, जो कर्त्तव्य अर्थका निश्चय किये बिना केवल मनोराज्यमात्र करना है, उनसे उत्पन्न होता है, न तो सात्त्विक सुखके समान बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला और न राजस सुखके समान विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे ही उत्पन्न होनेवाला होता है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला सुख तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

(३) अब बिना कहे हुए विषयोंका भी संग्रह करके भगवान् प्रकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थ :—पृथ्वीमें तथा स्वर्गलोकमें देवताओं में भी ऐसा कोई प्राणी या प्राणहीन नहीं है जो इन प्रकृतिजनित तीन गुणोंसे मुक्त हो ॥ ४० ॥]

(४) सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति है, उससे उत्पन्न हुए—विषमावस्थाको प्राप्त कराये हुए प्रकृतिजनित गुणोंसे, गुणोंका साक्षात्-रूपसे प्रकृतिजन्यत्व नहीं है, क्योंकि वे प्रकृतिरूप ही हैं; अतः उनके वैषम्यकी अवस्था ही उपचारसे उनकी उत्पत्ति है । अथवा प्रकृति मायाको कहते हैं, उससे होनेवाले—उससे कल्पित

वा यत्स्यात्तत्पुनः पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि देवेषु वा नास्ति क्वापि गुणत्रयरहितमनात्मवस्तु नास्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

(१) तदेवं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकः क्रियाकारकफललक्षणः सर्वः संसारो मिथ्याज्ञानकल्पितोऽनर्थश्रुतुर्दशाध्यायोक्त उपसंहृतः । पञ्चदशे च वृक्षरूपककल्पनया तमुक्त्वा—

'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ॥'

इत्यसङ्गशस्त्रेण विषयवैराग्येण तस्य च्छेदनं कृत्वा परमात्माऽन्वेष्टव्य इत्युक्तम् । तत्र सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वे त्रिगुणात्मकस्य संसारवृक्षस्य कथं छेदोऽसङ्गशस्त्रस्यैवानुपपत्तेरित्याशङ्कायां स्वस्वाधिकारविहितैर्वर्णाश्रमधर्मैः परितोष्यमाणात्परमेश्वरादसङ्गशस्त्रलाभ इति वदितुमेतावानेव सर्ववेदार्थः परमपुरुषार्थमिच्छद्भिरनुष्ठेय इति च गीताशास्त्रार्थ उपसंहर्तव्य इत्येवमर्थमुत्तरं प्रकरणमारभ्यते । तत्रेदं सूत्रम्—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

(२) त्रयाणां समासकरणं द्विजत्वेन वेदाध्ययनादितुल्यधर्मत्वकथनार्थम् । शूद्राणामिति पृथक्करणमेकजातित्वेन वेदानधिकारित्वज्ञापनार्थम् । तथा च वसिष्ठः—'चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां त्रयो वर्णा द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यास्तेषाम्—

बन्धनके हेतुभूत इन प्रकृतिजनित सत्त्वादि तीन गुणोंसे मुक्त—रहित सत्त्व—जो प्राणी अथवा अप्राणी हो वह पृथ्वीमें मनुष्यादिकोंमें अथवा स्वर्गमें देवताओंमें भी नहीं है । तात्पर्य यह है कि तीनों गुणोंसे रहित कोई भी अनात्मवस्तु कहीं भी नहीं है ॥ ४० ॥

(१) इस प्रकार चौदहवें अध्यायमें कहे हुए सत्त्व, रज और तमोगुणरूप क्रिया, कारक एवं फललक्षण सम्पूर्ण संसारका, जो मिथ्या अज्ञान से कल्पित अनर्थ ही है, उपसंहार कर दिया गया । पन्द्रहवें अध्यायमें उसका वृक्षके रूपककी कल्पनाद्वारा वर्णन करके 'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा । ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः॥' इस श्लोकके अनुसार असंगशस्त्र अर्थात् विषयोंके वैराग्य द्वारा उसका छेदन करके परमात्माका अन्वेषण करना चाहिये—ऐसा कहा है । 'सो जब सभी त्रिगुणमय है तो त्रिगुणात्मक संसारवृक्षका किस प्रकार उच्छेद हो सकता है, क्योंकि ऐसी स्थितिमें असंगशस्त्रका ही होना सम्भव नहीं है' ऐसी आशंका होनेपर यह कहनेके लिये कि 'अपने-अपने अधिकारके अनुसार विहित वर्णाश्रमधर्मोंद्वारा पूर्णतया सन्तुष्ट किये हुए परमेश्वरसे ही असंगशस्त्रकी प्राप्ति हो सकती है' तथा 'परमपुरुषार्थकी इच्छावालोंको सम्पूर्ण वेदोंके इतने ही अर्थका अनुष्ठान करना चाहिये' इस गीताशास्त्रके तात्पर्यका उपसंहार करना है—इसीके लिये आगेका प्रकरण आरम्भ किया जाता है । इस विषयमें यह सूत्रभूत श्लोक है—

[श्लोकार्थः—हे परंतप ! स्वभाव से उत्पन्न गुणों के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म अलग-अलग विभक्त हैं—बँटे हुए हैं ॥ ४१ ॥]

(२) यहाँ 'ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्' इस प्रकार जो तीनों पदोंका समाप्त किया गया है वह द्विजन्मा होनेके कारण उनकी वेदाध्ययनादि तुल्यधर्मताका वर्णन करनेके लिये है तथा 'शूद्राणाम्' इस पदको अलग रखना एकजातित्वके कारण उनका वेदमें

'मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
अत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥' इति ।

तथा प्रतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं स्थानविशेषाच्च ।

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥'

इत्यपि निगमो भवति । गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कारो विज्ञायत इति । शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिरिति च गौतमः ।

(१) हे परंतप शत्रुतापन तेषां चतुर्णामपि वर्णानां कर्माणि प्रकर्षेण विभक्तानीतरेतरविभागेन व्यवस्थितानि । कैः स्वभावप्रभवैर्गुणैः, ब्राह्मण्यादिस्वभावस्य प्रभवैर्हेतुभूतैर्गुणैः सत्त्वादिभिः । तथाहि-ब्राह्मणस्वभावस्य सत्त्वगुण एव प्रभवः प्रशान्तत्वात् । क्षत्रियस्वभावस्य सत्त्वोपसर्जनं रज ईश्वरस्वभावत्वात् । वैश्यस्वभावस्य तमउपसर्जनं रज ईहास्वभावत्वात् । शूद्रस्वभावस्य रजउपसर्जनं तमो मूढस्वभावत्वात् ।

(२) अथवा मायाख्या प्रकृतिः स्वभावस्तत उपादानात्प्रभवो येषां तैः । प्राग्भवीयः संस्कारो वर्तमाने भवे स्वफलाभिमुखत्वेनाभिव्यक्तः स्वभावः स निमित्तत्वेन प्रभवो येषामिति वा । शास्त्रस्यापि पुरुषस्वभावसापेक्षत्वाच्छास्त्रेण प्रविभक्तान्यपि गुणैः प्रविभक्तानीत्युच्यन्ते । आख्यातानामर्थं बोधयतामधिकारिशक्तिः सहकारिणीति न्यायात् । तथा हि गौतमः—'द्विजातीनामध्ययन-

अनधिकार सूचित करनेके लिये है । ऐसा ही वसिष्ठजी भी कहते हैं—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं, इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्ण द्विजाति हैं । इनका पहला जन्म मातासे होता है और दूसरा मौञ्जीबन्धन होनेपर, इस समय इनकी माता सावित्री होती है और पिता आचार्य कहा जाता है ।' तथा स्थानविशेषके कारण 'चारो वर्णोंकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है ।' इस विषयमें ऐसा वेदवाक्य भी है—'ब्राह्मण इस ब्रह्माका मुख था, क्षत्रिय दोनों भुजाएँ थे, जो वैश्य वर्ण है वह इसकी जंघाएँ हैं तथा इसके पैरोंसे शूद्र वर्ण उत्पन्न हुआ है ।' 'गायत्रीसे ब्राह्मणको रचा, त्रिष्टुभ् से क्षत्रियको और जगतीसे वैश्यको उत्पन्न किया । शूद्रको किसी भी छन्दसे उत्पन्न नहीं किया, इसलिये वह संस्कारहीन सूचित किया जाता है ।' तथा 'शूद्र चौथा वर्ण है और एकजाति है' ऐसा गोतमजीका भी कथन है ।

(१) हे परन्तप—हे शत्रुओंको सन्तप्त करनेवाले ! उन चारों ही वर्णोंके कर्म प्रविभक्त—प्रकर्षसे विभक्त अर्थात् एक—दूसरेके विभागसे व्यवस्थित हैं । किनके द्वारा ?—स्वभावप्रभव गुणोंके द्वारा अर्थात् ब्राह्मणादि स्वभावके प्रभव—हेतुभूत सत्त्वादि गुणोंके द्वारा । जैसे कि ब्राह्मणस्वभावका प्रभव सत्त्वगुण ही है, क्योंकि वह अत्यन्त शान्त होता है; क्षत्रियस्वभावका सत्त्वकी गौणतापूर्वक रजोगुण-प्रभव है, क्योंकि उसमें स्वामित्वका भाव रहता है; वैश्यस्वभावका हेतु तमोगुणकी गौणतापूर्वक रजोगुण है, क्योंकि वह प्रयत्नशील रहता है तथा शूद्रस्वभावका कारण रजोगुणकी गौणतासहित तमोगुण है, क्योंकि वह मूढ प्रकृतिका होता है ।

(२) अथवा माया नामवाली प्रकृति ही स्वभाव है, उस उपादानसे ही जिनकी उत्पत्ति हुई है उन गुणोंसे । अथवा पूर्वजन्मका संस्कार वर्तमान जन्ममें अपने फलकी अभिमुखतापूर्वक अभिव्यक्त होनेपर स्वभाव होता है, वह निमित्तरूपसे जिनका उत्पत्तिस्थान है उन गुणोंसे । शास्त्र भी पुरुषकी स्वभावकी अपेक्षावाला है, अतः शास्त्रके

मिज्या दानं, ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः । पूर्वेषु नियमस्तु । राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानां न्याय्यदण्डत्वं, वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यं कुसीदं च । शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिस्तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचमाचमनार्थे पाणिपादप्रक्षालनमेवैके श्राद्धकर्म भृत्यभरणं स्वदारवृत्तिः परिचर्योत्तरेषाम्' इति ।

(१) अत्र साधारणा असाधारणाश्च धर्मा उक्ताः । पूर्वेषु अध्ययनेज्यादानेषु नियमोऽवश्यकर्तव्यत्वं नतु प्रवचनयाजनप्रतिग्रहेषु वृत्त्यर्थत्वादित्यर्थः । वणिग्वाणिज्यं, कुसीदं वृद्ध्यै धनप्रयोगः । उत्तरेषामिति श्रेष्ठानां द्विजातीनामित्यर्थः । वसिष्ठोऽपि—'षट्कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति । त्रीणि राजन्यस्याध्ययनं यज्ञो दानं च शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मस्तेन जीवेत् । एतान्येव त्रीणि वैश्यस्य कृषिवणिक्पाशुपाल्यं कुसीदं च । तेषां परिचर्या शूद्रस्य' इति । आपस्तम्बोऽपि—'चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान् । स्वकर्म ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रतिग्रहणं दायाद्यं शिलोञ्छान्यच्चा-

द्वारा प्रविभक्त हुए भी कर्म गुणोंद्वारा प्रविभक्त कहे जाते हैं । इस विषयको 'आख्यातानामर्थं बोधयतामधिकारिशक्तिः सहकारिणी'[1] इस न्यायसे समझ लेना चाहिये । ऐसा ही गोतमजी कहते हैं—'अध्ययन, यज्ञ और दान—ये द्विजोंके धर्म हैं, प्रवचन, यज्ञ कराना और दानलेना—ये ब्राह्मणके अधिक धर्म हैं । पूर्व धर्मोंमें तो नियम विधि है । समस्त भूतोंकी रक्षा करना और न्यायानुसार दण्ड देना—ये क्षत्रियके अधिक धर्म हैं । कृषि, वणिज्, पशुपालन और कुसीद (ब्याज लेना)—ये वैश्यके अधिक धर्म हैं । शूद्र चौथा वर्ण है और एक जन्मवाला है । उसके भी सत्य, अक्रोध, शौच और आचमनके लिये हाथ-पाँव धोना—ये धर्म हैं । किन्हींका तो कथन है कि श्राद्धकर्म, भरण-पोषणके योग्य स्वजनोंका पोषण, अपनी ही स्त्रीमें वृत्ति रखना और उच्च वर्णोंकी सेवा ये शूद्रके धर्म हैं ।'

(१) यहाँ (इस गोतमवाक्यमें) साधारण और असाधारण धर्म कहे गये हैं । पहले जो अध्ययन, यज्ञ और दानरूप कर्म हैं उनमें तो नियम अर्थात् अवश्यकर्त्तव्यता है, किन्तु प्रवचन, याजन और दान लेनेमें ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ये आजीविकाके लिये होते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है । वणिज् व्यापारको कहते हैं, वृद्धिके लिये धनका प्रयोग करना कुसीद है, उच्चवर्णोंकी अर्थात् अपनेसे श्रेष्ठ द्विजातियोंकी । वसिष्ठजी भी कहते हैं—अध्ययन करना और कराना, यज्ञ करना और कराना तथा दान देना और दान लेना—ये छः कर्म ब्राह्मणके हैं; अध्ययन करना, यज्ञ करना और दान देना—ये तीन धर्म क्षत्रियके हैं; शास्त्रके द्वारा प्रजाकी रक्षा करना—यह उसका स्वधर्म है, इसीके द्वारा उसे अपनी जीविकाका निर्वाह करना चाहिये । ये ही तीन कर्म वैश्यके भी हैं तथा कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और ब्याज उसके स्वधर्म हैं । इन सबकी सेवा करना शूद्रका धर्म है ।' आपस्तम्ब भी कहते हैं—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं; इनमें पूर्व-पूर्व जन्मतः श्रेष्ठ है । ब्राह्मणके स्वकर्म अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ, याजन, दान देना, दान लेना, पैतृक सम्पत्तिको स्वीकार करना, शिलोञ्छवृत्ति द्वारा निर्वाह करना तथा परिग्रहसे रहित दूसरे कर्म करना है । क्षत्रियके भी अध्यापन, याजन और दानग्रहण को छोड़कर ये ही धर्म हैं तथा युद्ध और दण्डादिक भी उसके अपने कर्म हैं । वैश्यके

1. अधिकारीकी शक्ति अर्थका बोधन करनेवाले आख्यातों (लिङादिकों)की सहकारिणी होती है ।

परिगृहीतम् । एतान्येव क्षत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहणानीति परिहाय युद्धदण्डाधिकानि । क्षत्रियवद्वैश्यस्य दण्डयुद्धवर्जं कृषिगोरक्ष्यवाणिज्याधिकम् । परिचर्या शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम्' इति ।

(१) मनुरपि—

'अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समादिशत् ॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥' इति ।
एवं चतुर्णामपि वर्णानां गुणभेदेन कर्माणि प्रविभक्तानि ॥ ४१ ॥

(२) तत्र ब्राह्मणस्य स्वाभाविकगुणकृतानि कर्माण्याह—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

(३) शमोऽन्तःकरणोपरमः । दमो बाह्यकरणोपरमः प्रागुक्तः । तपः शारीरादि देवद्विज-गुरुप्राज्ञेत्यादावुक्तम् । शौचमपि बाह्याभ्यन्तरभेदेन प्रागुक्तम् । क्षान्तिः क्षमाऽऽक्रुष्टस्य ताडितस्य वा मनसि विकाररहित्यं प्राग्व्याख्यातम् । आर्जवमकौटिल्यं प्रागुक्तम् । ज्ञानं साङ्गवेदतदर्थविषयम् । विज्ञानं कर्मकाण्डे यज्ञादिकर्मकौशल्यं ब्रह्मकाण्डे ब्रह्मात्मैक्यानुभवः । आस्तिक्यं सात्त्विकी श्रद्धा प्रागुक्ता । एतच्छमादिनवकं स्वभावजं सत्त्वगुणस्वभावकृतं ब्रह्मकर्म ब्राह्मणजातेः कर्म । यद्यपि

धर्म दण्ड और युद्धको छोड़कर क्षत्रियके ही समान हैं तथा कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य उसके अधिक धर्म हैं । दूसरे वर्णोंकी सेवा करना—यह शूद्रोंका धर्म है ।'

(१) मनुजी भी कहते हैं—'विधाताने अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान देना और दान लेना—ये ब्राह्मणके धर्म बनाये हैं । प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन और विषयोंमें अनासक्ति—ये क्षत्रियके धर्म बताये हैं । पशुओंकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन, वाणिज्य, ब्याज और कृषि—ये वैश्यके धर्म हैं । तथा किसी प्रकारकी दोषदृष्टि न करते हुए इन वर्णोंकी सेवा करना—यह एक ही कर्म विधाताने शूद्रका बताया है ।' इस प्रकार गुणभेदसे चारों ही वर्णोंके कर्मोंका विभाग किया गया है ॥ ४१ ॥

(२) इनमें ब्राह्मणके स्वाभाविक गुणों द्वारा होनेवाले कर्मोंका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४२ ॥]

(३) शम—अन्तःकरणकी उपरति, दम—बाह्य इन्द्रियोंकी उपरति जिसका पहले वर्णन हो चुका है, तप—शारीरिकादि तप जिसका 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्' इत्यादि श्लोकोंमें वर्णन हुआ है, शौच—बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे पहले कहा हुआ, क्षान्ति—क्षमा—गाली दिये हुए अथवा पीटे हुए पुरुषका मनमें विकाररहित रहना जिसकी पहले व्याख्या हो चुकी है, आर्जव—अकुटिलता जो पहले कही जा चुकी है, ज्ञान—अंगों-सहित वेद और उसके अर्थको विषय करनेवाला, विज्ञान—कर्मकाण्डमें कही हुई यज्ञादि कर्मोंमें कुशलता तथा ज्ञानकाण्डमें ब्रह्म और आत्माकी एकताका अनुभव, आस्तिक्य—पहले कही हुई सात्त्विकी श्रद्धा । ये शमादि नौ गुण स्वभावज—सत्त्वगुणी स्वभावसे होनेवाले ब्रह्मकर्म—ब्राह्मण जातिके कर्म हैं । यद्यपि सात्त्विक अवस्थामें तो ये चारों ही

चतुर्णामपि वर्णानां सात्त्विकावस्थायामेते धर्माः संभवन्ति तथाऽपि बाहुल्येन ब्राह्मणे भवन्ति सत्त्व-स्वभावत्वात्तस्य । सत्त्वोद्रेकवशेन त्वन्यत्रापि कचिदुद्भवन्तीति शास्त्रान्तरे साधारणधर्मतयोक्ताः । तथा च विष्णुः—

'क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः । अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् । अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ॥' इति ।
सामान्यश्चतुर्णामपि वर्णानां तथा प्रायेण चतुर्णामप्याश्रमाणामित्यर्थः ।

(१) तथा बृहस्पतिः—

'दया क्षमाऽनसूया च शौचानायासमङ्गलम् । अकार्पण्यमस्पृहत्वं सर्वसाधारणानि च ॥
परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा । आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता ॥
बाह्ये चाऽऽध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित् । न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥
न गुणान्गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि । नान्यदोषेषु रमते साऽनसूया प्रकीर्तिता ॥
अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिर्गुणैः । स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत्प्रकीर्तितम् ॥
शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनापि कर्मणा । अत्यन्तं तन्न कर्तव्यमनायासः स उच्यते ॥
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविसर्जनम् । एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
स्तोकादपि प्रदातव्यमदीनेनान्तरात्मना । अहन्यहनि यत्किंचिदकार्पण्यं हि तत्स्मृतम् ॥
यथोत्पन्नेन संतोषः कर्तव्यो ह्यर्थवस्तुना । परस्याचिन्तयित्वाऽर्थं साऽस्पृहा परिकीर्तिता ॥' इति ।

वर्णोंके धर्म हो सकते हैं तो भी अधिकतासे इनका ब्राह्मणमें ही होना सम्भव है, क्योंकि वह सात्त्विक स्वभाववाला होता है । सत्त्वगुणकी अधिकता होनेपर तो किसी समय ये धर्म अन्य वर्णोंमें भी होते हैं, इसीसे अन्य शास्त्रोंमें इन्हें साधारण धर्मरूपसे कहा है, जैसा कि विष्णु भगवान् कहते हैं—'क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, गुरुशुश्रूषा, तीर्थसेवन, दया, सरलता, लोभहीनता, देवता और ब्राह्मणोंका पूजन तथा ईर्ष्यासे रहित होना—यह सामान्य धर्म कहा जाता है ।' सामान्य—चारों वर्णोंमें तथा प्रायः चारों आश्रमोंमें भी सामान्य—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

(१) तथा बृहस्पतिजी कहते हैं—'दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य और अस्पृहत्व—ये सबके साधारण धर्म हैं । कोई अन्य पुरुष हो अथवा अपना भाई-बन्धु, तथा मित्र हो या द्वेष करनेवाला उसके आपत्तिग्रस्त होनेपर सर्वदा उसकी रक्षा करना—यह 'दया' कही गयी है । किसी समय बाह्य या आन्तर दुःख उत्पन्न कर दिया जाय तो न तो कुपित हो और न आघात ही करे—यह 'क्षमा' कही गयी है । जो गुणीके गुणोंको आघात नहीं पहुँचाता, थोड़े गुणवालोंकी भी प्रशंसा करता है और दूसरोंके दोषमें सुख नहीं मानता—यह 'अनसूया' कहलाती है । अभक्ष्यका त्याग, गुण-हीनोंका संसर्ग न करना और स्वधर्ममें स्थित रहना—यह 'शौच' कहा गया है । अत्यन्त शुभ होनेपर भी जिस कर्मसे शरीरको पीडा हो उसे नहीं करना चाहिये—यह 'अनायास' कहलाता है । सर्वदा श्रेष्ठ आचरण करना और निन्द्य आचरणका त्याग करना—इसे तत्त्वदर्शी मुनियोंने मंगल कहा है । अपने पास थोड़ी वस्तु हो तो भी दीनताशून्य हृदय से उसमेंसे नित्य कुछ दे दी जाय—इसे 'अकार्पण्य' कहा है । दूसरेके द्रव्यका चिन्तन न करते हुए, अपनेको जो कुछ मिले उसीसे संतोष कर लेना—यह 'अस्पृहा' कही गयी

एत एवाष्टावात्मगुणत्वेन गौतमेन पठिताः—'अथाष्टावात्मगुणा दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहा' इति। तथा महाभारते—

'सत्यं दमस्तपः शौचं संतोषो ह्रीः क्षमाऽऽर्जवम्। ज्ञानं शमो दया ध्यानमेष धर्मः सनातनः॥
सत्यं भूतहितं प्रोक्तं मनसो दमनं दमः। तपः स्वधर्मवर्तित्वं शौचं संकरवर्जनम्॥
संतोषो विषयत्यागो ह्रीरकार्यनिवर्तनम्। क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वमार्जवं समचित्तता॥
ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्तप्रशान्तता। दया भूतहितैषित्वं ध्यानं निर्विषयं मनः॥' इति।

देवलः—

'शौचं दानं तपः श्रद्धा गुरुसेवा क्षमा दया। विज्ञानं विनयः सत्यमिति धर्मसमुच्चयः॥' इति।

तथा—

'व्रतोपवासनियमैः शरीरोत्तापनं तपः। प्रत्ययो धर्मकार्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता॥
नास्ति ह्यश्रद्दधानस्य कर्मकृत्यप्रयोजनम्। यत्पुनर्वैदिकीनां च लौकिकीनां च सर्वशः॥
धारणं सर्वविद्यानां विज्ञानमिति कीर्त्यते। विनयं द्विविधं प्राहुः शश्वद्दमशमाविति॥' इति।

शेषं व्याख्यातप्रायमिति वचनानि न लिखितानि। याज्ञवल्क्यः—

'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम्॥' इति।

इयं च सर्वा दैवी संपत्प्राग्व्याख्याता ब्राह्मणस्य स्वाभाविकीतरेषां नैमित्तिकीति न विरोधः॥ ४२॥

है।' इन्हीं आठको गोतम ने आत्माके गुणरूपसे कहा है—'अब आत्माके आठ गुण बताये जाते हैं—समस्त प्राणियोंके प्रति दया, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य और अस्पृहा।' तथा महाभारतमें कहा है—'सत्य, दम, तप, शौच, सन्तोष, लज्जा, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, शम, दया और ध्यान—यह सनातन धर्म है। सत्य प्राणियों के हितको कहा है, मनका दमन करना दम है, अपने धर्म में रहना तप है, संकरताका त्याग शौच है, विषयका त्याग सन्तोष है, न करने योग्य कर्मसे दूर रहना लज्जा है, द्वन्द्वसहनका स्वभाव क्षमा है, समचित्तता आर्जव है, तत्त्व वस्तुका सम्यक् बोध ज्ञान है, चित्तकी अत्यन्त शान्ति शम है, प्राणियोंका हितैषी होना दया है और मनका निर्विषय होना ध्यान है।' देवलऋषि कहते हैं—'शौच, दान, तप, श्रद्धा, गुरुसेवा, क्षमा, दया, विज्ञान, विनय, और सत्य—यह धर्मका संग्रह है।' तथा 'व्रत और उपवासादि नियमोंसे शरीरको सन्तप्त करना 'तप' है, धर्मके कार्योंमें विश्वास रखना 'श्रद्धा' है, क्योंकि जो श्रद्धाहीन है उसे धर्मसम्बन्धी कृत्योंका प्रयोजन नहीं होता। तथा वैदिकी और लौकिकी सभी विद्याओंका जो धारण करना है वह 'विज्ञान' कहा जाता है। निरन्तर शम और दम रखना—यह दो प्रकारका विनय कहा गया है।' शेष धर्मोंकी व्याख्या तो प्रायः हो चुकी है, इसलिये उनकी व्याख्या करनेवाले महर्षि देवलके वचन नहीं लिखे। याज्ञवल्क्य जी कहते हैं—'यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान और स्वाध्याय इन सब धर्मोंके होते हुये भी योगद्वारा जो आत्माका साक्षात्कार करना है—यह सबसे श्रेष्ठ धर्म है। यह सारी दैवीसम्पद्, जिसकी पहले व्याख्या हो चुकी है, ब्राह्मणमें स्वाभाविक रूपसे होती है और दूसरोंमें निमित्तवश। इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं है॥ ४२॥

(१) क्षत्रियस्य गुणस्वभावकृतानि कर्माण्याह—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

(२) शौर्यं विक्रमो बलवत्तरानपि प्रहर्तुं प्रवृत्तिः। तेजः प्रागल्भ्यं परैरधर्षणीयत्वम्। धृतिर्महत्स्वापि विपत्सु देहेन्द्रियसंघातस्यानवसादः। दाक्ष्यं दक्षभावः सहसा प्रत्युत्पन्नेषु कार्येष्वव्यामोहेन प्रवृत्तिः। युद्धे चाप्यपलायनमपराङ्मुखीभावः। दानमसंकोचेन वित्तेषु स्वस्वत्वपरित्यागेन परस्वत्वापादनम्। ईश्वरभावः प्रजापालनार्थमीशितव्येषु प्रभुशक्तिप्रकटीकरणं च। क्षात्रकर्म क्षत्रियजातेर्विहितं कर्म, स्वभावजं सत्त्वोपसर्जनरजोगुणस्वभावजम्॥ ४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

(३) कृषिरन्नोत्पत्त्यर्थं भूमेर्विलेखनम्। गोरक्षस्य भावो गौरक्ष्यं पाशुपाल्यम्। वाणिज्यं वणिजः कर्म क्रयविक्रयादिलक्षणं, कुसीदमप्यत्रान्तर्गमनीयम्। वैश्यकर्म वैश्यजातेः कर्म, स्वभावजं तमउपसर्जनरजोगुणस्वभावजम्। परिचर्यात्मकं द्विजातिशुश्रूषात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजं रजउपसर्जनतमोगुणस्वभावजम्॥ ४४॥

(४) तदेवं वर्णानां स्वभावजा गौणाख्या धर्मा अभिहिताः। अन्येऽपि धर्माः शास्त्रेष्वाम्नाताः। तदुक्तं भविष्यपुराणे—

---

(१) क्षत्रियके गुण और स्वभावकृत कर्म बताते हैं—

[श्लोकार्थः—शूरवीरता, तेज, धृति, कुशलता, युद्धसे न भागना, दान और शासकत्व—ये क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं॥ ४३॥]

(२) शौर्य—विक्रम अर्थात् अपनेसे अधिक बलवानोंपर भी प्रहार करनेकी प्रवृत्ति, तेज—प्रगल्भता अर्थात् दूसरोंसे न दब सकना, धृति—महान् विपत्तिमें भी देह और इन्द्रिय—संघातका शिथिल न पड़ना, दाक्ष्य—दक्षभाव अर्थात् सहसा उपस्थित हुए कार्योंमें बिना हिचकिचाहटके प्रवृत्त हो जाना, और युद्धमें अपलायन अर्थात् पीठ न दिखाना, दान—बिना संकोचके धनमें अपना स्वामित्व छोड़कर दूसरेका स्वामित्व कर देना तथा ईश्वरभाव—प्रजापालनके लिये शासनके योग्य पदार्थोंमें अपनी शासनशक्तिको प्रकट करना—ये स्वभावज अर्थात् सत्त्वकी गौणतापूर्वक रजोगुणी स्वभावसे होनेवाले क्षत्रकर्म—क्षत्रिय जातिके विहित कर्म हैं॥ ४३॥

[श्लोकार्थः—खेती, गोपालन और वाणिज्य ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा शूद्रका भी सेवारूप स्वाभाविक कर्म है॥ ४४॥]

(३) कृषि—अन्नकी उत्पत्तिके लिये धरती जोतना, गोरक्षका भाववाची गौरक्ष्य है अर्थात् पशुपालन, वाणिज्य—वैश्यका खरीदना-बेचनारूप कर्म, ब्याजको भी इसीके अन्तर्गत कर लेना चाहिये। यह वैश्यकर्म—वैश्यजातिका कर्म, स्वभावज—तमोगुणकी गौणतापूर्वक रजोगुणी स्वभावका कर्म है। परिचर्यात्मक—द्विजातिकी सेवारूप शूद्रका कर्म भी स्वभावज—रजोगुणकी गौणतावाले तमोगुणी स्वभावका कर्म है॥ ४४॥

(४) इस प्रकार वर्णोंके गौणसंज्ञक स्वभावज धर्म कहे गये। शास्त्रोंमें अन्य धर्मोंका भी उल्लेख हुआ है। जैसा कि भविष्य पुराणमें कहा है—'धर्मको श्रेय कहा है

'धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम् । स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः ॥
वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम् । वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा ॥
वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते । वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ॥
यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते । स खल्वाश्रमधर्मः स्याद्भिक्षादण्डादिको यथा ॥
वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते । स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्ज्याद्या मेखला यथा ॥
यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मः स उच्यते । यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम् ॥
निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते । नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा ॥' इति ।

(१) अधिकारोऽत्र धर्मः । चतुर्विधं धर्ममाह हारीतः—'अथाऽऽश्रमिणां पृथग्धर्मो विशेषधर्मः समानधर्मः कृत्स्नधर्मश्च' इति । पृथगाश्रमानुष्ठानात्पृथग्धर्मो यथा चातुर्वर्ण्यधर्मः । स्वाश्रमविशेषानुष्ठानाद्विशेषधर्मो यथा नैष्ठिकयायावरानुज्ञायिकचातुराश्रम्यसिद्धानाम् । सर्वेषां यः समानो धर्मः स समानधर्मो नैष्ठिकः कृत्स्नधर्म इति । नैष्ठिको ब्रह्मचारिविशेषः । यायावरो गृहस्थविशेषः । आनुज्ञायिको वानप्रस्थविशेषः । चातुराश्रम्यसिद्धो यतिविशेषः । सर्वेषामिति वर्णानामाश्रमाणां च । तत्राऽऽद्यो यथा महाभारते—

'आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता । श्राद्धकर्माऽऽतिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ॥
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता । आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप ॥' इति ।

और श्रेयका लक्षण अभ्युदय है। वह वेदमूलक सनातन धर्म पाँच प्रकारका कहा गया है। एक तो वर्णधर्म कहा जाता है, दूसरा आश्रमोंका धर्म है, तीसरा वर्णाश्रम धर्म है तथा इनके सिवा गौणधर्म और नैमित्तिक धर्म भी हैं। हे राजन्! जो धर्म केवल वर्णत्वका आश्रय लेकर ही प्रवृत्त होता है वह वर्णधर्म कहा गया है, जैसे कि उपनयन संस्कार। और जो अधिकार केवल आश्रमका आश्रय लेकर ही प्रवृत्त हो वह आश्रमधर्म है, जैसे भिक्षा और दण्डादिक। तथा जो धर्म वर्णत्व और आश्रमत्व दोनों हीका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है वह वर्णाश्रम धर्म, जैसे मूँज आदिकी मेखला। जो धर्म गुण द्वारा प्रवृत्त हो वह गुणधर्म कहा जाता है, जैसे राजगद्दीपर अभिषिक्त राजाके लिये प्रजापालन। और जो धर्म किसी एक निमित्तका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है उसे नैमित्तिक समझना चाहिये, जैसे प्रायश्चित्तकी विधि।

(१) यहाँ अधिकार ही धर्म है। हारीत ने 'आश्रमियोंका अलग-अलग धर्म, विशेषधर्म, समानधर्म और कृत्स्नधर्म' इस प्रकार चार प्रकारका धर्म बताया है। पृथक्-पृथक् आश्रमके अनुष्ठानसे पृथग्धर्म होता है, जैसे अपने आश्रमविशेषके अनुष्ठानसे चारों वर्णोंका धर्म। विशेषधर्म—जैसे नैष्ठिक,[1] यायावर,[2] आनुज्ञायिक[3] और चातुराश्रम्यसिद्धों[4] का धर्म। जो इन सबका समान रूपसे धर्म है वह समान धर्म है तथा नैष्ठिक (निष्काम) धर्म कृत्स्नधर्म है। नैष्ठिक ब्रह्मचारिविशेष होता है, यायावर गृहस्थविशेष होता है, आनुज्ञायिक वानप्रस्थविशेष है और चातुराश्रम्यसिद्ध यतिविशेष होता है। सबका सामान्य धर्म अर्थात् सम्पूर्ण वर्ण और आश्रमोंका धर्म; जैसे कि प्रथम (सामान्य) धर्मके विषयमें महाभारतमें कहा है—'अक्रूरता, अहिंसा, अप्रमाद, दान, श्राद्धकर्म, अतिथि-सत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी स्त्रीमें सन्तुष्ट रहना, शौच, सर्वदा ईर्ष्याहीन रहना, आत्म-ज्ञान और तितिक्षा—हे राजन्! यह साधारण धर्म है। इस समस्त आश्रमोंके लिये समान धर्मका पहले उल्लेख हो चुका है। निष्ठा—संसारकी समाप्तिको कहते हैं, वह

सर्वाश्रमसाधारणस्तु प्रागुदाहृतः। निष्ठा संसारसमाप्तिस्तत्प्रयोजनो नैष्ठिको मोक्षहेत्वात्मज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकप्रत्यवायपरिहाराय निष्कामकर्मानुष्ठानं कृत्स्नधर्म इत्यर्थः ।

(१) आश्रमाश्च शास्त्रेषु चत्वार आम्नाताः । यथाऽऽह गौतमः—'तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवते ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः' इति । आपस्तम्बः—'चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थमिति तेषु सर्वेषु यथोपदेशमध्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति' इति । वसिष्ठः—'चत्वार आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थपरिव्राजकास्तेषां वेदमधीत्य वेदौ वेदान्वाऽविशीर्णब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तमावसेत्' इति । एवं तेषां पृथग्धर्मा अप्याम्नाताः । तथा फलमप्यज्ञानामाम्नातम् । यथाऽऽह मनुः—

'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः । इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥' इति ।

अनुत्तमं सुखमिति यथाप्राप्ततत्तत्फलोपलक्षणार्थम् । आपस्तम्बः—'सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखं ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं वृत्तं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते' (इति)। गौतमः—'वर्णा आश्रमाश्च स्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विपर्ययाद्विपरीता नश्यन्ति' [इति]। अत्र शेषशब्देन भुक्तज्योतिष्टोमादिकर्मातिरिक्तं चित्रादिकर्मानुशयशब्दितमुच्यते नतु पूर्वकर्मण एकदेश इति स्थितं 'कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च' इत्यत्र। भट्टैरप्युक्तम्—

जिसका प्रयोजन है उसका नाम नैष्ठिक है। तात्पर्य यह है कि मोक्षके हेतुभूत आत्मज्ञानकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धककी निवृत्तिके लिये निष्काम कर्मका अनुष्ठान करना कृत्स्नधर्म है।

(१) शास्त्रोंमें आश्रम चार बताये हैं; जैसे गौतमजी कहते हैं—'उसके आश्रम-भेदको कोई लोग ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वानप्रस्थ—इस प्रकार कहते हैं।' आपस्तम्बजी कहते हैं—'चार आश्रम हैं—गार्हस्थ्य, ब्रह्मचर्य, संन्यास और वानप्रस्थ। उन सबमें अव्यग्रचित्तसे शास्त्रादेशके अनुसार बर्तनेवाला पुरुष कल्याण प्राप्त करता है।' वसिष्ठजी कहते हैं—'चार आश्रम हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी। ब्रह्मचर्यको खण्डित न करनेवाला पुरुष एक दो अथवा अधिक वेदोंका अध्ययन कर इनमेंसे जिसकी इच्छा हो उसीमें रहे।' इस प्रकार उनके अलग-अलग धर्म भी बताये हैं और अज्ञानियोंके लिये फल भी बताया है; जैसे मनुजी कहते हैं—'श्रुति और स्मृति द्वारा कहे हुए धर्म का अनुष्ठान करनेसे मनुष्य इस लोकमें कीर्ति-लाभ करता है और मरकर अनुत्तम सुख पाता है।' अनुत्तम सुख यह समय-समय पर प्राप्त होनेवाले फलोंके उपलक्षणके लिये है। आपस्तम्बजी कहते हैं—'समस्त वर्णोंको अपने धर्मका अनुष्ठान करनेपर अत्यन्त असीम सुख मिलता है और फिर मरनेके पश्चात् भोगनेसे शेष रहे हुए कर्मफल द्वारा जाति, रूप, वर्ण, वृत्त, मेधा, प्रज्ञा, द्रव्य और धर्मानुष्ठान—इन सबको प्राप्त करते हैं।' गौतमजीका कथन है—'अपने-अपने कर्ममें निष्ठा रखनेवाले वर्ण और आश्रम मरनेके पश्चात् कर्मफलका अनुभव कर शेष कर्मोंद्वारा विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, श्रुत, सदाचार, धन, सुख और मेधावाले होकर जन्म ग्रहण करते हैं तथा विपरीत आचरणवाले यथेच्छाचारी पुरुष नष्ट हो जाते हैं।' यहाँ 'शेष' शब्दसे जिनका फल भोग लिया है उन ज्योतिष्टोमादि कर्मोंसे भिन्न 'अनुशय' शब्दसे कहे जानेवाले चित्रायाग आदि कर्म कहे जाते हैं, पूर्वकर्मका एक देश नहीं—ऐसा निश्चय करना चाहिए। ऐसा ही वेदान्त दर्शनके पुण्य भोग समाप्त होनेपर कर्मशेषयुक्त जीव, जिस धूमादि मार्गसे

'गौतमीयेऽपि तच्छेषस्तस्माच्चित्राद्यपेक्षया' इति ।

विष्वञ्चः सर्वतोगामिनो यथेष्टचेष्टा विपरीता नरकादौ जन्म प्रतिपद्य विनश्यन्ति कृमिकीटादिभावेन सर्वपुरुषार्थेभ्यो भ्रश्यन्त इत्यर्थः । हारीतः—

'काम्यैः केचिद्यज्ञदानैस्तपोभिर्लब्ध्वा लोकान्पुनरायान्ति जन्म ।
कामैर्मुक्ताः सत्ययज्ञाः सुदानास्तपोनिष्ठा अक्षयान्यान्ति लोकान् ॥' इति ।

(१) अत्र कामनासदसद्भावनिबन्धनः फलभेदो दर्शितो भविष्यपुराणे—

'फलं विनाऽप्यनुष्ठानं नित्यानामिष्यते स्फुटम् । काम्यानां स्वफलार्थं तु दोषघातार्थमेव तु ॥
नैमित्तिकानां करणे त्रिविधं कर्मणां फलम् । क्षयं केचिदुपासस्य दुरितस्य प्रचक्षते ॥
अनुत्पत्तिं तथा चान्ये प्रत्यवायस्य मन्वते । नित्यां क्रियां तथा चान्ये अनुषङ्गफलं विदुः ॥' इति ।

अन्य आपस्तम्बादयस्तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते इत्यादिवचनैरानुषङ्गिकफलतां नित्यकर्मणो विदुः । श्रुतिश्च—'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्' इति गृहस्थवानप्रस्थब्रह्मचारिण उक्त्वा 'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' इति तेषामन्तःकरणशुद्धयभावे मोक्षाभावमुक्त्वा शुद्धान्तःकरणानामेषामेव परिव्राजकभावेन ज्ञाननिष्ठया मोक्षमाह—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति । तदेवं स्थिते ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थो वा मुमुक्षुः फलाभिसंधित्यागेन भगवदर्पणबुद्धया—

गया था उसीसे विपरीत क्रमसे इस लोकमें लौट आता है, यह बात शास्त्र और लौकिक युक्तिसे सिद्ध होती है, इस सूत्रसे निश्चय होता है, तथा कुमारिलभट्ट भी कहते हैं कि गौतमीय शास्त्रमें भी चित्रादि कर्मको लक्ष्य करके ही कर्मशेषका निरूपण किया गया है। विष्वञ्चः—सब ओर आनेवाले अर्थात् यथेष्ट आचरण करनेवाले विपरीत अर्थात् नरकादिमें जन्म पाकर विनष्ट हो जाता है, अर्थात् कृमि-कीटादि भावको प्राप्त होकर सारे पुरुषार्थोंसे पतित हो जाते हैं। हारीतजी कहते हैं—'कोई लोग काम्य यज्ञ, दान और तपके द्वारा पुण्यलोकोंको प्राप्त करके फिर जन्म प्राप्त करते हैं, किन्तु जो कामनाओंसे हीन होकर यथार्थ यज्ञ, सुन्दर दान और तपमें तत्पर रहनेवाले होते हैं वे अक्षय लोकोंको प्राप्त होते हैं।

(१) भविष्य पुराणमें कामनाके होने और न होनेके कारण फलका भेद दिखाया है—'नित्य कर्मोंका अनुष्ठान बिना फलकामनाके भी स्पष्टतया माना गया है। काम्य कर्मोंका अनुष्ठान अपने इष्ट फलके लिये और दोषकी निवृत्तिके लिये है तथा नैमित्तिक कर्मोंके करनेमें तीन प्रकारका कर्मफल होता है—(१) कोई तो उसका फल प्राप्त हुए पापका क्षय बताते हैं, (२) दूसरे लोग प्रत्यवायकी अनुत्पत्ति बताते हैं और (३) कोई अन्य लोग नित्य क्रियाको ही उसका आनुषङ्गिक फल समझते हैं।' अन्य अर्थात् आपस्तम्बादि, 'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते' इत्यादि वचनोंके द्वारा नित्य कर्मोंकी आनुषङ्गिकफलता समझते हैं। श्रुतिने भी—'तीन धर्मके स्कन्ध हैं यज्ञ, अध्ययन और दान यह पहला स्कन्ध है। तप ही दूसरा स्कन्ध है तथा ब्रह्मचर्यसे ही आचार्यकुलमें रहनेवाला, आचार्यकुलमें ही अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर देनेवाला तीसरा स्कन्ध है' इस प्रकार, गृहस्थ, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारीका वर्णन करके 'ये सब पुण्यलोकके भागी होते हैं' ऐसा कहकर अन्तःकरणकी शुद्धि न होनेपर उनके मोक्षका अभाव बताया है और फिर 'ब्रह्ममें सम्यक् प्रकारसे स्थित हुआ पुरुष अमृतत्व प्राप्त करता है' ऐसा कहकर 'शुद्धचित्त हुए इन लोगोंका ही संन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठासे मोक्ष होता है' इस प्रकार ऐसा निश्चय होनेपर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा मुमुक्षु फलासक्तिको छोड़कर भगवदर्पणबुद्धिसे—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

(१) स्वे स्वे तत्तद्वर्णाश्रमविहिते नतु स्वेच्छामात्रकृते कर्मणि श्रुतिस्मृत्युदितेऽभिरतः सम्यगनुष्ठानपरः संसिद्धिं देहेन्द्रियसंघातस्याशुद्धिक्षयेण सम्यग्ज्ञानोत्पत्तियोग्यतां लभते नरो वर्णाश्रमाभिमानी मनुष्यो मनुष्याधिकारित्वात्कर्मकाण्डस्य । देवादीनां वर्णाश्रमाभिमानित्वाभावाद्युक्त एव तद्धर्मेष्वनधिकारः । वर्णाश्रमाभिमानानपेक्षे तूपासनादावधिकारस्तेषामप्यस्तीति साधितं देवताधिकरणे । ननु बन्धहेतूनां कर्मणां कथं मोक्षहेतुत्वमुपायविशेषादित्याह—स्वकर्मनिरतः सिद्धिमुक्तलक्षणां यथा येन प्रकारेण विन्दति तच्छृणु श्रुत्वा तं प्रकारमवधारयेत्यर्थः ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

(२) यतो मायोपाधिकचैतन्यानन्दघनात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वरादुपादानान्निमित्ताच्च सर्वान्तर्यामिणः प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्मायामयी स्वाप्नरथादीनामिव भूतानां भवनधर्मणामाकाशादीनां येन चैकेन सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वमिदं दृश्यजातं त्रिष्वपि कालेषु ततं व्याप्तं स्वात्मन्येवान्तर्भावितं कल्पितस्या-

[श्लोकार्थः—अपने-अपने कर्ममें अच्छी तरह लगा हुआ पुरुष संसिद्धि (सम्यक् ज्ञान) प्राप्त कर लेता है। अपने कर्ममें लगा हुआ पुरुष जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है वह सुनो ॥ ४५ ॥]

(१) अपने-अपने अर्थात् उस-उस वर्ण और आश्रमके लिये विहित, स्वेच्छामात्रसे किये हुए नहीं, श्रुति-स्मृतिद्वारा बताये हुए कर्ममें अभिरत—उसके अच्छी तरह अनुष्ठानमें लगा हुआ पुरुष संसिद्धि—देह और इन्द्रियोंके संघातकी अशुद्धिके क्षयद्वारा सम्यग्ज्ञानकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। नर अर्थात् वर्णाश्रमका अभिमान रखनेवाला मनुष्य, क्योंकि कर्मकाण्डका अधिकार मनुष्यको ही है। देवतादि वर्णाश्रमाभिमानी होते नहीं हैं, इसलिये उनका उनके धर्मोंमें अभिमान न होना उचित ही है। वर्णाश्रमाभिमानकी अपेक्षासे रहित उपासनादिकमें तो उनका अधिकार भी है ही—यह बात देवताधिकरणमें सिद्ध की गयी है। यदि शंका हो कि बन्धनके हेतुभूत कर्मोंकी मोक्षमें कारणता किस प्रकार है तो उसका उत्तर देते हैं कि उपासना विशेषसे वे मोक्षके हेतु हो सकते हैं—स्वकर्ममें लगा हुआ पुरुष जिस प्रकार उपर्युक्त प्रकारकी सिद्धि प्राप्त करता है वह सुनो तथा सुनकर उस उपायको हृदयमें धारण करो—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ४५ ॥

[श्लोकार्थः—जिससे आकाशादि भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिसके द्वारा यह सारा दृश्य प्रपञ्च व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने कर्मोंसे पूजा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥]

(२) जिस निमित्त और उपादान कारणरूप मायोपाधिक चिदानन्दघन सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी ईश्वरसे स्वप्नके रथादिके समान भूतोंकी—उत्पत्तिधर्मा आकाशादिकी प्रवृत्ति—मायामयी उत्पत्ति हुई है और जिस एकके द्वारा यह सारा दृश्यजात तीनों कालोंमें सद्रूप और स्फुरणरूपसे व्याप्त है—अपने हीमें अन्तर्भूत किया हुआ है, क्योंकि कल्पित वस्तुका अपने अधिष्ठानसे भेद नहीं होता। ऐसा ही यह श्रुति भी कहती है 'जिससे ये भूत उत्पन्न हुए हैं, जिससे उत्पन्न होकर ये जीवित रहते हैं और

धिष्ठानानतिरेकात्। तथा च श्रुतिः—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति' [इति]। अत्र यत इति प्रकृतौ पञ्चमी। यतो येनेति चैकत्वं विवक्षितम्। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।' इति च तस्य निर्णयवाक्यम्। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च मायोपाधिलाभः। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादिश्रुत्यन्तरात्सर्वज्ञत्वादिलाभः। एवं च श्रौत एवायमर्थो भगवता प्रकाशितः—यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततमिति। तमन्तर्यामिणं भगवन्तं स्वकर्मणा प्रतिवर्णाश्रमं विहितेनाभ्यर्च्य तोषयित्वा तत्प्रसादादैकात्म्यज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां सिद्धिमन्तःकरणशुद्धिं विन्दति मानवः। देवादिस्तूपासनामात्रेणेति भावः॥ ४६॥

(१) यतः स्वधर्म एव मनुष्याणां भगवत्प्रसादहेतुरतः—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

(२) परधर्मात्सम्यगनुष्ठितादपि श्रेयान्प्रशस्यतरः स्वधर्मो विगुणोऽसम्यगनुष्ठितोऽपि। तस्मात्क्षत्रियेण सता त्वया स्वधर्मो युद्धादिरेवानुष्ठेयो न परधर्मो भिक्षाटनादिरित्यभिप्रायः।

(३) ननु स्वधर्मोऽपि युद्धादिर्बन्धुवधादिप्रत्यवायहेतुत्वान्नानुष्ठेय इति नेत्याह—स्वभाव-

जिसमें जाकर लीन हो जाते हैं उसे जाननेकी इच्छा करो, वह ब्रह्म है।' यहाँ 'यतः' यह प्रकृति (कारण) अर्थमें पञ्चमी है। 'यतः' और 'येन' इन पदोंसे उस कारणकी एकता बतानी अभीष्ट है। 'आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना, क्योंकि निश्चय आनन्दसे ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं' यह उसका निर्णय वाक्य है। 'मायाको तो प्रकृति जानो और मायीको महेश्वर' इत्यादि एक अन्य श्रुतिसे उसकी उपाधि मायाकी प्राप्ति होती है। 'जो सर्वत्र और सर्ववित्' इस दूसरी श्रुतिसे सर्वज्ञत्वादि प्राप्त होता है, ऐसा है तब तो भगवान्‌ने इस श्लोकके पूर्वार्ध 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्' द्वारा श्रौत अर्थको ही प्रकाशित किया है। उस अन्तर्यामी भगवान्‌को स्वकर्मद्वारा—प्रत्येक आश्रमके लिये विहित कर्मद्वारा अभ्यर्चित-सन्तुष्ट करके मनुष्य उसकी कृपासे ऐकात्म्यज्ञाननिष्ठाकी योगतारूप सिद्धि—अन्तःकरण-शुद्धि प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि देवादि तो केवल उपासनामात्रसे ही यह सिद्धि प्राप्त करते हैं॥ ४६॥[1]

(१) क्योंकि स्वधर्म ही मनुष्योंपर भगवान्‌की कृपा होनेमें कारण है, इसलिये—

[श्लोकार्थः—सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान किये परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म न्यूनतायुक्त होनेपर भी अच्छा है; क्योंकि स्वभावजनित कर्मको करनेसे मनुष्य पापका भागी नहीं होता॥ ४७॥]

(२) सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान किये हुए परधर्मकी अपेक्षा भी विगुण—असम्यक् प्रकारसे अनुष्ठित स्वधर्म अधिक अच्छा है। अतः क्षत्रिय होनेके कारण तुम्हें अपने धर्म युद्धादिका ही अनुष्ठान करना चाहिये, भिक्षाटनादि परधर्मका नहीं—ऐसा इसका अभिप्राय है।

(३) यदि शंका हो कि बन्धुवधरूप प्रत्यवायके कारण मुझे स्वधर्म होनेपर भी युद्धादि नहीं करना चाहिये तो भगवान् कहते हैं—स्वभावनियत—पहले बताये हुए शौर्य-

१. क्योंकि उनमें वर्णाश्रमव्यवस्था न होनेके कारण स्वकर्मोंका भेद नहीं है।

नियतं पूर्वोक्तं शौर्यं तेज इत्यादि स्वभावजं युद्धादि कर्म कुर्वन्किल्बिषं पापं बन्धुवधादिनिमित्तं न प्राप्नोति। तथा च प्राग्व्याख्यातं 'सुखदुःखे समे कृत्वा' इत्यत्र। विहितज्योतिष्टोमाङ्गपशुहिंसाया इव विहितयुद्धाङ्गबन्धुहिंसाया अपि प्रत्यवायहेतुत्वाभावात्। तथा चोक्तमधस्तात्॥ ४७॥

(१) यस्मादेवं विहितहिंसादेर्न प्रत्यवायहेतुत्वं परधर्मश्च भयावहः सामान्यदोषेण च सर्वकर्माणि दुष्टानि तस्मादज्ञो वर्णाश्रमाभिमानी—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः॥ ४८॥

(२) हे कौन्तेय सहजं स्वभावजं कर्म सदोषमपि विहितहिंसायुक्तमपि ज्योतिष्टोमयुद्धादि न त्यजेदन्तःकरणशुद्धेः प्राग्भवानन्यो वा। नह्यनात्मज्ञः कश्चित्क्षणमपि कर्माण्यकृत्वा स्थातुं शक्नोति। न च परधर्मानुतिष्ठन्नपि दोषान्मुच्यते। सर्वारम्भाः स्वधर्माः परधर्माश्च सर्वे हि यस्माद्दोषेण त्रिगुणात्मकत्वेन सामान्येनाऽऽवृता व्याप्ताः सदोषा एव। तथा च प्राग्व्याख्यातं 'परिणामतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इति। तस्मादगत्याऽनात्मज्ञः कर्माणि कुर्वन्विषजकृमिरिव विषं सहजं कर्म युद्धादि त्रिगुणात्मकत्वेन सामान्येन बन्धुवधादिनिमित्तत्वेन विशेषेण च सदोषमपि न त्यजेत्सर्वकर्मत्यागासमर्थत्वात्। सर्वकर्मत्यागसमर्थस्तु शुद्धान्तःकरणस्त्यजेदेवेत्यभिप्रायः॥ ४८॥

तेज इत्यादि स्वभावसे होनेवाले युद्धादि कर्मको करने पर मनुष्य बन्धुवधादिजनित किल्बिष—पापको नहीं पाता। ऐसी ही 'सुख-दुःखे समे कृत्वा' इत्यादि स्थलमें पहले व्याख्या की गयी है, क्योंकि विहित ज्योतिष्टोमयागकी अंगभूता पशुहिंसाके समान विहितकर्म युद्ध की अंगभूता बन्धुहिंसा भी प्रत्यवायका हेतु नहीं होती। ऐसा ही आगे भी कहा है॥ ४७॥

(१) क्योंकि इस प्रकार विहित हिंसा प्रत्यवायका हेतु नहीं है, परधर्म भयकी प्राप्ति करानेवाला होता है और सामान्य दोषसे सारे ही कर्म सदोष हैं, इसलिये अज्ञानी वर्णाश्रमाभिमानीको—

[श्लोकार्थः—हे कौन्तेय! स्वाभाविक कर्म, सदोष होनेपर भी, नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि अग्नि जैसे धूएँसे ढकी रहती है वैसे ही सारे कर्म दोषसे आवृत हैं॥ ४८॥

(२) हे कौन्तेय! आपको अथवा किसी दूसरेको अपने सहज—स्वाभाविक कर्म ज्योतिष्टोम या युद्धादिको सदोष अर्थात् विहित हिंसायुक्त होनेपर भी अन्तःकरणकी शुद्धि होनेसे पहले त्यागना नहीं चाहिये, क्योंकि कोई भी आत्मज्ञानहीन पुरुष एक क्षणभी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। परधर्मोंका अनुष्ठान करनेसे भी कोई दोषसे नहीं छूट सकता, क्योंकि स्वधर्म और परधर्म सारे ही धर्म त्रिगुणात्मकतारूप सामान्य दोषसे आवृत—व्याप्त हैं अर्थात् दोषयुक्त ही हैं। ऐसी ही पहले[1] 'परिणामतापसंस्कारगुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इस सूत्र द्वारा व्याख्या की गयी है। इसलिये कोई और गति न होने के कारण जिस प्रकार विषसे उत्पन्न हुआ कीड़ा विषको नहीं छोड़ता उसी प्रकार अनात्मज्ञको अपने स्वाभाविक कर्म युद्धादिका, त्रिगुणात्मकत्वरूप सामान्य और बन्धुवधजनित विशेष दोष के कारण सदोष होनेपर भी, त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह समस्त कर्मोंका त्याग करनेमें असमर्थ होता है; हाँ, जो सर्वकर्मत्यागमें समर्थ है वह शुद्धान्तःकरण पुरुष तो उनका भी त्याग कर ही दे—ऐसा इसका अभिप्राय है॥४८॥

१. अध्याय ५ श्लोक २२ की टीकामें।

(१) कः पुनः सर्वकर्मत्यागसमर्थः, यो नित्यानित्यवस्तुविवेकजेनेहामुत्रार्थभोगवैराग्येण शमदमादिसंपन्नः कर्मजां सिद्धिमशुद्धिपरिक्षयद्वारा मुमुक्षुः शुद्धब्रह्मात्मैक्यजिज्ञासां प्राप्तः स श्रेष्ठ-मोक्षहेतुब्रह्मात्मैक्यज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यश्रवणादि कर्तुं सर्वविक्षेपनिवृत्त्या तच्छेषभूतं सर्वकर्मसंन्यासं श्रुतिस्मृतिविहितं कुर्यादेव । 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्' इति श्रुतेः । 'सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्' इति । स्मृतेश्च । उपरतस्त्यक्तसर्वकर्मा भूत्वाऽऽत्मानं पश्येदात्मदर्शनाय वेदान्तवाक्यानि विचारये-दिति श्रुत्यर्थः । एतादृश एव ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीति श्रुत्या धर्मस्कन्धत्रयविलक्षणत्वेन प्रतिपादितः परमहंसपरिव्राजकः परमहंसपरिव्राजकं कृतकृत्यं गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारसमर्थो यमुद्दिश्या-थातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादिचतुर्लक्षणमीमांसा भगवता बादरायणेन समारम्भि । कीदृशोऽसावित्याह—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

(२) सर्वत्र पुत्रदारादिषु सक्तिनिमित्तेष्वपि असक्तबुद्धिरहमेषां ममैत इत्यभिष्वङ्गरहिता बुद्धिर्यस्य सः । यतो जितात्मा विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य वशीकृतान्तःकरणः । विषयरागे सति कथं प्रत्याहरणं तत्राऽऽह—विगतस्पृहः, देहजीवितभोगेष्वपि वाञ्छारहितः सर्वदृश्येषु दोषदर्शनेन नित्य-

(१) तो फिर समस्त कर्मोंका त्याग करनेमें कौन समर्थ है ?—जो नित्य और अनित्य वस्तुके विवेकसे उत्पन्न हुए इहलोक और परलोकसम्बन्धी भोगोंके वैराग्य द्वारा शम-दमादिसे सम्पन्न होकर कर्मजनित सिद्धिको अर्थात् अशुद्धिके क्षयद्वारा मोक्षकामी होकर शुद्धब्रह्म और आत्माकी एकताकी जिज्ञासाको प्राप्त है उसे अपने इष्ट मोक्षके हेतुभूत ब्रह्म और आत्माकी एकताके साधन वेदान्तवाक्यके श्रवणादि करनेके लिये सम्पूर्ण विक्षेपकी निवृत्तिपूर्वक उसका शेषभूत श्रुति-स्मृति विहित सर्वकर्म संन्यास करना ही चाहिये । 'अतः ऐसा जाननेवाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें ही आत्माका दर्शन करे' इस श्रुतिसे और 'सत्य-असत्य, सुख-दुःख एवं यह लोक और परलोक—इन्हें त्यागकर आत्माका अनुसन्धान करे' इस स्मृतिसे उपरत अर्थात् समस्त कर्मोंका त्याग करनेवाला होकर आत्माका साक्षात्कार करे । यहाँ श्रुतिका तात्पर्य यह है कि आत्मदर्शनके लिये वेदान्तवाक्योंका विचार करे । ऐसे पुरुषका ही 'ब्रह्ममें स्थित हुआ अमृतत्वको प्राप्त होता है' इस श्रुतिने तीन धर्मस्कन्धोंसे पृथग्रूपसे प्रतिपादन किया है । यह परमहंसपरिव्राजक दूसरे परमहंसपरिव्राजक कृतकृत्य गुरुके समीप जाकर वेदान्त विचार करनेमें समर्थ होता है । इसीके उद्देश्यसे भगवान् बादरायणने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि चार लक्षणोंवाली मीमांसाका आरम्भ किया है । यह कैसा होता है ? इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—सर्वत्र अनासक्त बुद्धिवाला, अन्तःकरणको वशमें रखनेवाला और सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित पुरुष संन्यासके द्वारा ब्रह्मसाक्षात्काररूपा परम सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥]

(२) सर्वत्र अर्थात् आसक्तिके निमित्तभूत पुत्र-स्त्री आदिमें भी असक्तबुद्धि—'मैं इनका हूँ और ये मेरे हैं'—इस प्रकारके आग्रहसे जिसकी बुद्धि रहित है, क्योंकि जितात्मा—विषयोंसे हटाकर अन्तःकरणको वशमें रखनेवाला है; किन्तु विषयोंका राग रहनेपर तो अन्तःकरणको उनसे हटाया नहीं जा सकता, इसलिये कहते हैं—विगतस्पृह

बोधपरमानन्दरूपमोक्षगुणदर्शनेन च सर्वतो विरक्त इत्यर्थः । य एवं शुद्धान्तःकरणः 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इतिवचनप्रतिपादितां कर्मजामपरमां सिद्धिं ज्ञानसाधनवेदान्त-वाक्यविचाराधिकारलक्षणां ज्ञाननिष्ठायोग्यतां प्राप्तः स संन्यासेन शिखायज्ञोपवीतादिसहितसर्वकर्म-त्यागेन हेतुना तत्पूर्वकेण विचारेणेत्यर्थः । नैष्कर्म्यसिद्धिं निष्कर्म ब्रह्म तद्विषयं विचारपरिनिष्पन्नं ज्ञानं नैष्कर्म्यं तद्रूपां सिद्धिं परमां कर्मजाया अपरमसिद्धेः फलभूतामधिगच्छति साधनपरिपाकेण प्राप्नोति ।

(१) अथवा संन्यासेनेतीत्थंभूतलक्षणे तृतीया । सर्वकर्मसंन्यासरूपां नैष्कर्म्यसिद्धिं ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतां नैर्गुण्यलक्षणां सिद्धिं परमां पूर्वस्याः सिद्धेः सात्त्विक्याः फलभूतामधिगच्छ-तीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

(२) प्रागुक्तसाधनसंपन्नस्य सर्वकर्मसंन्यासिनो ब्रह्मज्ञानोत्पत्तौ साधनक्रममाह—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

(३) स्वकर्मणेश्वरमाराध्य तत्प्रसादजां सर्वकर्मत्यागपर्यन्तां ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपां सिद्धि-मन्तःकरणशुद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म प्राप्नोति येन प्रकारेण शुद्धमात्मानं साक्षात्करोति तथा तं प्रकारं निबोध मे मद्वचनादवधारयानुष्ठातुम् । किमतिविस्तरेण नेत्याह—समासेन संक्षेपेणैव न तु

अर्थात् देह-जीवन और भोगोंमें भी इच्छा न रखनेवाला है । तात्पर्य यह है कि जो समस्त दृश्य-पदार्थोंमें दोष देखनेसे तथा नित्यबोध परमानन्दस्वरूप मोक्षमें गुण देखनेसे सबसे विरक्त है; ऐसा जो शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष है अर्थात् 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इस वचनद्वारा प्रतिपादित कर्मजनित अपरासिद्धिको यानी ज्ञानके साधन वेदान्तवाक्यविचारके अधिकाररूप ज्ञाननिष्ठाकी योग्यताको प्राप्त है वह संन्याससे—शिखायज्ञोपवीतादिके सहित सम्पूर्ण कर्मोंके त्यागरूप हेतुसे अर्थात उस त्यागपूर्वक विचारसे नैष्कर्म्यसिद्धिको—निष्कर्म ब्रह्मको कहते हैं, उससे सम्बन्ध रखनेवाले विचारसे होनेवाला ज्ञान नैष्कर्म्य है उस नैष्कर्म्यरूपा परमा सिद्धिको, जो कर्मजनित अपरमा सिद्धि की फलभूता होती है, अधिगत करता है—साधनके परिपाकद्वारा प्राप्त करता है ।

(१) अथवा 'संन्यासेन' यह इत्थंभूत लक्षणमें तृतीया है । अतः तात्पर्य यह है कि सर्वकर्मसंन्यासरूपा नैष्कर्म्यसिद्धिको अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कारकी योग्यताको—नैर्गुण्यरूपा सिद्धिको, जो परमा अर्थात् पहली सात्त्विकी सिद्धिकी फलभूता है, प्राप्त कर लेता है ॥ ४९ ॥

(२) पहले बताये हुए साधनोंसे सम्पन्न सर्वकर्मसंन्यासीको ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिमें साधनका क्रम बताते हैं—

[श्लोकार्थः—हे कुन्तीनन्दन ! सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है वह संक्षेपसे ही मुझसे सुनो, जो कि ज्ञानकी परा निष्ठा (श्रेष्ठ समाप्ति) है ॥ ५० ॥]

(३) हे कौन्तेय ! अपने कर्मोंद्वारा ईश्वरकी आराधना कर उनकी कृपासे उत्पन्न हुई सर्वकर्मत्यागपर्यन्त ज्ञानोत्पत्तिकी योग्यतारूपा सिद्धिको अर्थात् अन्तःकरणशुद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त करता है—जिस तरह वह शुद्ध आत्माका साक्षात्कार करता है उस प्रकारको तुम मुझसे सुनो—अनुष्ठान करनेके लिये उसे मेरे

विस्तरेण हे कौन्तेय। तदवधारणे किं स्यादित्यत आह—निष्ठा ज्ञानस्य या परा, ज्ञानस्य विचार-परिनिष्पन्नस्य निष्ठा परिसमाप्तिः। यदनन्तरं साधनान्तरं नानुष्ठेयमस्ति। परा श्रेष्ठा सर्वान्त्या वा साक्षान्मोक्षहेतुत्वात्। तां सिद्धिं प्राप्तस्य ब्रह्मप्राप्तिरूपां ज्ञाननिष्ठां परां संक्षेपेण निबोधेत्यर्थः ॥ ५० ॥

(१) सेयं ज्ञाननिष्ठा सप्रकारोच्यते—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

(२) विशुद्धया सर्वसंशयविपर्ययशून्यया बुद्धयाऽहं ब्रह्मास्मीति वेदान्तवाक्यजन्यया बुद्धि-वृत्त्या युक्तः सदा तदन्वितो धृत्या धैर्येणाऽऽत्मानं शरीरेन्द्रियसंघातं नियम्योन्मार्गप्रवृत्तेर्निवार्याऽऽत्म-प्रवणं कृत्वा। चशब्देन योगशास्त्रोक्तं साधनान्तरं समुच्चीयते। शब्दादीञ्शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा-न्विषयान्भोगेन बन्धहेतून्, सामर्थ्याज्ज्ञाननिष्ठार्थशरीरस्थितिमात्रप्रयोजनानुपयुक्तानपि

वचनद्वारा निश्चय करो। क्या खूब विस्तारसे सुने? इसपर कहते हैं—नहीं, समाससे—संक्षेपसे ही सुनो, विस्तारसे नहीं। उसका निश्चय करनेसे क्या होगा? इसपर कहते हैं—'निष्ठा ज्ञानस्य या परा'—जो विचारसे निष्पन्न ज्ञानकी परा निष्ठा—परिसमाप्ति है, जिसके पीछे कोई और साधन नहीं करना पड़ता, परा—श्रेष्ठ अर्थात् मोक्षका साक्षात् हेतु होनेके कारण सबसे पीछेकी, सिद्धिको प्राप्त हुए पुरुषकी उस ब्रह्मप्राप्तिरूपा परानिष्ठा-को संक्षेपसे समझो—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ५० ॥

(१) उस इस ज्ञाननिष्ठाका उसके प्रकारके सहित वर्णन किया जाता है—

[श्लोकार्थः—विशुद्ध बुद्धिसे सम्पन्न संन्यासी धैर्यपूर्वक शरीर और मन इन्द्रियोंके संघात का संयम कर, शब्दादि विषयोंका परित्याग कर, राग-द्वेषको निकालकर, एकान्त-सेवी, मिताहारी और वाणी, शरीर एवं मनके संयमवाला होकर सर्वदा ध्यानयोगमें तत्पर रह वैराग्यका आश्रय लेकर अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहको त्याग कर ममताशून्य और शान्त हो ब्रह्मसाक्षात्कारके योग्य हो जाता है ॥ ५१-५३ ॥]

(२) विशुद्ध—सब प्रकारके संशय और विपर्ययोंसे शून्य बुद्धिसे—वेदान्त-वाक्योंसे उत्पन्न हुई 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी बुद्धिकी वृत्तिसे युक्त—उससे सर्वदा सम्पन्न संन्यासी धृतिसे—धैर्यपूर्वक आत्माको—देह और इन्द्रियोंके संघातको नियममें रख—कुमार्गकी ओरसे उसकी प्रवृत्तिको रोककर उसे आत्माकी ओर लगाकर। यहाँ 'च' शब्दसे योग-शास्त्रमें बताये हुए अन्य साधनोंका समुच्चय किया जाता है। शब्दादिको अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन भोगके द्वारा बन्धनके हेतु बननेवाले विषयोंको तथा प्रकरणके सामर्थ्यसे जो ज्ञाननिष्ठाके लिये शरीरकी स्थितिमात्र प्रयोजनमें उपयुक्त नहीं हैं ऐसे अनिषिद्ध विषयोंको भी त्यागकर शरीरकी स्थितिमात्र प्रयोजनवाले उन विषयोंमें

त्यक्त्वा शरीरस्थितिमात्रार्थेषु च तेषु रागद्वेषौ व्युदस्य परित्यज्य। चकारादन्यदपि ज्ञानविक्षेपकं परित्यज्य, विविक्तसेवीत्यत्र स्यादित्यध्याहृतेन ब्रह्मभूयाय कल्पत इत्येन वाऽन्वयः ॥ ५१ ॥

(१) विविक्तं जनसंमर्दरहितं पवित्रं च यदरण्यगिरिगुहादि तत्सेवितुं शीलं यस्य स चित्तै-काग्र्यसंपत्त्यर्थं तद्विक्षेपकारिरहित इत्यर्थः। लघ्वाशी लघु परिमितं हितं मेध्यं चाशितुं शीलं यस्य स निद्रालस्यादिचित्तलयकारिरहित इत्यर्थः। यतानि संयतानि वाक्कायमानसानि येन स यमनिय-मासनादिसाधनसंपन्न इत्यर्थः। ध्यानयोगपरो नित्यं चित्तस्याऽऽत्माकारप्रत्ययावृत्तिर्ध्यानम्। आत्माकारप्रत्ययेन निर्वृत्तिकतापादनं योगः। नित्यं सदैव तत्परस्तयोरनुष्ठानपरो न तु मन्त्रजपतीर्थ-यात्रादिपरः कदाचिदित्यर्थः। वैराग्यं दृष्टादृष्टविषयेषु स्पृहाविरोधिचित्तपरिणामं समुपाश्रितः सम्यङ्-निश्चलत्वेन नित्यमाश्रितः ॥ ५२ ॥

(२) अहंकारं महाकुलप्रसूतोऽहं महतां शिष्योऽतिविरक्तोऽस्मि नास्ति द्वितीयो मत्सम इत्यभिमानं, बलमसदाग्रहं न तु शारीरं तस्य स्वाभाविकत्वेन त्यक्तुमशक्यत्वात्, दर्पं हर्षजन्यं मदं धर्मातिक्रमकारणं 'हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति' इति स्मृतेः, कामं विषयाभिलाषं वैराग्यं समुपाश्रित इत्यनेनोक्तस्यापि कामत्यागस्य पुनर्वचनं यत्नाधिक्यार्थम्, क्रोधं, द्वेषं, परिग्रहं शरीर-धारणार्थमस्पृहत्वेऽपि परोपनीतं बाह्योपकरणं विमुच्य त्यक्त्वा शिखायज्ञोपवीतादिकमपि, दण्डमेकं कमण्डलुं कौपीनाच्छादनं च शास्त्राभ्यनुज्ञातं स्वशरीरयात्रार्थमादाय परमहंसपरिव्राजको भूत्वा निर्ममो

राग-द्वेष छोड़कर, 'च' शब्दसे ज्ञानसाधनमें विक्षेप करनेवाले अन्य विषयोंको भी त्यागकर एकान्तसेवी हो—इस प्रकार विविक्तसेवी' इस पदके साथ 'स्यात्' इस क्रियापदका अध्याहारकर इसका 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इस अन्तिम पदसे अन्वय करना चाहिये ॥ ५१ ॥

(१) विविक्तसेवी-विविक्त—जनसमूहसे रहित और पवित्र जो वन और पर्वतोंकी गुहादि हैं उनका सेवन करनेका जिसका स्वभाव है वह, अर्थात् चित्तकी एकाग्रता प्राप्त करनेके लिये उसमें विक्षेप करनेवाले कारणोंसे रहित, लघ्वाशी—जिसका लघु अर्थात् परिमित हितकारी और पवित्र भोजन करनेका स्वभाव है वह, अर्थात् निद्रा-आलस्यादि चित्तका लय करनेवाले पदार्थोंसे रहित। यतवाक्कायमानसः—जिसने वाणी, शरीर और मनका संयम किया है वह, अर्थात् यम, नियम, आसन आदि साधनोंसे सम्पन्न, सर्वदा ध्यानयोगपरायण—चित्तके आत्माकार प्रत्ययकी आवृत्ति ध्यान है और आत्माकार प्रत्ययके द्वारा चित्तको वृत्तिशून्य कर देना योग है—इनमें ही जो सर्वदा तत्पर है अर्थात् इन्हींके अनुष्ठानमें लगा हुआ है, कभी भी मन्त्रजप या तीर्थयात्रादिमें नहीं लगता। वैराग्यको अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट विषयोंमें स्पृहाके विरोधी चित्तके परिणामको समुपाश्रित—सम्यक् यानी निश्चलतापूर्वक सर्वदा आश्रित किये हुए है ॥ ५२ ॥

(२) अहंकार—'मैं बड़े कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ, महापुरुषोंका शिष्य हूँ, अत्यन्त विरक्त हूँ तथा मेरे समान कोई दूसरा नहीं है' ऐसा अभिमान। बल—शारीरिक बल नहीं मिथ्या आग्रह, क्योंकि स्वाभाविक होनेके कारण शारीरिक बलका तो त्याग नहीं किया जा सकता। दर्प—हर्षसे उत्पन्न हुआ मद, जो धर्मके अतिक्रमणका कारण है, जैसा कि 'हर्षित पुरुषको दर्प होता है और दर्पवाला धर्मका उल्लङ्घन करता है' इस स्मृतिसे सिद्ध होता है। काम—विषयकी अभिलाषा, यद्यपि 'वैराग्यं समुपाश्रितः' इससे काम-त्यागका वर्णन हो चुका है तो भी प्रयत्नकी विशेषताके लिये उसे पुनः कहा है। क्रोध—द्वेष, परिग्रह—इच्छा न होनेपर भी दूसरेका लाया हुआ शरीर-धारणमें उपयोगी पदार्थ, इन सबको त्यागकर तथा शिखा-यज्ञोपवीतादिको भी छोड़कर अपनी शरीरयात्राके लिये

देहजीवनमात्रेऽपि ममकाररहितः । अत एवाहंकारममकाराभावादपगतहर्षविषादत्वाच्छान्तश्चित्तविच्छेदरहितो यतिर्ज्ञानसाधनपरिपाकक्रमेण ब्रह्मभूयाय ब्रह्मसाक्षात्काराय कल्पते समर्थो भवति ॥ ५३ ॥

(१) केन क्रमेण ब्रह्मभूयाय कल्पत इति तदाह—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

(२) ब्रह्मभूतोऽहं ब्रह्मास्मीतिदृढनिश्चयवाञ्श्रवणमननाभ्यासात्, प्रसन्नात्मा शुद्धचित्तः शमदमाद्यभ्यासात् । अत एव न शोचति नष्टं न काङ्क्षत्यप्राप्तम् । अत एव निग्रहानुग्रहयोरनारम्भात्समः सर्वेषु भूतेषु आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखं दुःखं च पश्यतीत्यर्थः । एवंभूतो ज्ञाननिष्ठो यतिर्मद्भक्तिं मयि भगवति शुद्धे परमात्मनि भक्तिमुपासनां मदाकारचित्तवृत्त्यावृत्तिरूपां परिपक्वनिदिध्यासनाख्यां श्रवणमननाभ्यासफलभूतां लभते परां श्रेष्ठामव्यवधानेन साक्षात्कारफलां चतुर्विधा भजन्ते मामित्यत्रोक्तस्य भक्तिचतुष्टयस्यान्त्यां ज्ञानलक्षणामिति वा ॥ ५४ ॥

(३) ततश्च—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

शास्त्रानुमोदित दण्ड, एक कमण्डलु और कौपीन एवं ओढ़नेका वस्त्र लेकर परमहंस परिव्राजक हो निर्मम अर्थात् देहके जीवनमात्रमें भी ममताशून्य हो, अतएव अहंकार और ममकारका अभाव हो जानेसे हर्ष-विषाद शून्य हो जानेके कारण शान्तचित्त और विक्षेपरहित हुआ यति ज्ञानसाधनोंके परिपाकके क्रमसे ब्रह्मभूयाय—ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये कल्पित—समर्थ होता है ॥ ५३ ॥

(१) किस क्रमसे ब्रह्मसाक्षात्कारमें समर्थ होता है, सो बताते हैं—

[श्लोकार्थः—ब्रह्मभूत संन्यासी विशुद्धचित्त हो जाता है, इसलिये वह न तो [नष्ट हुई वस्तुके लिये] शोक करता है और न [अप्राप्त वस्तु की] इच्छा करता है। वह समस्त प्राणियोंके प्रति समानरूपसे बर्ताव करता है और मेरी पराभक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ५४ ॥]

(२) ब्रह्मभूत अर्थात् श्रवण और मननके अभ्याससे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे दृढ़ निश्चयवाला प्रसन्नात्मा—शम-दमादिके अभ्याससे शुद्धचित्त हो जाता है। इसलिये वह नष्ट हुई वस्तुके लिये शोक नहीं करता और अप्राप्त वस्तुकी इच्छा नहीं करता। अतः निग्रह और अनुग्रह न करनेके कारण वह समस्त भूतोंके प्रति समान होता है, अर्थात् अपने ही समान सर्वत्र सुख-दुःखका अनुभव करता है। ऐसा ज्ञाननिष्ठ यति मेरी भक्ति अर्थात् मुझ शुद्ध परमात्मा भगवान्‌में भक्ति यानी उपासनाको, जो मेरे आकारकी चित्तवृत्तियोंकी आवृत्तिरूपा और श्रवण-मननके अभ्यासकी फलभूता परिपक्व निदिध्यासन संज्ञावाली है, प्राप्त करता है। वह भक्ति परा—श्रेष्ठा अर्थात् अव्यवधानसे आत्मसाक्षात्काररूप फलवाली है। अथवा 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्यादि श्लोकमें कही हुई जो चार प्रकारकी भक्तियाँ हैं उनमेंसे अन्तिम ज्ञानलक्षणा भक्ति ही परा भक्ति है ॥ ५४ ॥

(३) और फिर—

[श्लोकार्थ :—भक्तिके द्वारा वह मुझे, जितना और जो कुछ मैं हूँ, यथार्थरूपसे

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

(१) भक्त्या निदिध्यासनाख्यिकया ज्ञाननिष्ठया मामद्वितीयमात्मानमभिजानाति साक्षात्करोति । यावान्विभुर्नित्यश्च यश्च परिपूर्णसत्यज्ञानानन्दघनः सदा विध्वस्तसर्वोपाधिरखण्डैकरस एकस्तावन्तं चाभिजानाति । ततो मामेवं तत्त्वतो ज्ञात्वाऽहमस्म्यखण्डानन्दाद्वितीयं ब्रह्मेति साक्षात्कृत्य विशतेऽज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ सर्वोपाधिशून्यतया मद्रूप एव भवति । तदनन्तरं बलवत्प्रारब्धकर्मभोगेन देहपातानन्तरं नतु ज्ञानानन्तरमेव । कस्माद्ध्यत्ययेनैव तज्ज्ञाभे तदनन्तरमित्यस्य वैयर्थ्यापातात् । तस्मात् 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इतिश्रुत्यर्थ एवात्र दर्शितो भगवता । यद्यपि ज्ञानेनाज्ञानं निवर्तितमेव दीपेनेव तमस्तस्य तद्विरोधित्स्वभावत्वात्तथाऽपि तदुपादेयमहंकारदेहादि निरुपादानमेव यावत्प्रारब्धकर्मभोगमनुवर्तते दृष्टत्वादेव । नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । तार्किकैरपि हि समवायिकारणनाशाद् द्रव्यनाशमङ्गीकुर्वद्भिर्निरुपादानं द्रव्यं क्षणमात्रं तिष्ठतीत्यङ्गीकृतम् । नित्यपरमाणुसमवेतद्व्यणुकनाशे स्वसमवायिकारणनाशादेव द्रव्यनाशः । समवायिनिरूपितकारणनाशत्वमुभयोरनुगतमिति नाननुगमः । ये स्वसमवायिकारणनाशमेव सर्वत्र कार्यद्रव्यनाशक-

---

जान लेता है और फिर मुझे तत्त्वतः जानकर देहपातके अनन्तर मुझमें ही प्रवेश कर जाता है ॥ ५५ ॥]

(१) भक्तिसे अर्थात् निदिध्यासनरूपा ज्ञाननिष्ठाके द्वारा मुझ अद्वितीय आत्माको जान लेता है अर्थात् मेरा साक्षात्कार कर लेता है। मैं जितना अर्थात् विभु और नित्य एवं जो कुछ अर्थात् परिपूर्ण, सत्य, ज्ञान एवं आनन्दघन, सर्वदा सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित, अखण्डैकरस और एक हूँ वैसा ही जान लेता है। तब मुझे इस प्रकार जानकर अर्थात् 'मैं अखण्ड आनन्द अद्वितीय ब्रह्म हूँ' ऐसा साक्षात्कार करके मुझमें प्रवेश करता अर्थात् अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति हो जानेपर सम्पूर्ण उपाधियोंसे शून्य हो जानेके कारण मेरा ही स्वरूप हो जाता है। तदनन्तर—बलवान् प्रारब्ध कर्मके भोग द्वारा देहका पात होनेके अनन्तर, ज्ञानके अनन्तर ही नहीं, क्योंकि इस अर्थकी प्राप्ति तो 'त्त्वा' प्रत्ययसे ही हो सकती थी, अतः 'तदनन्तरम्' इस पदकी व्यर्थता प्राप्त होती है। इसलिये भगवान्‌ने इसके द्वारा यहाँ 'उसकी विदेह मुक्तिमें तभी तक विलम्ब है जबतक उसका देहपात नहीं होता, देहपात होनेपर तो तुरन्त ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है' इस श्रुतिका अर्थ ही दिखाया है। यद्यपि विरोधी स्वभाववाला होनेसे दीपकसे अन्धकारके समान ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त हो ही जाता है, तो भी जबतक प्रारब्ध कर्म रहता है तबतक अज्ञानरूप उपादानसे बने हुए अहंकार और देहादि तो बिना उपादानके भी बने ही रहते हैं, क्योंकि वे दिखायी देते हैं और जो वस्तु दिखायी देती है उसमें कोई अनुपपत्ति हो नहीं सकती। समवायिकारणके नाश से द्रव्यका नाश स्वीकार करनेवाले नैयायिकोंने भी यह अंगीकार किया है कि क्षणमात्र तो बिना उपादानके भी द्रव्य ठहर सकता है। नित्य परमाणुओंसे समवेत द्व्यणुकका नाश होनेमें तो [संयोगरूप] असमवायिकारणके नाशसे ही द्रव्यका नाश हो जाता है। किन्तु 'समवायिकारणके नाशसे द्रव्यका नाश होता है' तथा 'असमवायिकारणके नाशसे द्रव्यका नाश होता है' इन दोनों ही पक्षोंमें समवायनिरूपित (समवायसम्बन्धयुक्त) कारणका नाश होना तो अनुगत है ही। अतः इस लक्षणकी उन दोनों में अनुगति न हो—ऐसी बात नहीं है जो लोग सर्वत्र असमवायिकारणको ही द्रव्यका नाश करनेवाला मानना चाहते हैं उनके मतमें आश्र-

मिच्छन्ति तेषामाश्रयनाशस्थले क्षणद्वयमनुपादानं कार्यं तिष्ठति। एवं च तत्रैव प्रतिबन्धकसंनिपाते बहुकालावस्थितिः केन वार्यते। प्रारब्धकर्मणश्च प्रतिबन्धकत्वं श्रुतिसिद्धमन्तःकरणदेहाद्यवस्थित्यन्यथानुपपत्तिसिद्धं च। एवं शिष्यसेवकाद्यदृष्टमपि तत्प्रतिबन्धकं तदभावमपेक्ष्य च पूर्वसिद्ध एवाज्ञाननाशस्तत्कार्यमन्तःकरणादिकं नाशयतीति न पुनर्ज्ञानापेक्षा। तदुक्तं—

'तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः॥' इति।

(१) न जानामीत्यादिप्रत्ययस्तु तस्य निवृत्ताज्ञानस्याप्यज्ञाननाशजनितादनुपादानात्साक्षादात्माश्रयादेवाज्ञानसंस्कारात्तत्त्वज्ञानसंस्कारनिवर्त्यादन्तःकरणस्थित्यवधेरिति विवरणकृतः। अहं ब्रह्मास्मीतिचरमसाक्षात्कारानन्तरमहं ब्रह्म न भवामि न जानामीत्यादिप्रत्ययो नास्त्येव। यदि परं घटं न जानामीत्यादिप्रत्ययः स्यात्तदुपपादनाय चेयं संस्कारकल्पनेति नानुपपन्नम्। अज्ञानलेशपदेनाप्ययमेव संस्कारो विवक्षितः। नहि सावयवमज्ञानं, येन कियन्नश्यति कियत्तिष्ठतीति वाच्यमनिर्वचनीयत्वात्। एकदेशाभ्युपगमे तु तन्निवृत्त्यर्थं पुनश्चरमं ज्ञानमपेक्षितमेव। तच्च मृतिकाले दुर्घटमिति तत्त्वज्ञानसंस्कारनाश्यता तस्याभ्युपेया। ततश्च संस्कारपक्षान्न कोऽपि विशेष इति पूर्वोक्तैव कल्पना

नाशके स्थानमें दोक्षणतक विना उपादानके ही कार्य रहता है। इस प्रकार तो यदि अनेकों प्रतिबन्ध आ पड़ें तो उस कार्यद्रव्यकी अधिक समयतक रहनेवाली स्थितिको भी कौन रोक सकता है? प्रारब्धकर्मका प्रतिबन्धकत्व तो श्रुतिसे सिद्ध है तथा अन्तःकरण एवं देहादिकी स्थिति भी और किसी प्रकार युक्ति-सिद्ध नहीं हो सकती। इसी प्रकार शिष्य और सेवकादिका अदृष्ट भी कार्यके नाशका प्रतिबन्धक है। उस प्रतिबन्धकका अभाव होनेपर ही पूर्वसिद्ध अज्ञानका नाश-अज्ञानके कार्य अन्तःकरणादिका नाश कर देता है, इसके लिये उसे पुनः ज्ञानकी अपेक्षा नहीं होती। ऐसा ही कहा भी है—'जो ज्ञान प्राप्त करके शोकहीन हो गया है वह ज्ञान प्राप्त होनेके समय ही मुक्त हो जाता है और तीर्थ अथवा चाण्डालके घरमें ज्ञानके विस्मृत हो जानेपर भी शरीर त्यागकर कैवल्य प्राप्त कर लेता है।

(१) 'मैं नहीं जानता' इत्यादि ज्ञान तो जिसका अज्ञान निवृत्त हो गया है ऐसे उस ज्ञानी पुरुषको भी, अज्ञाननाशसे उपादानका अभाव हो जानेके कारण, साक्षात् आत्माका ही आश्रय करके रहनेवाले अज्ञानके संस्कारसे, जो कि ज्ञानके संस्कारसे निवृत्त होनेवाला है, अन्तःकरणकी स्थितिपर्यन्त हो सकता है?—ऐसा विवरणकारका मत है। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा चरम साक्षात्कार हो जानेके पश्चात् 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' अथवा 'मैं ब्रह्मको नहीं जानता' ऐसा ज्ञान हो ही नहीं सकता। हाँ, उसके पीछे यदि 'मैं घटको नहीं जानता' इत्यादि ज्ञान होता है तो उसके लिये यह संस्कारकी कल्पना है; इसलिये इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। 'अज्ञानलेश' पदसे भी यह संस्कार ही विवक्षित है। अज्ञान सावयव तो है नहीं, जिससे कि यह कहा जाय कि वह कुछ तो नष्ट हो जाता है और कुछ रह जाता है, क्योंकि वह तो अनिर्वचनीय है। यदि अज्ञानलेशको अज्ञानका एक देश माना जाय तो उसकी निवृत्तिके लिये पुनः ज्ञानकी अपेक्षा रहेगी ही। और उसका मरणकालमें होना अत्यन्त कठिन है, इसलिये उसका नाश तत्त्वज्ञानके संस्कारद्वारा माना गया है। अतः संस्कार पक्षकी अपेक्षा अज्ञानलेश माननेमें भी कोई विशेषता दिखायी नहीं देती। इसलिये पहले कही हुई कल्पना ही अच्छी है। ऐसी जीवन्मुक्तिकी अपेक्षासे

श्रेयसी। ईदृशजीवन्मुक्त्यपेक्षया च प्राग्भगवतोक्तम् 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इति; स्थितप्रज्ञलक्षणानि च व्याख्यातानि। तस्मात्साधूक्तं विशते तदनन्तरमिति॥ ५५॥

(१) ननु योऽनात्मज्ञोऽशुद्धान्तःकरणः सोऽन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तं सहजं कर्म न त्यजेत्। यस्तु शुद्धान्तःकरणः स नैष्कर्म्यसिद्धिं संन्यासेनाधिगच्छतीत्युक्तम्। संन्यासश्च ब्राह्मणेनैव कर्तव्यो न क्षत्रियवैश्याभ्यामिति प्रागुक्तं भगवता 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यत्र। तत्र शुद्धान्तःकरणेन क्षत्रियादिना किं कर्माण्यनुष्ठेयानि किं वा सर्वकर्मसंन्यासः कर्तव्यः। नाऽऽद्यः—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥'

इत्यादिना योगमन्तःकरणशुद्धिमारूढस्य कर्मानुष्ठाननिषेधात्। न द्वितीयः—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

इत्यादिना ब्राह्मणधर्मस्य सर्वकर्मसंन्यासस्य क्षत्रियादिकं प्रति निषेधात्। नच कर्मानुष्ठानकर्मत्यागयोरन्यतरमन्तरेण तृतीयः प्रकारोऽस्ति। तस्मादुभयोरपि प्रतिषिद्धत्वेन गत्यन्तराभावेन चावश्यकर्तव्ये प्रतिषेधातिक्रमे कर्मत्याग एव श्रेयान्बन्धहेतुपरित्यागेन मोक्षसाधनपौष्कल्यात्, ननु कर्माण्यनुष्ठेयानि चित्तविक्षेपहेतुत्वेन मोक्षसाधनज्ञानप्रतिबन्धकत्वादित्यभिप्रायमर्जुनस्याऽऽशङ्क्याऽऽह भगवान्—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥

ही भगवान्‌ने पहले कहा है 'तत्त्वदर्शी ज्ञानीलोग तुम्हें ज्ञानका उपदेश करेंगे' तथा स्थितप्रज्ञके लक्षणोंकी व्याख्या भी की है। अतः 'देहपातके अनन्तर मेरा स्वरूप ही हो जाता है' यह ठीक ही कहा है॥ ५५॥

(१) 'जो अनात्मज्ञ और अशुद्ध अन्तःकरणवाला हो उसे अन्तःकरणकी शुद्धि होने तक स्वाभाविक कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये और जो शुद्ध अन्तःकरणवाला है वह संन्यासके द्वारा ब्रह्मसाक्षात्काररूपा सिद्धि प्राप्त कर लेता है—ऐसा कहा गया। और संन्यास केवल ब्राह्मणको ही करना चाहिये, क्षत्रिय और वैश्यको नहीं—यह भगवान्‌ने पहले 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इस स्थानपर कहा है। ऐसी स्थितिमें शुद्ध अन्तःकरणवाले क्षत्रिय आदिको कर्मोंका ही अनुष्ठान करना चाहिये या सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास उनका कर्त्तव्य है? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' इत्यादि श्लोक द्वारा योग अर्थात् अन्तःकरण शुद्धिपर आरूढ हुए पुरुषके लिये कर्मानुष्ठानका निषेध किया गया है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः' इत्यादि श्लोक द्वारा ब्राह्मणके धर्म सर्वकर्मसंन्यासका क्षत्रियादिके लिये निषेध किया है। कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग इनमेंसे किसी एक को छोड़कर और कोई तीसरा प्रकार है नहीं। अतः दोनों हीके प्रतिषिद्ध होनेपर कोई और गति न रहनेसे जब शास्त्रप्रतिषेधका अतिक्रमण करना आवश्यक ही है तो कर्मत्याग करना ही अच्छा है, क्योंकि बन्धनके हेतु को त्याग देनेसे मोक्षसाधनकी अधिकता रहेगी; कर्मोंका अनुष्ठान करना तो उचित नहीं है, क्योंकि चित्तविक्षेपके कारण होनेसे वे मोक्षसाधनके प्रतिबन्धक हैं'—अर्जुनका ऐसा अभिप्राय जानकर श्री भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—मेरा आश्रय लेकर सर्वदा सब प्रकारके कर्मोंको करता रहनेवाला पुरुष मेरी कृपासे नित्य और अपरिणामी पद प्राप्त कर लेता है॥ ५६॥]

(१) यः पूर्वोक्तैः कर्मभिः शुद्धान्तःकरणः सोऽवश्यं भगवदेकशरणो भगवदेकशरणतापर्यन्तस्वादन्तःकरणशुद्धेः । एतादृशश्चेद्ब्राह्मणः संन्यासप्रतिबन्धरहितः सर्वकर्माणि संन्यस्य तु नाम । संसारविमोक्षस्तु तस्य भगवदेकशरणस्य भगवत्प्रसादादेव । एतादृशश्चेत्क्षत्रियादिः संन्यासानधिकारी स करोतु नाम कर्माणि किंतु मद्व्यपाश्रयः, अहं भगवान्वासुदेव एव व्यपाश्रयः शरणं यस्य स मदेकशरणो मय्यर्पितसर्वात्मभावः संन्यासानधिकारात्सर्वकर्माणि सर्वाणि कर्माणि वर्णाश्रमधर्मरूपाणि लौकिकानि प्रतिषिद्धानि वा सदा कुर्वाणो मत्प्रसादान्ममेश्वरस्यानुग्रहादवाप्नोति हिरण्यगर्भवन्मद्विज्ञानोत्पत्त्या शाश्वतं नित्यं पदं वैष्णवमव्ययमपरिणामि । एतादृशो भगवदेकशरणः करोत्येव न प्रतिषिद्धानि कर्माणि, यदि कुर्यात्तथाऽपि मत्प्रसादात्प्रत्यवायानुत्पत्त्या मद्विज्ञानेन मोक्षभाग्भवतीति भगवदेकशरणतास्तुत्यर्थं सर्वकर्माणि सर्वदा कुर्वाणोऽपीत्यनूद्यते ॥ ५६ ॥

(२) यस्मान्मदेकशरणतामात्रं मोक्षसाधनं न कर्मानुष्ठानं कर्मसंन्यासो वा तस्मात्त्वम्—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

(३) चेतसा विवेकबुद्ध्या सर्वकर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि मयीश्वरे संन्यस्य यत्करोषि यदश्नासि-

(१) जो पूर्वोक्त कर्मोंसे शुद्धचित्त हो गया है वह अवश्य एकमात्र भगवान्‌की ही शरणवाला हो गया है, क्योंकि एकमात्र भगवान्‌की ही शरणमें हो जाना—यही अन्तःकरणशुद्धिका पर्यवसान है । ऐसा पुरुष यदि ब्राह्मण हो तो संन्यासके प्रतिबन्धसे रहित होनेके कारण वह भले ही समस्त कर्मोंका संन्यास कर दे । एकमात्र भगवान्‌की ही शरणमें गये हुए उस महात्माका संसारसे मोक्ष तो भगवान्‌की कृपासे ही हो जायगा । और यदि ऐसा पुरुष संन्यासका अनधिकारी क्षत्रिय इत्यादि हो तो वह भले ही कर्म करता रहे किन्तु मद्व्यपाश्रय होकर—मैं भगवान् वासुदेव ही जिसका व्यपाश्रय—शरण हूँ ऐसा मदेकशरण—अपने सब भावोंको मेरे में ही समर्पण करनेवाला होकर करे, क्योंकि संन्यासका उसे अधिकार नहीं होता । इस प्रकार सर्वकर्म—वर्णाश्रमधर्मरूप सारे लौकिक या प्रतिषिद्ध कर्मोंको भी सदा करता हुआ वह मुझ ईश्वरकी कृपासे हिरण्यगर्भके समान विज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेसे शाश्वत—नित्य और अव्यय—अपरिणामी वैष्णव पद प्राप्त कर लेता है । ऐसा एकमात्र भगवान्‌की ही शरणमें रहनेवाला पुरुष तो प्रतिषिद्ध कर्म करता ही नहीं है और यदि करे तो भी मेरी कृपासे प्रत्यवाय उत्पन्न न होनेके कारण वह मेरे विज्ञानसे ही मोक्षका भागी हो जाता है—इस प्रकार भगवदेकशरणताकी स्तुतिके लिये 'सर्वदा समस्त कर्मोंको करते रहनेपर भी' ऐसा अनुवाद किया है ॥ ५६ ॥

(२) क्योंकि मोक्षका साधन तो एकमात्र मेरी शरणमें आना ही है, कर्मानुष्ठान या कर्मसंन्यास नहीं, इसलिये क्षत्रिय जो तुम हो—

[श्लोकार्थ :—विवेकबुद्धिके द्वारा सारे कर्मोंका मेरेमें ही संन्यास कर, मुझही को अपना प्रियतम मान, समत्वबुद्धिरूप योगका आश्रयकर निरन्तर मेरेहीमें चित्त लगानेवाले हो जाओ ॥ ५७ ॥]

(३) चित्तसे—विवेकबुद्धिसे दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजनवाले समस्त कर्मोंको मुझ ईश्वरमें संन्यास करके—'यत्करोषि यदश्नासि' इत्यादि श्लोकद्वारा कहे हुए न्यायसे समर्पण

युक्तन्यायेन समर्प्य मत्परोऽहं भगवान्वासुदेव एव परः प्रियतमो यस्य स मत्परः सन्बुद्धियोगं पूर्वोक्तसमत्वबुद्धिलक्षणं योगं बन्धहेतोरपि कर्मणो मोक्षहेतुत्वसंपादकमुपाश्रित्यानन्यशरणतया स्वीकृत्य मच्चितो मयि भगवति वासुदेव एव चित्तं यस्य न राजनि कामिन्यादौ वा स मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

(१) ततः किं स्यादिति तदाह—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

(२) मच्चित्तस्त्वं सर्वदुर्गाणि दुस्तराणि कामक्रोधादीनि संसारदुःखसाधनानि मत्प्रसादास्त्वव्यापारमन्तरेणैव तरिष्यसि अनायासेनैवातिक्रमिष्यसि । अथ चेद्यदि तु त्वं मदुक्ते विश्वासमकृत्वाऽहंकारात्पण्डितोऽहमिति गर्वान्न श्रोष्यसि मद्वचनार्थं न करिष्यसि ततो विनङ्क्ष्यसि पुरुषार्थाद्भ्रष्टो भविष्यसि कामकारेण संन्यासाद्याचरन् ॥ ५८ ॥

(३) त्वं च—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

(४) अहंकारं धार्मिकोऽहं क्रूरं कर्म न करिष्यामीति मिथ्याभिमानमाश्रित्य न योत्स्ये युद्धं न करिष्यामीति मन्यसे यन्मिथ्या निष्फल एष व्यवसायो निश्चयस्ते तव यस्मात्प्रकृतिः क्षत्रजात्यारम्भको रजोगुणस्वभावस्त्वां नियोक्ष्यति प्रेरयिष्यति युद्धे ॥ ५९ ॥

करके मत्पर—मैं वासुदेव ही जिसका पर—प्रियतम हूँ ऐसे मत्पर होकर बुद्धियोगका—पहले कहे हुए समत्वबुद्धिरूप योगका, जो बन्धके हेतुभूत कर्मको भी मोक्षका कारण बना देनेवाला है, आश्रित कर—अनन्यशरणतया स्वीकार कर निरन्तर मच्चित्त—मुझ भगवान् वासुदेवमें ही जिसका चित्त है, राजा अथवा स्त्री आदिमें नहीं ऐसे मेरेमें ही चित्त लगानेवाले हो जाओ ॥ ५७ ॥

(१) उससे क्या होगा ? सो बताते हैं—

[श्लोकार्थ :—मेरेमें चित्त लगानेवाले होकर तुम मेरी कृपासे सारे दुःख-साधनोंसे पार हो जाओगे; और यदि अहंकारवश तुम मेरी बात नहीं सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे॥५८॥]

(२) मेरेमें चित्त लगानेवाले होकर तुम समस्त दुर्गोंको—दुस्तरोंको अर्थात् कामक्रोधादि संसारदुःखके साधनोंको मेरी कृपासे अपने व्यापारके विना ही तर जाओगे—विना प्रयास पार कर लोगे । और यदि मेरे कथनमें अविश्वास करके तुम अहंकारसे—'मैं पण्डित हूँ' ऐसे गर्वसे नहीं सुनोगे—मेरे वचनोंद्वारा कही हुई बात नहीं करोगे तो विनष्ट हो जाओगे अर्थात् मनमानेरूपसे संन्यासादि करनेसे पुरुषार्थसे पतित हो जाओगे ॥

(३) और तुम

[श्लोकार्थ :—यदि अहंकारका आश्रय लेकर ऐसा मानते हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तुम्हारा ऐसा निश्चय व्यर्थ ही है, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव तुम्हें युद्धमें जोड़ ही देगा॥]

(४) यदि अहंकारका—'मैं धार्मिक हूँ, इसलिये क्रूर कर्म नहीं करूँगा' ऐसे मिथ्या अभिमानका आश्रय लेकर ऐसा मानते हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो तुम्हारा यह निश्चय मिथ्या—निष्फल ही है, क्योंकि प्रकृति—क्षत्रिय जातिका आरम्भक रजोगुणरूप स्वभाव तुम्हें युद्धमें जोड़ देगा—प्रेरित कर देगा ॥ ५९ ॥

(१) प्रकृतिं विवृणोति—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

(२) स्वभावजेन पूर्वोक्तक्षत्रियस्वभावजेन शौर्यादिना स्वेनानागन्तुकेन कर्मणा निबद्धो वशीकृतस्त्वं हे कौन्तेय यद्बन्धुवधादिनिमित्तं युद्धं मोहात्स्वतन्त्रोऽहं ययेच्छामि तथा संपादयिष्यामीति भ्रमात्कर्तुं नेच्छसि तदवशोऽपि अनिच्छन्नपि स्वाभाविककर्मपरतन्त्रः परमेश्वरपरतन्त्रश्च करिष्यस्येव ॥

(३) स्वभावाधीनतामुक्त्वेश्वराधीनतां विवृणोति—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

(४) ईश्वर ईशनशीलो नारायणः सर्वान्तर्यामी 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति ।'

'यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥'

इत्यादिश्रुतिसिद्धः सर्वभूतानां सर्वेषां प्राणिनां हृद्देशेऽन्तःकरणे तिष्ठति सर्वव्यापकोऽपि तत्राभिव्यज्यते सप्तद्वीपाधिपतिरिव राम उत्तरकोसलायां, हेऽर्जुन हे शुक्ल शुद्धान्तःकरण, एतादृशमीश्वरं त्वं ज्ञातुं योग्योऽसीति द्योत्यते । किं कुर्वंस्तिष्ठति भ्रामयन्नितस्ततश्चालयन्सर्वभूतानि

(१) स्वभावका स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे कुन्तिनन्दन ! अज्ञानके कारण जिस कर्मको तुम करना नहीं चाहते उसे, अपने स्वाभाविक कर्मसे बँधे होनेके कारण, तुम इच्छा न होनेपर भी करोगे ॥६०॥]

(२) हे कौन्तेय ! तुम स्वभावज—पूर्वोक्त क्षत्रियस्वभावजनित शौर्यादि और अपने आगन्तुक कर्मोंसे निबद्ध—वशीकृत हो । इसलिये मोहवश—'मैं स्वतन्त्र हूँ, जैसा चाहूँगा वैसा करूँगा' ऐसे भ्रमसे जो बन्धुवधादिका कारण है उस युद्धको तुम करना नहीं चाहते उसे तुम अवश होकर—इच्छा न होनेपर भी स्वाभाविक कर्मके अधीन और परमेश्वरके अधीन होकर करोगे ही ॥ ६० ॥

(३) स्वभावकी अधीनता कहकर अब परमेश्वराधीनताका स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे अर्जुन ! यन्त्रारूढके समान समस्त प्राणियोंको अपनी मायासे भ्रमाता हुआ ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदय देशमें स्थित है ॥ ६१ ॥]

(४) ईश्वर—ईशनशील नारायण, जो 'जो पृथ्वीमें स्थित हुआ पृथ्वीके भीतर है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है और जो पृथ्वीको, उसके भीतर रहकर, नियमित करता है' तथा 'जो कुछ भी जगत् दिखायी या सुनायी देता है उस सबको बाहर-भीतरसे व्याप्त करके नारायण स्थित है' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध सर्वान्तर्यामी है, सर्वभूत—समस्त प्राणियोंके हृद्देश—अन्तःकरणमें स्थित है—सातों द्वीपोंके अधिपति राम जैसे उत्तर-कोसल देशमें रहते हैं उसी प्रकार सर्वव्यापक होनेपर भी वह उस स्थानमें अभिव्यक्त होता है । 'हे अर्जुन !—हे शुक्ल अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण वाले !' इससे यह सूचित किया जाता है कि तुम ऐसे ईश्वरको जानने योग्य हो । क्या करता हुआ वहाँ स्थित रहता है ?—माया अर्थात् छद्मसे यन्त्रारूढके समान परतन्त्र समस्त भूतोंको भ्रमाता—इधर-उधर चलाता हुआ । 'जिस प्रकार मायावी सूत्रसञ्चारादि यन्त्रपर चढ़े हुए अत्यन्त

परतन्त्राणि मायया छद्मना यन्त्रारूढानीव सूत्रसंचारादियन्त्रमारूढानि दारुनिर्मितपुरुषादीन्यत्यन्तपरतन्त्राणि यथा मायावी भ्रामयति तद्वदित्यर्थशेषः ॥ ६१ ॥

(१) ईश्वरः सर्वभूतानि परतन्त्राणि प्रेरयति चेत्प्राप्तं विधिप्रतिषेधशास्त्रस्य सर्वस्य पुरुषकारस्य चाऽऽनर्थक्यमित्यत्राऽऽह—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

(२) तमेवेश्वरं शरणमाश्रयं संसारसमुद्रोत्तरणार्थं गच्छाऽऽश्रय सर्वभावेन सर्वात्मना मनसा वाचा कर्मणा च हे भारत तत्प्रसादात्तस्यैवेश्वरस्यानुग्रहात्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तात्परां शान्तिं सकार्याविद्यानिवृत्तिं स्थानमद्वितीयस्वप्रकाशपरमानन्दरूपेणावस्थानं शाश्वतं नित्यं प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥

(३) सर्वगीतार्थमुपसंहरन्नाह—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

(४) इति अनेन प्रकारेण ते तुभ्यमत्यन्तप्रियाय ज्ञानमात्ममात्रविषयं मोक्षसाधनं गुह्याद्गुह्यतरं परमरहस्यादपि संन्यासान्तात्कर्मयोगाद्रहस्यतरं तत्फलभूतत्वादाख्यातं समन्तात्कथितं मया सर्वज्ञेन परमाप्तेन । अतो विमृश्य पर्यालोच्यैतन्मयोपदिष्टं गीताशास्त्रमशेषेण सामस्त्येन सर्वैकवाक्यतया ज्ञात्वा स्वाधिकारानुरूप्येण ययेच्छसि तथा कुरु न त्वेतदविमृश्यैव कामकारेण यत्किंचिदित्यर्थः ।

परतन्त्र काठके बने हुए पुरुषादिको भ्रमाता है उसी प्रकार भ्रमाता हुआ'—इस अर्थका अध्याहार करना चाहिये ॥ ६१ ॥

(१) यदि समस्त परतन्त्र प्राणियोंको ईश्वर ही प्रेरित करता है तब तो विधिप्रतिषेधरूप शास्त्र और सारे पुरुषार्थकी भी व्यर्थता प्राप्त होती है । अतः इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे भारत ! तुम सम्पूर्ण भावसे उस शरणरूप ईश्वरका ही आश्रय लो । उसकी कृपासे तुम परम शान्ति और नित्य पद प्राप्त करोगे ॥ ६२ ॥]

(२) हे भारत ! उस शरण—आश्रयरूप ईश्वरको ही संसारसमुद्रसे पार होनेके लिये तुम प्राप्त होओ अर्थात् मन वचन और कर्मसे सब प्रकार सर्वभावसे आश्रय करो । तत्प्रसाद—उस ईश्वरके ही तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिमें समाप्त होनेवाले अनुग्रहसे तुम परा शान्ति—कार्यसहित अविद्याकी निवृत्ति और शाश्वत—नित्य स्थान—अद्वितीय स्वप्रकाश परमानन्दरूपसे स्थितिको प्राप्त होगे ॥ ६२ ॥

(३) सम्पूर्ण गीताके अर्थका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

[श्लोकार्थः—इस प्रकार मैंने तुम्हें गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञानका उपदेश किया है । इसपर पूरी तरहसे विचार करके तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो ॥ ६३ ॥]

(४) इस प्रकार सर्वज्ञ और परम आप्त मैंने अत्यन्त प्रिय तुमको गुह्यसे गुह्यतर—संन्यासमें समाप्त होनेवाले परम रहस्य कर्मयोगकी अपेक्षा, उसका फलभूत होनेके कारण, अत्यन्त रहस्यतर ज्ञान—केवल आत्माको विषय करनेवाला मोक्षका साधन कहा है । अतः मेरे उपदेश किये हुए इस गीताशास्त्रका अशेषतया—पूरी तरह विमर्श—पर्यालोचन कर—इसे सबकी एकवाक्यतापूर्वक समझकर अपने अधिकारके अनुरूप तुम जैसा चाहो वैसा करो । तात्पर्य यह है कि इसे बिना ही विचारे मन-माने ढंगसे चाहे-जो मत करो ।

(१) अत्र चैतावदुक्तम्—अशुद्धान्तःकरणस्य मुमुक्षोर्मोक्षसाधनज्ञानोत्पत्तियोग्यताप्रतिबन्धक-पापक्षयार्थं फलाभिसंधिपरित्यागेन भगवदर्पणबुद्ध्या वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानं, ततः शुद्धान्तःकरणस्य विविदिषोत्पन्नौ गुरूपसृत्य ज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यविचाराय ब्राह्मणस्य सर्वकर्मसंन्यासः, ततो भगवदेकशरणतया विविक्तदेशसेवादिज्ञानसाधनाभ्यासाच्छ्रवणमननिदिध्यासनैरासन्नात्साक्षात्कारोत्पत्त्या मोक्ष इति । क्षत्रियादेस्तु संन्यासानधिकारिणो मुमुक्षोरन्तःकरणशुद्ध्यनन्तरमपि भगवदाज्ञापालनाय लोकसंग्रहाय च यथाकथंचित्कर्माणि कुर्वतोऽपि भगवदेकशरणतया पूर्वजन्मकृतसंन्यासादिपरिपाकाद्वा हिरण्यगर्भन्यायेन तदनपेक्षणाद्वा भगवदनुग्रहमात्रेणैव तत्त्वज्ञानोत्पत्त्याऽग्रिमजन्मनि ब्राह्मणजन्म-लाभेन संन्यासादिपूर्वकज्ञानोत्पत्त्या वा मोक्ष इति। एवं विचारिते च नास्ति मोहावकाश इति भावः॥

(२) अतिगम्भीरस्य गीताशास्त्रस्याशेषतः पर्यालोचनक्लेशनिवृत्तये कृपया स्वयमेव तस्य सारं संक्षिप्य कथयति—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

(३) पूर्वं हि गुह्यात्कर्मयोगाद्गुह्यतरं ज्ञानमाख्यातमधुना तु कर्मयोगात्तत्फलभूतज्ञानाच्च सर्वस्मादतिशयेन गुह्यं रहस्यं गुह्यतमं परमं सर्वतः प्रकृष्टं मे मम वचो वाक्यं भूयस्तत्र तत्रोक्तमपि

(१) यहाँ इतनी बात कही गयी है—अशुद्ध अन्तःकरणवाले मुमुक्षुको मोक्षके साधन ज्ञानकी उत्पत्तिकी योग्यताके प्रतिबन्धक पापका क्षय करनेके लिये फलाशाके त्यागपूर्वक भगवदर्पण बुद्धिसे वर्णाश्रमधर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। फिर अन्तःकरण शुद्ध होनेसे जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर ज्ञानके साधन वेदान्तवाक्योंके विचारके लिये गुरुके समीप जाकर ब्राह्मणको समस्त कर्मोंका संन्यास करना चाहिये। तब एकमात्र भगवान्‌की शरणमें रहकर एकान्तसेवनादि ज्ञानके साधनोंका अभ्यास करनेसे श्रवण मनन और निदिध्यासनके द्वारा आत्मसाक्षात्कारकी उत्पत्ति होनेसे मोक्ष होता है। किन्तु जो संन्यासके अनधिकारी मोक्षकामी क्षत्रिय आदि हैं उन्हें अन्तःकरणकी शुद्धिके पश्चात् भी भगवान्‌की आज्ञाके पालन और लोकसंग्रहके लिये किसी-न-किसी प्रकार कर्म करते हुए ही एकमात्र भगवान्‌की शरण लेनेसे, अथवा पूर्वजन्ममें किये हुए संन्यासादिके परिपाकसे, अथवा हिरण्यगर्भके समान संन्यासकी अपेक्षा न रखते हुए ही भगवान्‌के अनुग्रहमात्रसे यहीं पर तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेसे या आगामी जन्ममें ब्राह्मणयोनि प्राप्त होकर संन्यासादिपूर्वक ज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे मोक्ष प्राप्त होता है। ऐसा विचार करनेपर मोहके लिये अवकाश नहीं रहता—ऐसा इसका भाव है ॥ ६३ ॥

(२) अत्यन्त गम्भीर गीताशास्त्रका पूरी तरह विचार किये बिना क्लेशकी निवृत्ति नहीं हो सकती; अतः इस प्रकारकी क्लेशनिवृत्तिके लिये भगवान् कृपा करके स्वयं ही उसके सारको संक्षिप्त करके कहते हैं—

[श्लोकार्थः—अब तुम फिर मेरा सबसे गुह्यतम श्रेष्ठ वचन सुनो। तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिये मैं तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ ॥ ६४ ॥]

(३) पहले तो गुह्य कर्मयोगकी अपेक्षा गुह्यतर ज्ञानका वर्णन किया है। अब तो कर्मयोग और उसके फल ज्ञान इन सबसे भी अत्यन्त गुह्य रहस्य, जो गुह्यतम और परम—सबसे श्रेष्ठ है, ऐसा मेरा वचन—वाक्य भूयः—यहाँ कह चुकनेपर भी तुमपर कृपा करनेके लिये पुनः कहा जाता हुआ सुनो। यह बात मैं लाभ पूजा या प्रसिद्धि

त्वदनुग्रहार्थं पुनर्वक्ष्यमाणं शृणु। न लाभपूजाख्यात्यार्थं त्वां ब्रवीमि किं तु इष्टः प्रियोऽसि मे मम दृढमतिशयेनेति यतस्ततस्तेनैवेष्टत्वेन वक्ष्यामि कथयिष्यामि यद्यपृष्टोऽपि सन्नहं ते तव हितं परमं श्रेयः ॥

(१) तदेवाऽऽह—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

(२) मयि भगवति वासुदेवे मनो यस्य स मन्मना भव सदा मां चिन्तय। द्वेषेण कंसशिशुपालादिरपि तथाऽऽह—मद्भक्तः प्रेम्णा मय्यनुरक्तः, मद्विषयेणानुरागेण सदा मद्विषयं मनः कुर्विति विधीयते। त्वद्विषयोऽनुराग एव केन स्यादित्यत आह—मद्याजी मां यष्टुं पूजयितुं शीलं यस्य स सदा मत्पूजापरो भव। पूजोपकरणाभावे तु मां नमस्कुरु कायेन वाचा मनसा च प्रह्वीभवने-नाऽऽराधय। इदं चार्चनं वन्दनं चान्येषामपि भागवतधर्माणामुपलक्षणम्। तथा चोक्तं श्रीभागवते—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा। क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥' इति।

एतच्च भक्तिरसायने व्याख्यातं विस्तरेण। एवं सदा भागवतधर्मानुष्ठानेन मय्यनुरागोत्पत्त्या मन्मनाः सन्मां भगवन्तं वासुदेवमेवैष्यसि प्राप्स्यसि वेदान्तवाक्यजनितेन मद्बोधेन। त्वं चात्र संशयं मा कार्षीः, सत्यं यथार्थं ते तुभ्यं प्रतिजाने सत्यामेव प्रतिज्ञां करोम्यस्मिन्नर्थे। यतः प्रियोऽसि

प्राप्त करनेके लिये तुमसे नहीं कह रहा हूँ, बल्कि क्योंकि तुम मेरे दृढ—अतिशय इष्ट—प्रिय हो अतः उस इष्टताके कारण ही, तुम्हारे न पूछनेपर भी, मैं यह तुम्हारे हित अर्थात् परम कल्याणकी बात कहूँगा ॥ ६४ ॥

(१) उसी बातको कहते हैं—

[श्लोकार्थः—तुम मेरेमें ही मन रखनेवाले, मेरे ही भक्त और मेरा ही पूजन करने-वाले हो जाओ तथा मुझे ही नमस्कार करो। इससे तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे—यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्यारे हो ॥ ६५ ॥]

(२) मुझ भगवान् वासुदेवमें ही जिसका मन है ऐसे मन्मना हो जाओ—अर्थात् सर्वदा मेरा चिन्तन करो। द्वेषसे तो कंस और शिशुपालादि भी ऐसे थे, इसलिये कहते हैं—मद्भक्तः—प्रेमसे मेरेमें अनुरक्त अर्थात् 'मुझको विषय करनेवाले अनुरागके द्वारा मनको सर्वदा मुझे ही विषय करनेवाला बनाओ'—ऐसा इसके लिये विधान है। आपको विषय करनेवाला अनुराग ही कैसे होगा? इसपर कहते हैं—मद्याजी—जिसका स्वभाव मेरा यजन-पूजन करनेका है ऐसे सर्वदा मेरी पूजामें तत्पर रहनेवाले बनो। यदि पूजाकी सामग्री न हो तो मुझे नमस्कार करो—शरीर वाणी और मनसे विनम्रभावपूर्वक मेरी आराधना करो। ये अर्चन-वन्दनादि अन्य भागवत धर्मोंके भी उपलक्षण हैं। श्रीमद्भा-गवतमें भी ऐसा कहा है—'भगवान् विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—ये नौ प्रकारकी भक्ति यदि किसी पुरुष द्वारा भगवान् विष्णुको अर्पण की जाय तो इसे ही मैं श्रेष्ठ अध्ययन मानता हूँ।' इसकी भक्ति-रसायनमें विस्तारसे व्याख्या की है। इस प्रकार सर्वदा भागवतधर्मोंके अनुष्ठानद्वारा मुझमें अनुराग हो जानेसे मुझमें ही मन रखनेवाले होकर तुम वेदान्तवाक्यजनित मेरे बोधके द्वारा मुझ भगवान् वासुदेवको ही प्राप्त हो जाओगे। इस विषयमें तुम संशय मत करो। मैं तुम्हारे प्रति सत्य—यथार्थ प्रतिज्ञा करता हूँ अर्थात् इस विषयमें सच्ची ही प्रतिज्ञा

मे, प्रियस्य प्रतारणा नोचितैवेति भावः। सत्यन्ते प्रारब्धकर्मणोऽन्ते सति मामेष्यसीति वा। अनुवादापेक्षया विश्वासदार्ढ्यप्रयोजनं प्रथमं व्याख्यानमेव श्रेयः। अनेन यत्पूर्वमुक्तं—

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'

इति तद्व्याख्यातं मच्छब्देनेश्वरत्वप्रकटनात्॥ ६५॥

(१) अधुना तु 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति,' 'तमेव सर्वभावेन शरणं गच्छ' इति यदुक्तं तद्विवृणोति—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

(२) केचिद्वर्णधर्माः केचिदाश्रमधर्माः केचित्सामान्यधर्मा इत्येवं सर्वानपि धर्मान्परित्यज्य विद्यमानानविद्यमानान्वा शरणत्वेनानाहृत्य मामीश्वरमेकमद्वितीयं सर्वधर्माणामधिष्ठातारं फलदातारं च शरणं व्रज, धर्माः सन्तु न सन्तु वा किं तैरन्यसापेक्षैर्भगवदनुग्रहादेव त्वन्यनिरपेक्षादहं कृतार्थो भविष्यामीति निश्चयेन परमानन्दघनमूर्तिमनन्तं श्रीवासुदेवमेव भगवन्तमनुक्षणभावनया भजस्व, इदमेव परमं तत्त्वं नातोऽधिकमस्तीति विचारपूर्वकेण प्रेमप्रकर्षेण सर्वानात्मचिन्ताशून्यया मनोवृत्त्या तैलधारावदविच्छिन्नया सततं चिन्तयेत्यर्थः।

(३) अत्र मामेकं शरणं व्रजेत्यनेनैव सर्वधर्मशरणतापरित्यागे लब्धे सर्वधर्मान्परित्यज्येति निषेधानुवादस्तत्कार्यकारितालाभाय यज्ञायज्ञीये साम्नि ऐरं कृत्वोद्गेयमित्यत्र न गिरा गिरेति

करता हूँ; क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो। भाव यह है कि अपने प्रियको धोखा देना तो उचित है ही नहीं। अथवा 'सति अन्ते'—प्रारब्ध कर्मोंका अन्त होनेपर तुम मुझे ही प्राप्त होगे—ऐसा अर्थ है। किन्तु इस अनुवादकी अपेक्षा विश्वासकी दृढताके लिये पहले किया हुआ व्याख्यान ही अच्छा है। इससे पहले जो 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इस श्लोक द्वारा कहा था उसकी व्याख्या की गयी है, क्योंकि यहाँ 'अस्मद्' शब्दसे भगवान्‌ने अपनी ईश्वरता प्रकट की है॥ ६५॥

(१) 'ईश्वर समस्त जीवोंके हृदय देशमें स्थित है, तुम सर्वभावसे उसीकी शरणमें जाओ' ऐसा जो पहले कहा है अब उसीका स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—सब धर्मोंको त्यागकर एक मेरी ही शरणमें आओ। मैं तुम्हें समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा, शोक न करो॥ ६६॥]

(२) कोई तो वर्णधर्म हैं, कोई आश्रमधर्म हैं और कोई सामान्य धर्म हैं। इस प्रकार विद्यमान अथवा अविद्यमान सभी धर्मोंको त्यागकर—शरण लेनेके कारण उनका अनादर करके सम्पूर्ण धर्मोंके अधिष्ठाता और फलदाता एक अद्वितीय ईश्वर मेरी शरणमें जाओ। जिन्हें दूसरोंकी अपेक्षा है वे धर्म हों अथवा न हों, उनसे क्या लेना है? 'अन्य साधनकी अपेक्षाके बिना केवल भगवानकी कृपासे ही मैं कृतार्थ हो जाऊँगा' ऐसे निश्चयसे परमानन्दमूर्ति अनन्त श्रीवासुदेव भगवान्‌का ही भावनापूर्वक प्रतिक्षण भजन करो। 'यही परमतत्त्व है, इससे बढ़कर और कुछ नहीं है' इस प्रकारके विचारपूर्वक प्रेमके प्रकर्षसे सब प्रकारकी अनात्म चिन्ताशून्य और तैलधाराके समान अविच्छिन्न मनोवृत्तिसे निरन्तर चिन्तन करो—ऐसा इसका तात्पर्य है।

(३) यहाँ 'एक मेरी ही शरणमें जाओ' इतनेहीसे समस्त धर्मोंकी शरणताका त्याग प्राप्त हो जानेपर भी 'समस्त धर्मोंको त्यागकर' ऐसा अनुवाद 'यज्ञा यज्ञीये साम्नि

ब्रूयादितिवत्। तथा च ममैव सर्वधर्मैकार्यकारित्वान्मदेकशरणस्य नास्ति धर्मापेक्षेत्यर्थः। एतेनेदमपास्तं सर्वधर्मान्परित्यज्येत्युक्ते नाधर्माणां परित्यागो लभ्यतेऽतो धर्मपदं कर्ममात्रपरमिति। नह्यत्र कर्मत्यागो विधीयतेऽपि तु विद्यमानेऽपि कर्मणि तत्रानादरेण भगवदेकशरणतामात्रं ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थभिक्षूणां साधारण्येन विधीयते। तत्र सर्वधर्मान्परित्यज्येति तेषां स्वधर्मादरसंभवेन तन्निवारणार्थम्। अधर्मे चानर्थफले कस्याप्यादराभावात्तत्परित्यागवचनमनर्थकमेव, शास्त्रान्तरप्राप्तत्वाच्च। तस्माद्वर्णाश्रमधर्माणामभ्युदयहेतुत्वप्रसिद्धेर्मोक्षहेतुत्वमपि स्यादितिशङ्कानिराकरणार्थमेवैतद्वच इति न्याय्यम्। नच सर्वधर्माधर्मपरित्यागोऽत्र विधीयते संन्यासशास्त्रेण प्रतिषेधशास्त्रेण च लब्धत्वादेव। न चेदमपि संन्यासशास्त्रं भगवदेकशरणताया विधिस्तितत्वात्। तस्मात्सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यनुवाद एव।

(१) सर्वेषां तु शास्त्राणां परमं रहस्यमीश्वरशरणतैवेति तत्रैव शास्त्रपरिसमाप्तिर्भगवता कृता। तामन्तरेण संन्यासस्यापि स्वफलापर्यवसायित्वात्। अर्जुनं च क्षत्रियं संन्यासानधिकारिणं प्रति संन्यासोपदेशायोगात्। अर्जुनव्याजेनान्यस्योपदेशे तु वचयामि ते हितं त्वा मोक्षयिष्यामि सर्वपापेभ्यस्त्वं मा शुच इति चोपक्रमोपसंहारौ न स्याताम्। तस्मात्संन्यासधर्मेष्वप्यनादरेण भगवदेकशरणतामात्रे तात्पर्यं भगवतः। यस्मात्त्वं मदेकशरणः सर्वधर्मानादरेणातोऽहं सर्वधर्मैकार्यकारी त्वा त्वां सर्वपापेभ्यो

ऐरं कृत्वोद्गेयमित्यत्र न गिरा गिरेति ब्रूयात्' इस उक्तिके समान यह सूचित करनेके लिये है कि भगवत्शरणको समस्त धर्मोंकी कार्यकारिता प्राप्त है। इस प्रकार समस्त धर्मोंका कार्यकारित्व मेरा ही होनेके कारण जो एकमात्र मेरी ही शरण आ गया है उसे धर्मकी अपेक्षा नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है। इससे इस बातका निराकरण हो जाता है कि 'समस्त धर्मोंको त्यागकर' ऐसा कहनेपर अधर्मोंका त्याग प्राप्त नहीं होता, इसलिये यहाँ धर्मपद 'कर्ममात्रका निरूपण करता है।' यहाँ कर्मत्यागका विधान नहीं किया गया है, अपि तु कर्म रहते हुए भी ब्रह्मचारी गृहस्थ और वानप्रस्थके लिये समानरूपसे उसके अनादरपूर्वक एकमात्र भगवत्शरणतामात्रका विधान किया गया है। उन ब्रह्मचारी आदिका अपने धर्ममें आदर होना सम्भव है, अतः 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' यह उक्ति उसका निवारण करनेके लिये है। जिसका परिणाम अनर्थ है, उस अधर्ममें तो किसीका भी आदर नहीं होता, इसलिये उसके परित्यागको बतानेवाला वचन तो व्यर्थ ही होगा, क्योंकि वह तो अन्य शास्त्रोंसे भी प्राप्त है ही। अतः यही बात युक्तिसंगत है कि वर्णाश्रमधर्मकी अभ्युदयमें कारणता प्रसिद्ध है, अतः वह मोक्षका भी हेतु होगा—ऐसी शंकाका निराकरण-करनेके लिये ही यह वचन है। यहाँ समस्त धर्माधर्मके त्यागका ही विधान नहीं किया गया है, क्योंकि संन्यासशास्त्र और प्रतिषेधशास्त्रसे वह प्राप्त ही है। यह श्लोक भी संन्यासशास्त्र ही है—ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि यहाँ तो एक भगवान्‌की शरण लेनेका ही विधान करना अभीष्ट है। अतः 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' यह अनुवादमात्र ही है।

(१) समस्त शास्त्रोंका परम रहस्य तो ईश्वरकी शरण लेना ही है; अतः उसीमें भगवान्‌ने गीता-शास्त्रकी परिसमाप्ति की है, क्योंकि उसके बिना तो संन्यासका भी अपने फलमें पर्यवसान नहीं होता। तथा संन्यासके अनधिकारी क्षत्रिय अर्जुनको संन्यासका उपदेश करना भी उचित नहीं था। यदि ऐसा माना जाय कि अर्जुनके व्याजसे दूसरे लोगोंको उपदेश किया गया है तो 'तुम्हारे हितकी बात कहूँगा' 'तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, शोक न करो' ऐसे उपक्रम और उपसंहार नहीं होने चाहिये थे। अतः संन्यासधर्मोंमें भी अनादरपूर्वक एकमात्र भगवत्शरणतामात्रमें ही भगवान्‌का तात्पर्य है। क्योंकि तुम समस्त धर्मोंका अनादर करके एक मेरी ही शरणमें आ गये हो, अतः मैं

बन्धुवधादिनिमित्तेभ्यः संसारहेतुभ्यो मोक्षयिष्यामि प्रायश्चित्तं विनैव 'धर्मेण पापमपनुदति' इति श्रुतेर्धर्मस्थानीयत्वाच्च मम। अतो मा शुचो युद्धे प्रवृत्तस्य मम बन्धुवधादिनिमित्तप्रत्यवायाच्कथं निस्तारः स्यादिति शोकं मा कार्षीः।

(१) भाष्यकारैर्निरस्तानि दुर्मतानीह विस्तरात्। ग्रन्थव्याख्यानमात्रार्थी न तदर्थमहं यते॥
तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा। भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकतः॥
विशेषो वर्णितोऽस्माभिः सर्वो भक्तिरसायने। ग्रन्थविस्तरभीरुत्वाद्दिङ्मात्रमिह कथ्यते॥

(२) तत्राऽऽद्यं मृदु यथा—

'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥'

द्वितीयं मध्यं यथा—

'हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्। हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥'

तृतीयमधिमात्रं यथा—

'सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान्परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान्विहाय दूरात्॥'

इति दूतं प्रति यमवचनम्। अम्बरीषप्रह्लादगोपीप्रभृतयश्चास्यां भूमिकायामुदाहर्तव्याः।

(३) अस्मिन्हि गीताशास्त्रे निष्ठात्रयं साध्यसाधनभावापन्नं विवक्षितमुक्तं च बहुधा। तत्र कर्मनिष्ठा सर्वकर्मसंन्यासपर्यन्तोपसंहृता 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्यत्र।

समस्त धर्मोंके कार्योंको करनेवाला होनेके कारण प्रायश्चित्तके बिना ही तुम्हें बन्धुवधादि निमित्तोंसे होनेवाले, संसारके हेतुभूत समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा; क्योंकि 'धर्मसे पाप दूर करता है' ऐसी श्रुति है और धर्मस्थानीय मैं हूँ। इसलिये शोक न करो—युद्धमें प्रवृत्त हुए मेरा बन्धुओंके वधके कारण होनेवाले प्रत्यवायसे कैसे निस्तार होगा—ऐसा शोक मत करो।

(१) भगवान् भाष्यकारने यहाँ विस्तारपूर्वक समस्त दूषित मतोंका खण्डन किया है। मैं तो केवल ग्रन्थकी व्याख्या ही करना चाहता हूँ, इसलिये मैं इसके लिये प्रयत्न नहीं करता। साधनके अभ्यासका परिपाक होनेसे 'मैं उसीका हूँ' 'वह मेरा ही है' और 'मैं वही हूँ' इस तरह तीन प्रकारकी भगवत्शरणता होती है। इन सबका विशेष वर्णन हमने भक्तिरसायनमें किया है। यहाँ तो ग्रन्थविस्तारसे डरनेके कारण केवल दिग्दर्शन-मात्र कराया जाता है।

(२) इनमें पहली शरणागति मृदु है; जैसे—'हे नाथ! भेद न रहनेपर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं हैं, क्योंकि तरङ्ग ही समुद्रका होता है, समुद्र कभी तरङ्गका नहीं होता।' दूसरी शरणागति मध्यम है; जैसे—'कृष्ण! तुम बलात्कारसे हाथ छुड़ाकर चले गये—इसमें क्या अद्भुत काम किया? यदि तुम मेरे हृदयसे निकल जाओगे तब तो मैं तुम्हारा पुरुषार्थ समझूँगा।' तीसरी शरणागति अधिमात्र (सबसे बढ़कर) है—'यह सब और मैं वह एकमात्र परमपुरुष परमेश्वर भगवान् वासुदेव ही हैं—ऐसी जिनकी हृदय-स्थित श्रीअनन्तमें अविचल बुद्धि है उन्हें दूरसे ही छोड़कर चले जाना'—यह दूतके प्रति यमराजका वाक्य है। अम्बरीष, प्रह्लाद, गोपी आदि भी इसी भूमिकाके उदाहरण होने योग्य हैं।

(३) इस गीताशास्त्रमें साध्यसाधनभावको प्राप्त तीन निष्ठाओंका वर्णन करना अभीष्ट रहा है और अनेक प्रकारसे उन्हींका वर्णन किया गया है। उनमेंसे सर्वकर्म-संन्यासमें परिणत होनेवाली कर्मनिष्ठाका तो 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'

संन्यासपूर्वकश्रवणादिपरिपाकसहिता ज्ञाननिष्ठोपसंहृता 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इत्यत्र। भगवद्भक्तिनिष्ठा तूभयसाधनभूतोभयफलभूता च भवतीत्यन्त उपसंहृता सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेत्यत्र। भाष्यकृतस्तु सर्वधर्मान्परित्यज्येति सर्वकर्मसंन्यासानुवादेन मामेकं शरणं व्रजेति ज्ञाननिष्ठोपसंहृतेत्याहुः। भगवदभिप्रायवर्णने के वयं वराकाः।

(१) वचो यद्गीताख्यं परमपुरुषस्याऽऽगमगिरां-रहस्यं तव्याख्यामनतिनिपुणः को वितनुताम्।
अहं त्वेतद्व्याख्यं यदिह कृतवानस्मि कथम-प्यहेतुस्नेहानां तदपि कुतुकायैव महताम्॥ ६६॥

(२) समाप्तः शास्त्रार्थः। शास्त्रसंप्रदायविधिमधुना कथयति—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥

(३) इदं गीताख्यं सर्वशास्त्रार्थरहस्यं ते तव संसारविच्छित्तये मयोक्तं नातपस्कायासंयतेन्द्रियाय न वाच्यं कदाचन कस्यामप्यवस्थायामिति पर्यायत्रयेऽपि संबध्यते। तपस्विनेऽप्यभक्ताय गुरौ देवे च भक्तिरहिताय न वाच्यं कदाचन। तपस्विने भक्तायापि अशुश्रूषवे शुश्रूषां परिचर्यामकुर्वते च न वाच्यं कदाचन। चशब्दो वाच्यं कदाचनेतिपदद्वयाकर्षणार्थः। न च मां योऽभ्यसूयति मां भगवन्तं वासुदेवं मनुष्यमसर्वज्ञत्वादिगुणकं मत्वाऽभ्यसूयति आत्मप्रशंसादिदोषाध्यारोपणेनेश्वरत्वम-

---

यहाँ उपसंहार किया है। संन्यासपूर्वक श्रवणादिके परिपाकसहित ज्ञाननिष्ठाका 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इस स्थानमें उपसंहार हुआ है तथा भक्तिनिष्ठा इन दोनोंकी साधन और दोनों हीकी फलभूता है, इसलिये उसका अन्तमें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इस श्लोकसे उपसंहार हुआ है। भाष्यकारने तो कहा है कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इसके द्वारा सर्वकर्मसंन्यासका अनुवाद करके 'मामेकं शरणं व्रज' इससे ज्ञान निष्ठाका उपसंहार किया है। श्रीभगवान्के अभिप्रायका वर्णन करनेमें हम बेचारे क्या हैं?

(१) परम पुरुष श्रीभगवान्की गीता नामकी यह वाणी वेदवाणीकी रहस्यभूता है, इसकी व्याख्या कौन अत्यन्त निपुणताहीन पुरुष कर सकता है? मैंने जो इस विषयमें किसी प्रकार यह बचपन किया है वह भी अकारण ही स्नेह करनेवाले महापुरुषोंके कौतुकके लिये ही है॥ ६६॥

(२) शास्त्रका अर्थ समाप्त हुआ, अब शास्त्रके सम्प्रदायकी विधि कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—जो तपस्वी न हो, भक्त न हो, सेवापरायण न हो और मुझसे द्वेष रखता हो उस पुरुषसे तुम्हें यह शास्त्र कभी नहीं कहना चाहिये॥ ६७॥]

(३) तुम्हारे संसार-बन्धनका छेदन करनेके लिये मेरे द्वारा कहा हुआ यह गीता नामका सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थका रहस्य तुम्हें अतपस्क—असंयतेन्द्रिय पुरुषको नहीं सुनाना चाहिये। 'कदाचन'—किसी भी अवस्थामें इसका तीनों पर्यायोंसे सम्बन्ध है। तपस्वीको भी, जो अभक्त हो अर्थात् गुरु और इष्टदेवमें भक्ति न रखता हो, कभी नहीं सुनाना चाहिये। तपस्वी और भक्तको भी, यदि वह अशुश्रूषु—शुश्रूषा—सेवा करनेवाला न हो तो, उसे नहीं सुनाना चाहिये। यहाँ 'च' शब्द 'वाच्यम्' और 'कदाचन' इन पदोंको आकर्षित करनेके लिये है। और जो मेरे प्रति अभ्यसूया रखता हो उसे भी नहीं सुनाना चाहिये। अर्थात् मुझ भगवान् वासुदेवको असर्वज्ञत्वादि गुणोंवाला मनुष्य मानकर जो मेरे ईश्वरत्वको सहन न करनेके कारण मेरेमें आत्मप्रशंसादि दोषोंका आरोप करके मुझसे अभ्यसूया—द्वेष रखता हो श्रीकृष्णके उत्कर्षको सहन न कर सकनेवाले उस तपस्वी भक्त

सहमानो द्वेष्टि यस्तस्मै श्रीकृष्णोत्कर्षासहिष्णवे तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवेऽपि न वाच्यं कदाचनेत्यनुकर्षणार्थश्चकारः। तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवे श्रीकृष्णानुरक्ताय च वाच्यमित्यर्थः। एकैकविशेषणाभावेऽप्ययोग्यताप्रतिपादनार्थाश्चत्वारो नकाराः। मेधाविने तपस्विने वेत्यन्यत्र विकल्पदर्शनाच्छुश्रूषागुरुभक्तिभगवदनुरक्तियुक्ताय तपस्विने तद्युक्ताय मेधाविने वा वाच्यम्। मेधातपसोः पाक्षिकत्वेऽपि भगवदनुरक्तिगुरुभक्तिशुश्रूषाणां नियम एवेति भाष्यकृतः ॥ ६७ ॥

(१) एवं संप्रदायस्य विधिमुक्त्वा तस्य कर्तुः फलमाह—

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

(२) यः संप्रदायस्य प्रवर्तक इममावयोः संवादरूपं ग्रन्थं परमं निरतिशयपुरुषार्थसाधनं गुह्यं रहस्यार्थत्वात्सर्वत्र प्रकाशयितुमनर्हं मद्भक्तेषु मां भगवन्तं वासुदेवं प्रत्यनुरक्तेषु अभिधास्यति अभितो ग्रन्थतोऽर्थतश्च धास्यति स्थापयिष्यति। भक्तेः पुनर्ग्रहणात्पूर्वोक्तविशेषणत्रयरहितस्यापि भगवद्भक्तिमात्रेण पात्रता सूचिता भवति। (३) कथमभिधास्यति तत्राह—भक्तिं मयि परां कृत्वा भगवतः परमगुरोः शुश्रूषैवेयं मया क्रियत इत्येवं कृत्वा निश्चित्य योऽभिधास्यति स मामेवैष्यति मां भगवन्तं वासुदेवमेष्यत्येवाचिरान्मोक्षयत एव संसारादत्र संशयो न कर्तव्यः। अथवा मयि परां भक्तिं कृत्वाऽसंशयो निःसंशयः सन्मामेष्यत्येवेति वा मामेवैष्यति नान्यमिति यथाश्रुतमेव वा योज्यम् ॥६८॥

और सेवापरायणको भी इसे कभी नहीं सुनाना चाहिये। इस प्रकार 'च' शब्द 'न वाच्यं कदाचन' इस वाक्यकी अनुवृत्तिके लिये है। तात्पर्य यह है कि इसे तपस्वी, भक्त, सेवापरायण और श्रीकृष्णमें अनुराग रखनेवाले पुरुषसे ही कहना चाहिये। एक-एक विशेषण न होनेपर भी अयोग्यता बतानेके लिये चार 'न' शब्द दिये हैं, क्योंकि मेधावी या तपस्वीको—इस प्रकार अन्यत्र विकल्प देखा गया है। सेवापरायण तथा गुरुभक्ति और भगवद्नुरागयुक्त तपस्वीकी अथवा इन विशेषणोंसे युक्त मेधावीको यह शास्त्र सुनाना चाहिये। यहाँ मेधा और तपका विकल्प होनेपर भी भगवद्नुरक्ति, गुरुभक्ति और शुश्रूषाका तो नियम ही है—ऐसा भगवान्‌का मत है ॥ ६७ ॥

(१) इस प्रकार सम्प्रदायकी विधि बताकर उसे करनेवालेका फल बताते हैं—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष इस परम गुह्य शास्त्रको मेरे भक्तोंमें ग्रन्थतः और अर्थतः स्थापित करेगा वह मेरे प्रति श्रेष्ठ भक्ति करके निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा ॥ ६८ ॥]

(२) जो सम्प्रदायप्रवर्तक हमारे संवादरूप इस ग्रन्थको, जो परम—निरतिशय पुरुषार्थका साधन और रहस्य अर्थवाला होनेके कारण गुह्य है, सर्वत्र प्रकाशित करनेके लिये नित्यप्रति मेरे भक्तोंमें—भगवान् वासुदेव मेरे प्रति अनुराग रखनेवालोंमें 'अभिधास्यति'—'अभितः'—ग्रन्थतः और अर्थतः 'धास्यति'—स्थापित करेगा। यहाँ (उत्तरार्धके आरम्भमें) पुनः 'भक्ति' शब्द ग्रहण करनेसे जो पूर्वोक्त तीनों विशेषणोंसे रहित है उसकी भी भगवद्भक्तिमात्रसे पात्रता सूचित की गयी है।

(३) किस प्रकार स्थापित करेगा ? इसपर कहते हैं—मेरे प्रति परा भक्ति करके अर्थात् 'यह मेरे द्वारा परम गुरु श्रीभगवान्‌की सेवा ही की जा रही है' ऐसा निश्चय करके जो इसे स्थापित करेगा वह मुझे ही प्राप्त होगा—मैं जो भगवान् वासुदेव हूँ उसीके पास आ जायगा। वह शीघ्र ही संसारसे मुक्त हो जायगा—इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये। अथवा मुझमें परा भक्ति करके असंशय—निःसंशय होकर मुझे प्राप्त होगा; अथवा मुझे ही प्राप्त होगा, किसी अन्यको नहीं—इस प्रकार जैसा श्लोकमें है वैसा ही अन्वय करना चाहिये ॥

(१) किं च—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

(२) तस्मान्मद्भक्तेषु शास्त्रसंप्रदायकृतः सकाशादन्यो मनुष्येषु मध्ये कश्चिदपि में मम प्रियकृत्तमोऽतिशयेन प्रियकृन्मद्विषयप्रीत्यतिशयवान्नास्ति वर्तमाने काले। नापि प्रागासीत्तादृक्कश्चित्। न च कालान्तरे भविता भविष्यति। ममापि तस्मादन्यः प्रियतरः प्रीत्यतिशयविषयः कश्चिदप्यासीन्न। अधुना च भुवि लोकेऽस्मिन्नास्ति। न च कालान्तरे भवितेत्यावृत्त्या योज्यम् ॥ ६९ ॥

(३) अध्यापकस्य फलमुक्त्वाऽध्येतुः फलमाह—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

(४) आवयोः संवादमिमं ग्रन्थं धर्म्यं धर्मादनपेतं योऽध्येष्यते जपरूपेण पठिष्यति ज्ञानयज्ञेन ज्ञानात्मकेन यज्ञेन चतुर्थाध्यायोक्तेन द्रव्ययज्ञादिश्रेष्ठेनाहं सर्वेश्वरस्तेनाध्येत्रेष्टः पूजितः स्यामिति मे मतिर्मम निश्चयः। यद्यप्यसौ गीतार्थमबुध्यमान एव जपति तथाऽपि तच्छृण्वतो मम मामेवासौ प्रकाशयतीति बुद्धिर्भवति। अतो जपमात्रादपि ज्ञानयज्ञफलं मोक्षं लभते सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारा। अर्थानुसंधानपूर्वकं पठतस्तु साक्षादेव मोक्ष इति किं वक्तव्यमिति फलविधिरेवायं नार्थवादः। 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप' इति हि प्रागुक्तम् ॥ ७० ॥

(१) तथा—

[श्लोकार्थः—उससे बढ़कर मेरा प्रिय करनेवाला मनुष्योंमें न तो कोई है, [न हुआ है] और न होगा। संसारमें उससे बढ़कर प्रिय मुझे कोई नहीं है [तथा न तो हुआ है और न होगा ही] ॥ ६९ ॥]

(२) भक्तोंमें शास्त्रसम्प्रदायको स्थापित करनेवाले उस पुरुषसे प्रियकृत्तम—अधिक प्रिय करनेवाला अर्थात् मेरे प्रति अतिशय प्रीति रखनेवाला न तो वर्तमान कालमें कोई मनुष्योंमें है, न कोई पहले था और न कालान्तरमें होगा ही। तथा मुझे भी उससे प्रियतर—अधिक प्रीतिका विषय भूमिमें—इस लोकमें कोई नहीं था, न इस समय है और न कालान्तरमें ही होगा—इस प्रकार पदोंकी आवृत्ति करके लगा लेना चाहिये ॥६९॥

(३) शास्त्राध्ययन करानेवालेका फल कहकर अब अध्ययन करनेवालेका फल बताते हैं—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष हमारे इस धर्ममय संवादका अध्ययन करेगा उसके द्वारा मेरा ज्ञानयज्ञसे पूजन होगा—ऐसा मेरा विचार है ॥ ७० ॥]

(४) हमारे संवादरूप इस धर्म्य—धर्मयुक्त ग्रन्थका जो अध्ययन—जपरूपसे पाठ करेगा उस अध्ययन करनेवालेके द्वारा मैं सर्वेश्वर ज्ञानयज्ञसे—चौथे अध्यायमें कहे हुए द्रव्ययज्ञादिकी अपेक्षा श्रेष्ठ ज्ञानमय यज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसी मेरी मति अर्थात् निश्चय है। यद्यपि वह गीताके अर्थको न समझते हुए ही उसका पाठ करता है, तथापि उसे सुननेवाले मुझको तो ऐसी बुद्धि ही होती है कि यह मेरा ही प्रकाशन कर रहा है। अतः इसके जपमात्रसे ही वह ज्ञानयज्ञका फल मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ऐसी स्थितिमें जो अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञानोत्पत्तिके द्वारा अर्थका ध्यान रखते हुए पाठ करता है उसे साक्षात् ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है—इसमें तो कहना ही क्या है ? इस प्रकार यह

(१) प्रवक्तुरध्येतुश्च फलमुक्त्वा श्रोतुरिदानीं फलं कथयति—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

(२) यो नरः कश्चिदपि अन्यस्योच्चैर्जपतः कारुणिकस्य सकाशाच्छ्रद्धावान्श्रद्धायुक्तः । तथा किमर्थमयमुच्चैर्जपत्यबद्धं वा जपतीति दोषदृष्ट्याऽसूयया रहितोऽनसूयश्च केवलं शृणुयादिमं ग्रन्थम्, अपिशब्दात्किमुतार्थज्ञानवान्, सोऽपि केवलाक्षरमात्रश्रोताऽपि मुक्तः पापैः शुभान्प्रशस्ताँल्लोकान्पुण्यकर्मणामश्वमेधादिकृतां प्राप्नुयात् । ज्ञानवतस्तु किं वाच्यमिति भावः ॥ ७१ ॥

(३) शिष्यस्य ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं गुरुणा कारुणिकेन प्रयासः कार्य इति गुरोर्धर्मं शिक्षयितुं सर्वज्ञोऽपि पुनरुपदेशापेक्षा नास्तीति ज्ञापनाय पृच्छति—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

(४) कच्चिदिति प्रश्ने । एतन्मयोक्तं गीताशास्त्रमेकाग्रेण व्यासङ्गरहितेन चेतसा हे पार्थ त्वया किं श्रुतमर्थतोऽवधारितम् । कच्चित्किमज्ञानसंमोहोऽज्ञाननिमित्तः संमोहो विपर्ययोऽज्ञाननाशात्प्रनष्टः प्रकर्षेण पुनरुत्पत्तिविरोधित्वेन नष्टस्ते तव हे धनंजय । यदि स्यात्पुनरुपदेशं करिष्यामीत्यभिप्रायः ॥ ७२ ॥

फलविधि ही है, अर्थवाद नहीं है । 'द्रव्ययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है' यह बात पहले कही जा चुकी है ॥ ७० ॥

(१) वक्ता और अध्ययन करनेवालेका फल बताकर श्रोताका फल बताते हैं—

[श्लोकार्थ :—जो श्रद्धावान् और ईर्ष्याहीन पुरुष इस गीताशास्त्रको सुनता भी है वह भी पापोंसे मुक्त होकर पुण्य कर्म करनेवालोंके उच्च लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥]

(२) किसी अन्य कारुणिक पुरुषके जोर-जोरसे पाठ करनेपर जो श्रद्धावान्—श्रद्धायुक्त होकर और 'यह जोर-जोरसे क्यों पढ़ता है अथवा असम्बद्ध रूपसे क्यों पढ़ता है' इस प्रकारकी दोषदृष्टिरूपा असूयासे रहित होकर इस ग्रन्थको केवल सुनता ही है, 'अपि' शब्दका यह तात्पर्य है कि फिर अर्थ जाननेवालेकी तो बात ही क्या है—वह केवल अक्षरोंको सुननेवाला भी पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकर्मोंवाले—अश्वमेधादि करनेवालोंके—शुभ—प्रशस्त लोकोंको प्राप्त हो जाता है, फिर ज्ञानवान्के विषयमें तो कहना ही क्या है ?—ऐसा इसका भाव है ॥ ७१ ॥

(३) कारुणिक गुरुको शिष्यकी ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये—ऐसे गुरुके धर्मकी शिक्षा देनेके लिये और यह सूचित करनेके लिये कि अब पुनः उपदेश करनेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है, भगवान् पूछते हैं—

[श्लोकार्थ :—अर्जुन ! क्या मेरे कहे हुए इस गीताशास्त्रको तुमने एकाग्रचित्तसे सुना ? धनञ्जय ! क्या तुम्हारा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ? ॥ ७२ ॥]

(४) 'कच्चित्' यह पद प्रश्नके लिये है । हे पार्थ ! मेरा कहा हुआ यह गीताशास्त्र क्या तुमने एकाग्र अर्थात् अन्य विषयकी ओर न जानेवाले चित्तसे सुना और क्या तुमने अर्थतः भी इसे समझ लिया । हे धनञ्जय ! क्या अज्ञानके नाशसे तुम्हारा अज्ञानसम्मोह—अज्ञानके कारण उत्पन्न हुआ सम्मोह—विपर्यय प्रनष्ट—प्रकर्षसे अर्थात् पुनरुत्पत्तिके

(१) एवं पृष्टः कृतार्थत्वेन पुनरुपदेशानपेक्षतामात्मनः—

अर्जुन उवाच—
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

(२) नष्ट उच्छिन्नो मोहोऽज्ञानकृतो विपर्ययः । तन्नाशकमाह—स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मया । यस्मात्त्वदुपदेशादात्मज्ञानं लब्धं सर्वसंशयानाक्रान्ततया प्राप्तमतः सर्वप्रतिबन्धशून्येनाऽऽत्मज्ञानेन मोहो नष्ट इत्यर्थः । हेऽच्युताऽऽत्मत्वेन निश्चितत्वात् । वियोगायोग्यस्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष इति श्रुत्यर्थमनुभवन्नाह—स्थितोऽस्मि गतसंदेहो निवृत्तसर्वसंदेहः स्थितोऽस्मि युद्धकर्तव्यतारूपे स्वच्छासने । यावज्जीवं च करिष्ये वचनं तव भगवतः परमगुरोराज्ञां पालयिष्यामीति प्रयाससाफल्यकथनेन भगवन्तमर्जुनः परितोषयामास । अनेन गीताशास्त्राध्यायिनो भगवत्प्रसादादवश्यं मोक्षफलपर्यन्तं ज्ञानं भवतीति शास्त्रफलमुपसंहृतं तद्वास्य विज्ञाविदित्वत् ॥ ७३ ॥

(३) समाप्तः शास्त्रार्थः, कथासंबन्धमिदानीमनुसंदधानः—

संजय उवाच—
इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

विरोधपूर्वक नष्ट हो गया । यदि अभी मोह बाकी हो तो फिर उपदेश करूँ—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ ७२ ॥

(१) इस प्रकार पूछे जानेपर कृतार्थ हो जानेके कारण अपने लिये पुनः उपदेशकी अनावश्यकताको—

[श्लोकार्थ :—अर्जुनने कहा—अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और आत्मज्ञान प्राप्त हो गया । अब मैं निःसन्देह होकर [आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये] स्थित हूँ और [जबतक जीवित रहूँगा] आपके वचनोंका पालन करूँगा ॥७३॥]

(२) [अर्जुनने कहा—] मेरा मोह—अज्ञानकृत विपर्यय नष्ट—उच्छिन्न हो गया । उसका नाश करनेवाला बताते हैं—आपकी कृपासे मुझे स्मृति प्राप्त हो गयी । क्योंकि आपके उपदेशसे मुझे आत्मज्ञान उपलब्ध अर्थात सम्पूर्ण संशयोंसे अनाक्रान्ततया प्राप्त हो गया है अतः सब प्रकारके प्रतिबन्धकसे शून्य आत्मज्ञान द्वारा मेरा मोह नष्ट हो गया है—ऐसा इसका तात्पर्य है । भगवान्को आत्मस्वरूपसे निश्चय किया है, इसलिये उन्हें 'अच्युत !' ऐसा कहकर सम्बोधन करते हैं । 'वियोगके अयोग्य स्मृति (आत्मज्ञान) प्राप्त होनेपर समस्त ग्रन्थियोंका सर्वथा मोक्ष हो जाता है' इस श्रुतिके अर्थका अनुभव करते हुए अर्जुन कहते हैं—'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः'—मैं युद्धकर्त्तव्यतारूप आपके शासनमें सम्पूर्ण सन्देहोंसे मुक्त होकर स्थित हूँ तथा जीवनपर्यन्त आपके वचनका—परमगुरु श्रीभगवान्की आज्ञाका पालन करूँगा । इस प्रकार भगवान्के प्रयासकी सफलता कहकर अर्जुनने उन्हें पूर्णतया सन्तुष्ट किया । इस श्लोकसे 'तद्वास्य विजज्ञौ' इस श्रुतिके समान 'गीताशास्त्रका अध्ययन करनेवालेको भगवान्की कृपासे अवश्य ही मोक्षरूप फलमें परिणत होनेवाला ज्ञान होता है' इस शास्त्रके फलका उपसंहार किया गया है ॥ ७३ ॥

(३) शास्त्रका अर्थ समाप्त हुआ, अब कथाके सम्बन्धका अनुसन्धान करते हुए—

[श्लोकार्थ :—सञ्जयने कहा—इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा अर्जुनका यह अद्भुत और रोमाञ्चकारी संवाद सुना ॥ ७४ ॥]

(१) अद्भुतं चेतसो विस्मयाख्यविकारकरं लोकेष्वसंभाव्यमानत्वात् । रोमहर्षणं शरीरस्य रोमाञ्चाख्यविकारकरम् । तेनातिपरिपुष्टत्वं विस्मयस्य दर्शितम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ७४ ॥

(२) व्यवहितस्यापि भगवदर्जुनसंवादस्य श्रवणयोग्यतामात्मन आह—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

(३) व्यासदत्तदिव्यचक्षुःश्रोत्रादिलाभरूपाद्व्यासप्रसादादिमं परं गुह्यं योगं योगाव्यभिचारिहेतुं संवादं योगेश्वरात्कृष्णात्स्वयं स्वेन पारमेश्वरेण रूपेण कथयतः साक्षादेवाहं श्रुतवानस्मि न परम्परयेति स्वभाग्यमभिनन्दति । अत्रेममिति पुँल्लिङ्गपाठो भाष्यकारैर्व्याख्यातः । एतदिति नपुंसकलिङ्गपाठस्यैव योगशब्दसामानाधिकरण्येन व्याख्यानमिदमिति तव्याख्यातारः ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

(४) पुण्यं श्रवणेनापि सर्वपापहरं केशवार्जुनयोरिमं संवादमद्भुतं न केवलं श्रुतवानस्मि किंतु संस्मृत्य संस्मृत्य, संभ्रमे द्विरुक्तिः । मुहुर्मुहुर्वारं वारं हृष्यामि च हर्षं प्राप्नोमि च, प्रतिक्षणं रोमाञ्चितो भवामीति वा ॥ ७६ ॥

---

(१) अद्भुत—चित्तको विस्मयसंज्ञक विकार करनेवाला, क्योंकि लोकोंमें इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती तथा रोमहर्षण—शरीरमें रोमाञ्च नामका विकार करनेवाला। इससे विस्मयकी अत्यन्त परिपुष्टता दिखायी गयी है। शेष अर्थ स्पष्ट है ॥ ७४ ॥

(२) श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद व्यवधानयुक्त (अपनी दृष्टिसे ओझल) होनेपर भी उसे सुननेमें अपनी योग्यता बताते हैं—

[श्लोकार्थ :—अर्जुनको स्वयं अपने पारमेश्वररूपसे उपदेश करनेवाले योगेश्वर श्रीकृष्णसे मैंने यह अत्यन्त गुह्य योग भगवान् व्यासकी कृपासे सुना है ॥ ७५ ॥]

(३) व्यासजीके दिये हुए दिव्य नेत्र और श्रोत्रादिके लाभरूप प्रसादसे मैंने यह परम गुह्य योग—योगका अव्यभिचारी हेतुरूप संवाद स्वयं अपने पारमेश्वररूपसे कथन करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्णसे साक्षात्‌रूपसे सुना है, परम्परासे नहीं—इस प्रकार सञ्जय अपने भाग्यकी प्रशंसा करते हैं। यहाँ 'इमम्' इस पुँल्लिंगपाठकी व्याख्या भगवान् भाष्यकारने की है। उनके भाष्यकी व्याख्या करनेवालोंने कहा है कि 'एतत्' इस नपुंसकलिंग पाठका ही योगके सामानाधिकरण्यके कारण 'इमम्' यह व्याख्यान है ॥ ७५ ॥

[श्लोकार्थ :—राजन् ! श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस अति अद्‌भुत और पवित्र संवादको याद कर-करके मैं बार-बार हर्षित होता हूँ ॥ ७६ ॥]

(४) पुण्य—सुननेसे भी समस्त पापोंको हर लेनेवाले, इस श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादको मैंने केवल सुना ही नहीं है किन्तु याद कर-करके भी मैं बार बार हर्षित होता—हर्षको प्राप्त होता हूँ अथवा प्रतिक्षण रोमाञ्चित हो जाता हूँ—ऐसा अर्थ है। यहाँ 'संस्मृत्य-संस्मृत्य' यह द्विरुक्ति सम्भ्रम अर्थमें है ॥ ७६ ॥

(१) यद्विश्वरूपाख्यं सगुणं रूपमर्जुनाय ध्यानार्थं भगवान्दर्शयामास तदिदानीमनुसंदधान आह—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्‌भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

(२) तदिति विश्वरूपं हे राजन्मम महान्विस्मयोऽत एव हृष्यामि चाहम् । स्पष्टमन्यत् ॥

(३) एवं च सति स्वपुत्रे विजयादिसंभावनां परित्यजेत्याह—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

(४) यत्र यस्मिन्युधिष्ठिरपक्षे योगेश्वरः सर्वयोगसिद्धीनामीश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्भगवान्कृष्णो भक्तदुःखकर्षणस्तिष्ठति नारायणः, यत्र पार्थो धनुर्धरो यत्र गाण्डीवधन्वा तिष्ठत्यर्जुनो नरः, तत्र नरनारायणाधिष्ठिते तस्मिन्युधिष्ठिरपक्षे श्री राज्यलक्ष्मीर्विजयः शत्रुपराजयनिमित्त उत्कर्षो भूतिरुत्तरोत्तरं राज्यलक्ष्म्या विवृद्धिर्ध्रुवाऽवश्यंभाविनीति सर्वत्रान्वयः । नीतिर्नयः । एवं मम मतिर्निश्चयः । तस्मादवृथा पुत्रविजयाशां त्यक्त्वा भगवदनुगृहीतैर्लक्ष्मीविजयादिभाग्भिः पाण्डवैः सह संधिरेव विधीयतामित्यभिप्रायः ॥ ७८ ॥

---

(१) भगवान्‌ने ध्यानके लिये अर्जुनको जो अपना विश्वरूपसंज्ञक सगुण रूप दिखाया था उसका अनुसन्धान करते हुए अब कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—राजन् ! भगवान्‌के अत्यन्त अद्‌भुत स्वरूपको याद कर-करके मुझे बड़ा विस्मय होता है और मैं बार-बार हर्षित हो जाता हूँ ॥ ७७ ॥]

(२) 'तत्' अर्थात् विश्वरूपको। हे राजन् ! मुझे बड़ा विस्मय होता है। इसीसे मैं हर्षित भी होता हूँ। शेष अर्थ स्पष्ट है ॥ ७७ ॥

(३) ऐसी बात है, इसलिये आप अपने पुत्रके लिये विजयादिकी सम्भावना त्याग दीजिये—ऐसा कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हैं वहाँ अवश्य श्री, विजय, वृद्धि और नीति प्राप्त होती है—यह मेरा निश्चय है ॥ ७८ ॥]

(४) यत्र—जिस युधिष्ठिरके पक्षमें योगेश्वर—समस्त योगसिद्धियोंके ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् कृष्ण—भक्तोंके दुःखोंको खींचनेवाले श्री नारायण हैं और जहाँ धनुर्धर पार्थ—गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन अर्थात् नर हैं वहाँ—उस नर-नारायणद्वारा अधिष्ठित युधिष्ठिरके पक्षमें श्री—राजलक्ष्मी, विजय—शत्रुके पराजयसे होनेवाला उत्कर्ष, भूति—उत्तरोत्तर राजलक्ष्मीकी वृद्धि और नीति—न्याय ये ध्रुव—अवश्यम्भावी हैं। ध्रुव विशेषणका सर्वत्र अन्वय है। ऐसी मेरी मति—निश्चय है। अतः पुत्रके विजयकी वृथा आशा त्यागकर भगवान्‌से अनुगृहीत एवं लक्ष्मी आदिके भागी पाण्डवोंसे सन्धि ही कर लीजिये—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ ७८ ॥

(१) वंशीविभूषितकराञ्जवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥ १ ॥
(२) काण्डत्रयात्मकं शास्त्रं गीताख्यं येन निर्मितम् ।
आदिमध्यान्तषट्केषु तस्मै भगवते नमः ॥ २ ॥
(३) श्रीगोविन्दमुखारविन्दमधुना मिष्टं महाभारते
गीताख्यं परमं रहस्यमृषिणा व्यासेन विख्यापितम् ॥
व्याख्यातं भगवत्पदैः प्रतिपदं श्रीशंकराख्यैः पुन-
र्विस्पष्टं मधुसूदनेन मुनिना स्वज्ञानशुद्ध्यै कृतम् ॥ ३ ॥
(४) इह योऽस्ति विमोहयन्मनः परमानन्दघनः सनातनः ।
गुणदोषभृदेष एव नस्तृणतुल्यो यदयं स्वयं जनः ॥ ४ ॥
(५) श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां प्रसादमासाद्य मया गुरूणाम् ।
व्याख्यानमेतद्धितं सुबोधं समर्पितं तच्चरणाम्बुजेषु ॥ ५ ॥
इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां संन्यासयोगप्रतिपादनं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥
(समाप्तेयं श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचिता श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका टीका ।)

(१) जिनके हाथ वंशीसे विभूषित हैं और शरीरकी कान्ति नवीन मेघकी-सी है, जो पीला वस्त्र धारण किये हुए हैं, जिनके ओठ अरुण बिम्बाफलके समान हैं, मुख पूर्ण चन्द्रके समान सुन्दर है और नेत्र कमलके समान हैं उन श्रीकृष्णसे श्रेष्ठ मैं और कोई तत्त्व नहीं जानता ।

(२) आरम्भके, मध्यके और अन्तके छः-छः अध्यायोंमें जिन्होंने गीता नामका तीन काण्डोंवाला शास्त्र रचा है उन श्रीभगवान्‌को नमस्कार है ।

(३) महर्षि व्यासने भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दमधुसे मधुर गीता नामका परम रहस्य महाभारतमें प्रसिद्ध किया है । उसकी भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यजीने प्रत्येक पदकी व्याख्या की है । फिर उसीको मधुसूदन मुनिने अपने ज्ञानकी शुद्धिके लिये अनेक प्रकारसे स्पष्ट किया है ।

(४) जो सनातन परमानन्दघन प्रभु मनको तरह-तरहसे मुग्ध करनेवाले हैं वे ही हमारे गुण या दोषोंके भी निर्वाहक हैं, क्योंकि स्वयं यह जीव तो तृणके समान तुच्छ है ।

(५) अपने गुरुदेव श्रीरामानन्द[1], विश्वेश्वर[2] और माधव सरस्वती[3]की कृपा प्राप्त करके मैंने यह सुबोध व्याख्या की है और इसे उन्हींके चरणकमलोंमें समर्पित किया है ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्य श्रीमधुसूदन सरस्वती-विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकाके हिन्दी अनुवादका अठारहवाँ अध्याय ॥ १८ ॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

१. श्रीरामानन्द सरस्वती—टीकाकारके परमगुरु ।
२. श्रीविश्वेश्वर सरस्वती — ,, दीक्षागुरु ।
३. श्रीमाधव सरस्वती — ,, विद्यागुरु ।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	विभाग	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३	अनुवाद	१५	शत्रुओंके	शत्रुओंको
५८	,,	२	अशोच्यशोक	अशोच्य-शोक
६१	,,	अन्तिम	यहि	यदि
६३	संकृत	१	–दृष्ठ–	–दृष्ट–
,,	अनुवाद	१	भारती आदि	भामती आदि अन्य
,,	टिप्पणी	३	वाकः	वाचः
७१	अनुवाद	४	दुःखी	'दुःखी
,,	,,	५	'घटके	घटके
७९	टिप्पणी	९	तादात्म्यभासे	तादात्म्यसे
८१	अनुवाद	९	स्फुरणरूत	स्फुरणरूप
८४	टिप्पणी	९	रुरुष	पुरुष
८६	अनुवाद	९	'नाम'	'नाम,
९१	,,	२	निकराकरण	निराकरण
,,	संस्कृत	८	घटतज्ज्ञानयो–	घटयो–
९२	अनुवाद	३	चाहिये,	चाहिये, क्योंकि व्यवहार तो व्यवहारयोग्य वस्तुके ज्ञानद्वारा ही होना सम्भव है ।
,,	,,	४	मूर्खवादीने	मूर्ख वादीने
९३	,,	९	चैतन्य	चैतन्य और
,,	,,	१७	प्रभातृता	प्रमातृता
९५	,,	१३	विषय	नियम
९६	,,	५	हन्ता इनन	हन्ता = इनन
९८	संस्कृत	१	पठात्	पाठात्
९९	अनुवादक	७	जन्य	जन्म
१०१	,,	७	जानते'	जानते'।
१०३	संस्कृत	६	तदन्तर्बति-	तदन्तर्वर्ति-
१०६	अनुवादक	४	घटादि	जलादि
१११	टिप्पणी	१	इसलिवे	इसलिये
११२	संस्कृत	३	युद्धेऽनाहन्य-	युद्धेनाहन्य-
,,	,,	७	-सिंहावन्न	-हिंसावन्न
११६	,,	७	स्यात्मान-	स्वात्मान-
,,	,,	१३	-पदे ट्टत्वा-	-पदेष्टृत्वा-
,,	अनुवाद	१९	आत्पर्य	तात्पर्य
११७	,,	१	पहचान	पहचान भी
,,	,,	६	'एवम्'	'एनम्'
,,	,,	११	करता	करना
१२२	संस्कृत	२	धर्मशास्त्र-	धर्मशास्त्रा-
,,	अनुवाद	५	धर्म्य पीठ	धर्म्य = पीठ

पृष्ठ	विभाग	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२२	अनुवाद	१२	अपने	अपने से
१२७	”	८	दुःखरूप	दुःखरूप
१२८	”	४	बनाये	बताये
१३०	”	१३	‘मैं	‘मैं
”	”	१८	स्थिति	स्थितिमें
१३१	संस्कृत	१०	निमिते	निर्मिते
१३२	अनुवाद	१	शात	शान
१३६	”	१	विदित	विहित
”	”	३	अल्पतत्त्व	आत्मतत्त्व
”	”	१८	अशं	अंश
१४३	”	१९	संग-फलकी	संग = फलकी
१४४	”	१६	कहते हैं—	कहते हैं—नहीं,
१४६	”	८	हैं,	हैं, अतः
”	”	११	है ‘भगवान्	है’ भगवान्
”	”	१९	विनिर्मुक्त-	विनिर्मुक्त—
१४८	”	६	-विशेष	-विक्षेप
१४९	”	२	जाना	व्यवहार किया
१५०	”	११	समाधिरूप	समाधिस्थ
१५९	”	१६	अधीनकी	अधीन की
१६०	”	५	काम करने	क्रम होने
१६४	”	३	व्याख्याकी	व्याख्या की
१७०	”	२४	लोगोंके	लोगोंकी
१७१	”	१८	होता है,	होता है,
१७२	संस्कृत	४	दशभि दर्शयति	दशभिर्दर्शयति
”	”	”	क्षुद्ध-	शुद्ध-
”	अनुवाद	१५	आपत्ति	उपपत्ति
”	”	२१	नैष्कर्म्य-	नैष्कर्म्य—
१७३	”	१७	अथवा	अवश
”	”	१८	ज्ञान	जात
१७४	संस्कृत	१३	मस्माद्	यस्माद्
१७६	अनुवाद	९	यथार्थ	यशार्थ
१७७	संस्कृत	९	निमिते	निर्मिते
१७४	अनुवाद	१२	योग	भोग
१७९	”	७	हत्याओंसे	हत्याओंसे
१८०	”	१६	करनेवाले ।	करनेवाले—
१८१	संस्कृत	३	-परुष-	-पुरुष-
”	”	४	-पाठव-	-पटव-
१८२	अनुवाद	९	पुजा	प्रजा
१८३	”	१८	करनेसे	न करनेसे
”	”	२०	कि कृत	कृत
१९४	”	१०	गुणकर्म	गुण, कर्म
१९५	संस्कृत	४	दृडतरा-	दृढतरा-
”	अनुवाद	७	‘ऐसी दृढता	’ऐसी दृढतर

पृष्ठ	विभाग	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९७	अनुवाद	१८	सकक्षो	समझो
१९९	संस्कृत	११	विबन्धनं	निबन्धनं
”	”	”	-विहितादवि	-विहितादपि
२००	अनुवाद	२	रागद्वेषकी,	राग-द्वेषके
”	”	”	पुरुषको	पुरुषको
२१४	संस्कृत	१	-मविरुद्धार्थ-	-मतिविरुद्धार्थ-
२१५	अनुवाद	५	किन्तु	किन्तु तुम
२१८	”	५	मुक्त	युक्त
२२२	संस्कृत	४	तत्पदार्थत्वं-	तत्पदार्थ त्वं-
”	”	१३	तांस्तथव	तास्तथैव
२२५	अनुवाद	२, ३	विषय	विषम
”	संस्कृत	१३	पूवः	पूर्वैः
२२७	अनुवाद	२०	कर्म निवृत्ति	कर्मनिवृत्ति
२३१	संस्कृत	५	-पूर्वार्धयो-	-पूर्वाधयो-
”	अनुवाद	६	”	”
२३९	”	१०	सम्प्रशान और असम्प्रशान	सम्प्रशात और असम्प्रशात
२४०	संस्कृत	३	सस्यां	अस्यां
२४४	अनुवाद	५	पूर्त्त-दत्त-	पूर्त्त-दत्त-
”	”	८	श्रौत कर्म	इष्टसंशक श्रौतकर्म
२५५	संस्कृत	५	उत्तरपूर्वार्धयो-	उत्तरपूर्वाधयो-
”	अनुवाद	४	-विनाश्यै-	-विनाशौ
”	”	९	वियोक्ष्येऽथ	विमोक्ष्येऽथ
२७१	”	६	प्रकार	प्रकार ।
२८६	संस्कृत	११	तथा	तथा च
”	अनुवाद	१८	जिस	इसी
२९३	”	८	अन्तः-बाह्य	अन्तः-बाह्य
”	”	९	है उसे	है । उसे
२९८	”	१४	निक्षेप	विक्षेप
३०१	”	१२	शुद्धिस्य	शुद्धिरूप
३१८	”	१५	‘द्रुह्व-	‘द्रष्टृ-
३३६	”	अन्तिम	हैं	हैं—
३४०	संस्कृत	३	कथंनुनामेषा,	कथंनुनामेषां
३४१	अनुवाद	१८	अथवा	अथवा जो
३४७	संस्कृत	१	अवृत्तस्तस्य	प्रवृत्तस्तस्य
”	”	९	व्योमन्’, ‘सोऽश्नुते	व्योमन् सोऽश्नुते
”	अनुवाद	१४	विज्ञानवान्’	विज्ञानवान्,
”	”	१८	सकझनी	समझनी
३४८	”	१०	शुद्ध	शुद्धा
”	”	१३	करूँग’	करूँगा’
३५१	”	२३	मुक्ति	युक्ति
३५२	”	१	दृश्यकी	‘दृश्यकी
”	”	१३	विषय	विषम
३५३	”	७	हैं अतः	हैं । अतः

पृष्ठ	विभाग	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५४	अनुवाद	५	जता	जाता
३५५	,,	२०	गोलकमें	गोलकको
३५६	संस्कृत	७	स्वप्रकाशत्वेन	त्वप्रकाशत्वेन
,,	अनुवाद	२२	नष्ठ	नष्ट
३५७	,,	६	अमनस्तता	अमनस्ता
३५८	,,	१५	करनेपर	करनेपर,
३६०	,,	७	वश्यात्मनातु	वश्यात्मना तु
,,	,,	१४	योग	भोग
३६२	संस्कृत	४	शानादज्ञान-	शानादज्ञान-
,,	अनुवाद	८	योग	भोग
३६६	संस्कृत	२	यदि	यदिदं
,,	अनुवाद	१२	सबले	सबसे
,,	,,	२२	अचिरादि	अर्चिरादि
,,	संस्कृत	१३	-मिवातस्कतूनां	-मिवातत्कतूनां
३७९	अनुवाद	२२	पदार्थ	परार्थ
३८०	संस्कृत	३	स्वतो विशीर्य	स्वतोऽविसीर्य
३८४	अनुवाद	४	एकमात्र	एकमात्र बीज
३८५	,,	११	'मै'	'मैं
,,	,,	१२	हूँ।	हूँ'
३८७	,,	७	आचरण	आवरण
३८९	,,	७	है।	है,
३९९	संस्कृत	३	(३)	(१)
४०१	,,	६	किंतिहर्श-	किंचिद्दर्श-
४०२	अनुवाद	१	जब	अब
४०५	,,	१	हैं	है
४०८	,,	८	'इससे	इससे
,,	,,	१०	ओत-प्रोत है,···' इस प्रकार	ओत-प्रोत है' इस प्रकार
४०९	,,	१	रूढियौगिक	रूढि यौगिक
४१०	टिप्पणी	३	मेगरको	मैमार (राज) को
४११	संस्कृत	७	-दवतम्	-दैवतम्
,,	,,	१४	-गृह्नातीति	-गृह्नातीति
४२२	,,	३	अजुन	अर्जुन
,,	,,	४	नहीं होती ?	होती है ?
,,	,,	५	हैं—मुझ	हैं—नहीं, मुझ
,,	,,	१५	उत्पत्ति	उपपत्ति
,,	संस्कृत	१०	इमं	"इमं
४२५	,,	१०	-ष्वपिनोत्पद्यते	-ष्वपि नोत्पद्यते
४२६	,,	१	इत्याद्याः।	इत्याद्याः
,,	अनुवाद	३	मेरा विष्णुका	मेरा-विष्णुका
,,	,,	७	बतलाया कहा	बतलाया
,,	,,	अन्तिम	है' वह	है' 'वह
४२९	टिप्पणी	१	अचिरादि	अर्चिरादि
,,	अनुवाद	१९	ब्रह्मवित्	ब्रह्मवित्

पृष्ठ	विभाग	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३०	अनुवाद	६	रात्रिः'	'रात्रिः'
,,	,,	११	देवताओंको	देवताओंको।
,,	,,	१५	आते हैं।	आते हैं।'
४३२	,,	३	बाँधकर	बाँधना
४३४	,,	५	क्योंकि यह·····है।	क्योंकि वह·····नहीं है।
४३६	,,	१७	दूसरोंकी	दूसरोंके
४४२	,,	१५	है	है।
४४५	,,	७	'उससे'—	'उससे—
४४७	,,	४, ८	ऋतु	क्रतु
४४९	,,	२	हरनेवाला	हरनेवाला,
,,	,,	२०	मृत्यु मर्त्य	मृत्यु-मर्त्य
४५०	,,	६	हैं किन्तु	हैं। किन्तु
,,	संस्कृत	६	मनधिरूणाः	मनधिरूढाः
४५३	अनुवाद	१२	यर्थात्-	यथार्थ-
४६३	,,	४	ऋतु-	क्रतु-
४६४	,,	१	प्रभाव—	प्रभव—
४६७	,,	१	इसे	इस
४७१	,,	५	ऐसा केशव	ऐसा निरतिशय ऐश्वर्य-सूचित करनेवाले केशव
४७४	,,	१७	भूतोंको	भूतोंका
४७६	,,	१०	सरसों	सरों
४७७	संस्कृत	७	उच्चैःसमश्रवश्चानां	उच्चैःश्रवसमश्चानां
४७८	,,	८	प्रह्लाद-	प्रह्लाद-
४८२	अनुवाद	१९	इसे	इस
,,	,,	२१	तथ	तथा
४८४	,,	५	हूँ—गुह्यों	हूँ। गुह्यों
४८७	,,	१०	न सम्बन्ध	सम्बन्ध
४८८	संस्कृत	६	-विकारेत्वं	-विकारित्वं
४९१	,,	५	सौवादिकस्यापि	मौवादिकस्यापि
४९४	अनुवाद	१७	वैसा चित्तका वैसा	चित्तका वैसा
४९५	संस्कृत	७	दिव्यान्प्राकृतान्	दिव्यानप्राकृतान्
४९७	अनुवाद	९	हैं—चन्द्रमा	हैं, चन्द्रमा
,,	,,	२०	करनेवाले	करनेवाले !
५०५	,,	५	जायगा उस	जायगा तप कर रहे हैं, उस
५०६	संस्कृत	७	एतच्छ्रुत्वा	एतच्छ्रुत्वा
५०९	,,	३	स्फूरण-	स्फुरण-
५२१	अनुवाद	१७	है। जाति	है, निर्विशेषमें प्रवृत्ति होनी सम्भव नहीं है। जाति
५२२	,,	१, २	जहाँ से···आती है	'जहाँ से···आती है'
५२४	,,	८	होनेपर क्लेशकी	होनेपर तो क्लेशकी
,,	,,	९	हो—इतनी ही बात नहीं है, अपितु	हो सकती है, परन्तु ऐसी बात तो है नहीं;
५२६	,,	४	इयत्ताप्रबन्धसे	इतने ग्रन्थसे

पृष्ठ	विभाग	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२६	अनुवाद	९	'एवं'	'एव'
५२९	,,	७	हैं, ब्रह्मका	हैं, सविशेष ब्रह्मका
,,	,,	१९	शानिको	शानीको
५३०	,,	१	उनकी प्रति-प्रीति	उनके प्रति प्रीति
,,	,,	२०	ऐसा शान है ऐसा	ऐसा शान है जिसको ऐसा
५३१	,,	१७	दो 'च' शब्दोंसे	[द्वितीय] 'च' शब्दसे
५३३	,,	३	रोगहीन	संगहीन
५३५	,,	७	श्रीपत्परमहंस-	श्रीमत्परमहंस-
५३६	,,	११	करता है	करना है
५३७	,,	१५	लिये	लिये
,,	,,	१९	शेत्रश	क्षेत्रश
५४६	,,	१२	कारण	करण
,,	,,	१९	छोड़कर	छोड़कर
५४८	संस्कृत	१२	-शङ्कायां	-शङ्कायां
५५०	अनुवाद	११	है जो	है । जो
,,	,,	१३	अर्थात् सुख,	अर्थात् शब्दादि द्वारा सुख,
५५१	,,	३	'यही है'	'यह ऐसा है'
,,	,,	१२	भी	भी
५५२	संस्कृत	११	तद्ब्रह्म	तद्ब्रह्म
,,	,,	१४	(४) 'आदित्यवर्ण	'आदित्यवर्ण
,,	,,	१५	यस्मात्तत्स्वयंज्योति-	(४) यस्मात्तत्स्वयंज्योति-
५५४	अनुवाद	१४	अपरासे	अपरा
,,	,,	१६	कहकर भूतोंको	कहकर उनकी अनादिता बतलाकर भूतों को
५५६	,,	८	भोगना-	भोगता-
५५७	,,	१९	है अनुमन्ता है	है । अनुमन्ता है
५७०	संस्कृत	९	प्रशंशया	प्रशंसया
५७१	,,	५	क्षेत्रेण	क्षेत्रेण
,,	अनुवाद	११	आदिको	आदि
५७३	संस्कृत	९	जान	जात
५८१	,,	१	-देहात्पत्ति-	-देहोत्पत्ति-
,,	,,	अन्तिम	पृच्छतीत्यवधाय	पृच्छतीत्यवधार्य
५८६	अनुवाद	२१	ओ	जो
५८८	संस्कृत	१०	विस्मयाविष्टमप्रतिभया लज्जया	विस्मयाविष्टमप्रतिभया छज्जया
५८९	अनुवाद	१४–१६	अवाक्	अर्वाक्
५९३	,,	४	एवणाओंका त्यागरूप वैराग्य है;	एषणाओंका त्यागरूप जो वैराग्य है,
,,	,,	२०	प्रसूत	प्रसृत
५९५	,,	८	वह	यह
,,	संस्कृत	७	स्वपुरुषार्थ-	स्वपुरुषार्थ-
५९७	अनुवाद	१	जीवनका	जीवका
,,	,,	५	कायवर्गके	कार्यवर्गके

पृष्ठ	विभाग	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५९८	संस्कृत	२	निवर्तत्र	निवर्तत
५९९	अनुवाद	३	प्रदशित	प्रदर्शित
६०१	संस्कृत	१५	दृह्या	दृढा
६०२	अनुवाद	११	हैं पूआ	हैं वे पूआ
६०४	,,	७	कौन—से	कौन-से
,,	,,	१८	कर्मोपाधि	कार्योपाधि
६०६	,,	अन्तिम	जह्या	कह्या
६११	संस्कृत	७	स्वस्वत्वास्पदानामन्नादीनां	स्वस्वत्वपरित्यागपूर्वकं पर-स्वत्वस्यापादनमन्नादीनां
,,	,,	१०	पृथगुक्तेः	पृथगुक्तेः
६२३	अनुवाद	१९	वर्शोसे	यशोंसे
६२४	,,	२१	कहते	करते
६२५	संस्कृत	४	प्रद्विषन्तां	प्रद्विषन्तो
६२९	,,	६	निरपयातः	निरयपातः
६३०	अनुवाद	५	यश	परा
,,	संस्कृत	अन्तिम	-सर्वाश्रेयः-	-सर्वश्रेयः-
६३२	अनुवाद	२	रहते	रहते
,,	संस्कृत	११	त निर्णीता	न निर्णीता
६५७	,,	३	संप्रकर्तितीः	संप्रकीर्तितः
६५८	,,	८	-शुद्धवैवोवहित-	-शुद्धवैवोपहित-
६६५	अनुवाद	१९	कारण विरोध	कारण त्रिविधता
६७२	संस्कृत	८	-शाननगुण-	-शानानुगुण-
६७५	अनुवाद	९१	पब्रीकृत	अपञ्चीकृत
६८७	,,	२०	प्रवर्तकरूप	प्रवर्तकता
६८८	,,	१३	तो और	और
,,	,,	१६	प्रेरणसा	प्रेरणा
७०७	,,	१९	समाप्त	समास
७१३	,,	६	इन्द्रिय-संघात	इन्द्रियसंघात
७१७	,,	१२	उपासना विशेषसे	उपायविशेषसे
,,	,,	१४	ताप्तर्य	तात्पर्य
७१८	,,	५	सर्वत्र	सर्वश
७२८	संस्कृत	२	संन्यस्य तु	संन्यस्यतु